श्रुतज्ञानप्रकाशनमाला-पुष्पं द्वितीयम्

णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ।

कलिकालसर्वज्ञ-आचार्यमुकुटमणि-श्रीमद् हेमचन्द्रसूरिभ्यो नमः ।

सुविशुद्धमार्गप्ररूपक-सुगृहीतनामधेय-आचार्यशिरोरत्न-श्रीमद्विजयरामचन्द्रसूरिभ्यो नमः ।

कलिकालसर्वज्ञ–आचार्यशिरोमणि-
श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरविरचितम्

श्री परिशिष्ट पर्व

(पाठान्तर–टिप्पणीभ्यामलंकृतम्)

संशोधकः संपादकश्च सुबोधचन्द्र नानालाल शाह इत्याख्यः

प्रकाशकम्—
श्रीमती गंगाबाई जैन चेरिटेबल ट्रस्ट, विलेपारले, मुंबई–५६

प्रकाशक :-

प्राणलाल सुंदरजी कापडिया

व्यवस्थापक, श्रीमती गंगाबाई जैन चेरिटेबल ट्रस्ट
सुंदरवन, विलेपारले (पश्चिम)
मुंबई-५६ (A. S.)



आवृत्ति-प्रथम



मूल्यम्-२५ रूप्यकाः



वीर संवत् २५०६
विक्रम संवत् २०३६
इस्वी सन् १९८०



मुद्रक :-

संगीता प्रिन्टिंग प्रेस

५, कपूर काटेज, छठ्ठा रस्ता,
शान्ताक्रुझ (पूर्व), ४०००५५

समर्पण

जेमनी पावन वाणीए मारा जेवा कंईकनो उद्धार कर्यो,

जेमनी करुणाने कोई मर्यादाज नथी,

जमना रक्तना कणकणमां सर्वजीवोने शाश्वतसुख पमाडवा माटे सम्यग्दर्शननुं दान करवानीज तालावेली छे, अने

जेमनी धननो मोह छोडवानी देशना द्वाराज अमारुं आ ट्रस्ट साकार बन्युं,

ते, वर्तमानकालमां पूर्वना महापुरुषोनी झांखी करावता, परमप्रतापी, सुविशुद्ध-देशनादाता, जिनमार्गनी स्थापनाना ज रसिक, अगणितगुणभंडार, परमोपकारी, म्हारा धर्मदाता, गच्छाधिपति, श्री श्री श्री

आचार्यभगवंत श्रीमद् विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजाना करकमलोमां आ परिशिष्ट पर्व समर्पण करी मारी जातने धन्य मानुं छुं अने तेमनी पासे संयम मार्गनी प्राप्तिनी याचना करुं छुं.

—प्राणलाल सुंदरजी कापडिया

प्रकाशकीय निवेदन

आ अनादि अनंत संसारमां आमथी तेम अथडाता जीवो प्रत्येनी परम करुणाथी आपणा पूर्वाचार्योए अनेक महान पुरुषोनां जीवन आलेख्यां छे. श्रोतावर्गने ते सांभळतां रस जागे ते माटे वस्तुस्थितिथी जरा पण चलित थया विना, तेने वर्णनोथी भरपूर पण बनाव्यां छे ते पैकीनुं आ श्री परिशिष्ट पर्व छे.

आ ग्रन्थना रचयिता कलिकालसर्वज्ञ, साराय भारतवर्षमां अमारिपटह वगाडवानो उपदेश आपनार अने जेमनी उपदेशधाराना योगे आज सुधी भारतवर्षमां अहिंसानुं वृक्ष उगी नीकळ्युं हतुं ते आचार्यभगवंत श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा माटे कंइ पण लखवुं ते सूरजने बतावया माटे दीवो हाथमां लेवा जेवी मूर्खता ज गणाय. एमणे जन्म लईने जैन शासनने तो अजवाळ्युं पण हजारो वर्ष लगी भव्यजीवोनां जीवनने पण राह बताव्यो अने जेमनी अगाध विद्वत्ता माटे तो मूर्धन्य कक्षाना पण्डितोने पण कहेवुं पड्युं के-"वैदुष्यं विगताश्रयं श्रितवति श्रीहेमचन्द्रे दिवम्" = श्री हेमचन्द्रसूरि देवलोकमां चाल्या जतां विद्वतानो एक आधार तूटी पड्यो.

तेमनुं रचेलुं परिशिष्ट पर्व अप्राप्य बनी गयुं हतुं. विक्रम संवत् १९६८ मां जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगरे छपावेल ते ग्रन्थनी प्रति अतिजीर्णप्राय थई जवा साथे प्राप्य पण न हती. तदुपरांत, तेमां पाठांतरो आदिनी नोंधपूर्वक सुविशुद्ध पाठ आपवानी कोइ योजना न होवाथी अनेक स्थलो शंकित बनवा पाम्यां हता, तेथी अमारा ट्रस्टे आ ग्रन्थने पाठांतरोथी

शुध्ध करीने छपावधानो निर्णय कर्यो अने तदनुसार, जे जे प्राप्त थई ते ते अतिप्राचीन प्रतिओना आधारे पाठांतरो नोंधी आ ग्रन्थ मुद्रित कराव्यो

अमारा ट्रस्टनुं एक दृष्टिबिन्दु रहयुं छे के—"प्राचीन पूर्वाचार्योना रचेला ग्रन्थोने पुनर्मुद्रित करावी तेने कालना गर्भमां विलीन थता रोकवा कोशिष करवी" तदनुसार त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र–दशम पर्वना मुद्रण पछी अमे आ परिशिष्ट पर्वने आंख सामे राख्युं हतुं अने आजे आने योग्य वाचकोना करकमलमां मूकी अमे धन्यता अनुभवी रह्या छीए.

प्रस्तुत ग्रन्थमां अन्तिमकेवली श्रीजम्बूस्वामिथी आरंभी स्थविरावलीनुं आलेखन करतां, ग्रन्थकार पोते जे शाखामां दीक्षित थया ते श्री वज्री शाखाना मुल पुरुष अन्तिमदशपूर्वी भगवान श्री वज्रस्वामिना जीवनचरित्र पर्यन्तनुं आलेखन तेमणे सरल, सुबोध अने मधुर भाषामां पण मार्मिक रीते कर्युं छे.

तेमनी वाणीमां, जिनशासन प्रत्येनी द्रढता, मुनिजनो संसारनी कोई वातमां पडेज नहि, साधर्मिक बीजा साधर्मिकनी सेवा केवी रीते करे ? आचार्य भगवंतोने भगवान महावीरनी परंपरा सुविशुद्धरीते चलाववा केवी खेवना होय ? वगेरे अनेक वातो टंकारबद्ध रजू थयेली जोवा मले छे. भगवान महावीरे दर्शावेल मार्गथी तिलमात्रपण चलित न थतां तेमणे जे रीते एक एक वातोनुं प्रतिपादन कर्युं ते जोतां तेमनी प्रशस्तिमाटे एक पण शब्द पूरो लागतो नथी. महान्थीय महान् सम्यग्दृष्टि एटलो शब्द ज ते महापुरुषनी प्रशस्ति माटे, तेमनुं परिशिष्ट पर्व वांच्या बाद मारा मनमां उठयो हतो अने ते शब्द द्वारा ज तेमना चरणोमां भावपूर्ण वंदना करुं छुंः

एक बीजी वात—

मारा साधर्मिकबन्धु–कहुं ते करतां मारा धर्ममित्र–भाई श्री सुबोधचन्द्र शाहे आ ट्रस्टने पोतानुं मानी जे चीवटथी जूनी हस्तप्रतो उकेली पाठांतरो नोंध्या, मुद्रण कार्यथी अपरिचित अमारुं सर्वकार्य पोताना माथे लई लीधुं अने आ ग्रन्थने सुंदर रीते आप सौ वाचको पासे मूकवानी तक अमने आपी ते बदल अमारुं ट्रस्ट तेमनुं ऋणी छे.

आ ग्रन्थ पूज्य साधु साध्वीजी महाराजाओने सुलभताथी मले ते माटे पोताना हस्तकना ज्ञानखाताओनी विशाल रकम अर्पण करनार भाग्यवंत महानुभावोना पण अमे ऋणी छीये.

आ संपादन माटे, पोताना हस्तलिखित भंडारनी प्रतो अमने आपवा बदल 'नीतिविजयशास्त्रसंग्रह–खंभात' ना व्यवस्थापक महाशयो प्रत्ये पण अमे कृतज्ञता दाखवीओ छीओ.

अमारा ट्रस्टना प्रकाशनो वधुने वधु उपयोगी केम पूरवार थाय ? जरुरी प्रकाशनो कयां कयां ? वगेरे सर्व सूचनोनी मतत चिन्ता, तेमज ज्ञानखाताओनी रकमो गमे तेम वेडफाई न जतां आवां जरुरी प्रकाशनो पाछळज खर्चाय तेनी सतत खेवना कोईए करी होय तो ते आचार्यदेव श्रीमद् विजयमहोदयसूरीश्वरजी महाराजे. के जेओ मारा धर्मदाता, परमतारक-गुरुदेव, आचार्यपुंगव श्रीमद् विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजीमहाराजाना पट्टधर छे. तेमनी अमारा ट्रस्टपरनी कृपाए, ट्रस्टने आवां प्रकाशनो माटे वधुने वधु धगश पेदा करी छे.

सुंदर अने टकाउ कागळो, क्षतिरहित मुद्रण, सुवाच्य अक्षरो, आ बधी अमारा ट्रस्टनी अभिलाषाओ पूर्ण करवानी अमे यथाशक्य कोशिष करी छे छतां तेमां अमे केटला सफल रह्या तेनो निर्णय तो ग्रन्थना वाचक महानुभावोएज करवानो छे.

॥ छ ॥

प्रान्ते–परमेश्वर, चरमतीर्थंपति, श्रीवीरवर्धमानस्वामीने तेमज मारा जेवा अनेकने कुमार्गेथी पाछा वाळी सन्मार्गे चढावनार, अप्रतिम करुणाना सागर, सदा जेओ वात्सल्यनी ज गंगोत्री वहावी रह्या छे तेवा हिमगिरिसमा महान् अने अतिउच्च मारा परमतारक, गुरु भगवंत, आचार्यश्रेष्ठ, युगप्रधानसम, परमगुरु, श्रीमद् विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजाना चरणोमां कोटि कोटि वंदना करी एक ज अभिलाषा सेवुं छुं के आ शुभ कार्य द्वारा हुं मारा अनंत संसारने शीघ्र टूंको करी परमपदनो भागी बनुं.

प्राणलाल सुंदरजी कापडिया
व्यवस्थापक, श्रीः गं. जै. चे. ट्रस्ट

वि. सं. २०३६
द्वि. ज्येष्ठ शु. प्रतिपदा
शुक्रवार, ता. १३-६-१९८०
विलेपारले.



द्रव्यसहायकोनी शुभ नामावलि

रु. १३०००-००

विक्रम संवत् २०३३ नी सालमां भादरवा सुद पंचमीना क्षये ज्यारे संवत्सरी महापर्वनी आराधनानी तिथिनो भेद उपस्थित थयो त्यारे शास्त्रो अने शास्त्र-मान्य परंपरानुसारे संवत्सरी महापर्वनी आराधना औदयिकी चतुर्थी (शनिवार) ना दिवसे अने तदनुसार पर्वाधिराजनी अट्ठाईनी पण आराधना शान्ताक्रुझ (मुंबई) संघे, आचार्यदेव श्रीमद् विजयभुवनभानुसूरीश्वरजीमहाराजनी आज्ञाथी पधारेला मुनिश्री जगवल्लभविजयजी महाराजनी निश्रामां उल्लास पूर्वक करी ते वखते थयेल ज्ञानखातानी उपजना.

तेमज

रु. ५०००-००

अमदावाद, नवरंगपुरा, स्वस्तिक सोसायटीमां आवेल चन्द्रालय खाते त्यां श्री संघनी बहेनो तरफथी श्री ज्ञानखाते थयेली उपजना श्री चन्दुलाल मोहनलाल तरफथी.

प्रस्तावना

अनंत उपकारी श्री अरिहंतपरमात्माओए संसारवर्ती भव्यजीवोने, अनंत दुःखात्मक संसारथी छोडावी, अनंत सुखात्मक मोक्षधामे पहोंचाडवा सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान अने सम्यक्‌चारित्ररूप धर्मतीर्थनी स्थापना करी छे. ए धर्मतीर्थना अविरत वहेता प्रवाहमां श्री गणधरदेवोए गूंथेल द्वादशांगीनी अने तेने आधारे ते परमतारकना मार्गने अनुसरता महापुरुषोए रचेल आगम तथा आगमेतर ग्रंथोनी अतिशय महत्ता छे. ते ग्रन्थोना पदे पदमां द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग अने धर्मकथानुयोग आ चार अनुयोगो भर्या पड्या छे विशिष्टज्ञानी महापुरुषो ते पदोना विवेचनमां चारे अनुयोगोने स्पष्टतया समजावता हता. कालक्रमे जीवोनी मेधा मंद थवाथी अने पदे पदे समायेला चारे अनुयोगोने समजवानी कठिनता प्रतीत थवाथी नवपूर्वथी अधिक ज्ञानना धणी आचार्यभगवान श्रीआर्यरक्षितसूरीश्वरजी महाराजाए चारे अनुयोगोना अलग अलग ग्रंथोनो विभाग करी आप्यो.

तत्त्वनी विचारणा माटे द्रव्यानुयोगनी, लोकस्वरूपादिना यथास्थित चिंतन माटे गणितानुयोगनी, चारित्रनी निर्मल आराधना माटे चरणकरणानुयोगनी अने आत्माने आराधनामां आगळ वधारवानी अने विराधनाथी बचावी अंते मुक्तिनो मुसाफर बनाववानी प्रेरणा मेळववा माटे धर्मकथानुयोगनी आवश्यकता छे. पोत-पोताना क्षेत्रमां दरेक अनुयोगो महोपकारी छे. तेमांय बालजीवोने आराधनानी सन्मुख अने विराधनाथी विमुख बनाववा माटे धर्मकथानुयोग विशेष आवश्यकता धरावे छे.

जैन वाङ्मयमां धर्मकथानुयोगना ग्रंथोनी विशाल प्रमाणमां रचना करीने, परमोपकारी महापुरुषोए भव्यजीवो उपर महान उपकार कर्यो छे. श्रीज्ञाताधर्मकथांग, श्रीउपासकदशांग, श्रीविपाकसूत्र वगेरे अंगसूत्रोमां तेमज आगमेतर संख्याबंध ग्रंथोमां विविधभाषामां आराधक अने विराधक आत्माओने आराधना अने विराधना करवाथी प्राप्त थयेल शुभाशुभ फलोनुं वर्णन करती बोधक कथाओनो विपुल संग्रह करवामां आव्यो छे

परमार्हत श्रीकुमारपालभूपालप्रतिबोधक, जैनशासनना महान प्रभावक, सवालाखश्लोकप्रमाण निष्कलंक श्री सिध्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन, सटीककाव्यानुशासन, लिंगानुशासन, शब्दकोष, धातुकोष, तर्कशास्त्र, योगशास्त्र, तेमज श्रीतीर्थंकर परमात्मानी स्तवनाओ वगेरे विस्तृत साहित्यना भिन्न भिन्न भाषाओमां रचयिता, कलिकालसर्वज्ञ, आचार्यभगवत श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजाना पुण्यनामधेयथी आ भारतवर्षमां कयो बिचक्षण अज्ञात हशे ? ते सूरिपुरंदरे 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र' पर्व १ थी १० ओ महाकाय ग्रन्थनी रचना करी छे, जे ग्रंथ लगभग छत्रीश हजार श्लोक प्रमाण छे. ते ग्रंथमां वर्तमान अवसर्पिणी कालना चोवीश श्री तीर्थंकर देवो, बार चक्रवर्तीओ, नव वासुदेवो, प्रतिवासुदेवो अने बलदेवोनां चरित्रो सरल अने सुबोध पद्यमय संस्कृत भाषामां रोचक शैलिथी आलेखायां छे. ते ग्रन्थप्रासादना शिखररूपे प्रस्तुत 'परिशिष्टपर्व' नामना ग्रन्थरत्ननी रचना ते महापुरुषे करी छे. जे 'स्थविरावलीचरित्र' नामक यथार्थाभिधानने पण धारण करे छे.

तेर सर्गमय आ ग्रथरत्नमां चरमकेवली श्री जंबूस्वामीजीथी आरंभी चरमदशपूर्वी श्री वज्रस्वामीजी सुधीना स्थविर महापुरुषोनां संवेग निर्वेदोत्पादक, वैराग्यरसवृद्धिकर, मोक्षमार्गनी आराधना माटे महा प्रेरणादायी चरित्रोनुं रसप्रद वर्णन करवामां आवेल छे. प्रसगे प्रसंगे बोधदायक उक्तिओ पण मूकवामां आवेल छे. दशेय पर्वो तेमज प्रस्तुत 'परिशिष्ट पर्व' नी

रचना एवी तो अद्भुत रीते कराई छे के संस्कृत भाषाना प्रारंभिक अभ्यासीओ अेनुं चिंतन-मनन पूर्वक वांचन करे तो काव्यनो सुंदर अभ्यास थाय; उपरांत शब्दकोष, धातुकोष, जूदाजूदा प्रकारना प्रयोगोनुं ज्ञान, प्रासंगिक बोध, ते ते क्षेत्र-काल वगेरेनुं अनुभवज्ञान, तत्त्वोनो बोध वगेरे सीधा अने आनुषंगिक लाभोनी प्राप्ति पण तेमने थाय तेम छे.

श्री तीर्थंकर परमात्मा आदि महापुरुषोना चरित्रग्रंथोनी रचना पाछळ ते ते रचयिता महापुरुषोनो आशय ते ते चरित्रनायकोनी आराधना के विराधनानुं शुभाशुभ फल दर्शावी, भव्यजीवोने धर्मसन्मुख अने अधर्मविमुख बनाववानो होय छे. ते ते चरित्रनायकोना जीवनना वर्णनमां तेमने प्राप्त थयेल भौतिक सुखसामग्री के तेनी प्रकृष्टतानुं वर्णन पुण्योदयना विपाकने तथा धर्मना माहात्म्यने जणाववा माटे होय छे, नही के वाचक के श्रोतागणने ते सुख सामग्रीमां आसक्त बनाववा के ते सुख सामग्री माटे धर्म कराववा तेज रीते दुःखनी सामग्री के दुःखनी प्रकृष्टतानुं वर्णन पण ते जीवोने पापाचरणथी अने तेना मूल कारणभूत भौतिक सुखथी अने तेनी आसक्तिथी बचाववा माटे होय छे.

अहिं एक वातनुं स्पष्टीकरण करवु खास जरुरी जणाय छे के-भव्यजीवोए करणीय-अकरणीयनुं ज्ञान शास्त्र सिध्धान्तो अने तेनी पाछळना ते ते परमतारक महापुरुषोना आशयने समजीने मेळववानुं होय छे. पोतपोतानी भूमिकामां रहेला जीवो माटे श्री अरिहंत परमात्माओए जे जे विचारवा जेवुं, बोलवा जेवुं अने आचरवा जेवुं फरमाव्युं होय ते ते विहित, अने जे जे न विचारवा जेवुं, न बोलवा जेवुं, अने न आचरवा जेवुं फरमाव्युं होय ते ते निषिध्ध समजवानुं छे चरित्र ग्रंथोमां ते ते चरित्रनायकोए जे जे विचार्युं होय, बोल्या होय, के आचर्युं होय के न विचार्युं होय, न बोल्या होय के न आचर्युं होय. ते ते सर्व विचारवा बोलवा के आचरवा योग्य विहित थतुं नथी, तेमज न विचारवा जेवुं, न बोलवा जेवुं के न आचरवा जेवुं निषिध्ध थतुं नथी चरित्रकार महापुरुषो तो ते ते चरित्रनायकना जीवनमां जे जे बनावो बन्या होय तेने ते ते स्वरूपे आलेखे छे अने क्वचित् तेना हेय--उपादेयपणानो निर्देश करे पण छे, परंतु सर्वत्र तेनो निर्देश करे ज एवुं बनतुं नथी.

श्री जैन शासनमां कोईपण आगमग्रंथ, प्रकरणग्रंथ, विधिग्रंथ, अध्यात्मग्रंथ, वैराग्यग्रंथ के चरित्रग्रंथ यावत् स्तवन स्तुतिरूप ग्रंथो पण गीतार्थ अथवा गीतार्थनी निश्रा मेळव्या विनानी व्यक्तिए स्वयं भणवाना नथी. ज्यारे गीतार्थ एनुं अध्ययन करे त्यारे तेने श्री वीतराग परमात्मानी आज्ञानो वास्तविक बोध होवाथी तेमां हेयोपादेयनो विवेक स्वयं करी शके. ज्यारे गीतार्थनी निश्राए अध्ययन करनारने ते गीतार्थ ए प्रकारनो विवेक करावे. श्री जैन शासननी आ सुविशुध्ध आत्मतारक प्रणालिकानुं जो सूक्ष्मबुध्धिथी अवगाहन कराशे तो तेनी महोपकारकता तथा आवश्यकता विवेकी जीवोने समजाया विना नहि रहे. दा. त. संसारना भौतिक सुखो माटे के पापना उदये आवतां दुःखोना नाश माटे करातां धर्मानुष्ठानोने श्री अरिहंत परमात्माओए विषानुष्ठान अने गरानुष्ठान तरीके फरमाव्यां छे श्री अरिहंत परमात्मानी स्पष्ट आज्ञा छे के-"कोई पण धर्मानुष्ठान कर्मक्षय के मोक्षप्राप्तिना ध्येयथी ज करवुं" चरित्रग्रंथोमां व्यक्ति विशेषे के व्यक्तिविशेषने उद्देशीने कोई तेवा अन्यहेतुथी धर्मानुष्ठान कर्यानुं जणाव्युं होय के करवानुं जणावायुं होय तो ते विधिमार्ग तरीके उपादेय नथी बनतुं परंतु जे बन्युं छे तेनो अनुवाद कर्यो छे तेम समजवुं जरूरी छे. आपणा माटे तो उपादेय ते ज वस्तु छे के जे श्री अरिहंत परमात्मानी आज्ञानुसारी होय अने हेय ते ज वस्तु छे के जे श्री अरिहंत परमात्मानी आज्ञाथी बहिर्भूत होय.

प्रस्तुत स्थळे आटली विचारणानो हेतु एकज छे, के—वर्तमानकाळमां चरित्रग्रंथोनी एवी केटलीक वातोने पकडीने प्रभुमार्गना उपदेशक स्थाने बेठेलाओमांना पण केटलाको मुग्ध जीवोने जाणे या अजाणे उन्मार्गे दोरवानो अनिच्छनीय प्रयत्न करी रहया छे तेवा आत्माओ तेवा अनिच्छनीय प्रयत्नथी पाछा फरे अने मुग्धजीवो तेवा आत्माओना तेवा अनिच्छनीय प्रयत्नथी उन्मार्गे दोरवाई न जाय. कोई पण चरित्रग्रंथोमां शास्त्रविहित वातो करतां जूदा प्रकारनुं वर्णन द्रष्टिगोचर थाय त्यारे तेनो स्वविवेकबुद्धिथी परमार्थ विचारवो घटे; परंतु शास्त्रबाधित वस्तु पण आचरणीय छे, एवुं मानवा के मनाववानो दुराग्रह न राखवो जोईए. एज एक आत्मकल्याणनो सुविशुद्ध मार्ग छे.

श्री परिशिष्टपर्वना संबंधमां एक जाणवा जेवी वात छे—के वर्षो पूर्वे रोयल एसियाटिक सोसायटी—कलकत्ता तरफथी आ ग्रन्थनुं प्रकाशन थयेलुं त्यारे अेनी प्रस्तावनामां, जर्मन प्रोफेसर हर्मन जॅकोबीए आ काव्यमां अनेक भूलो (व्याकरण अने काव्य संबधी) होवानुं विधान करेलुं. 'अर्धो घटो घोषमुपैति नूनं' जेवा ए अर्धदग्ध विद्वानना आवा निन्द्य प्रयासने व्याकरण अने काव्यशास्त्रना विदग्ध विद्वान् श्री हरगोविन्द पंडितजीए पोतानी विद्वत्तापूर्ण लेखिनी द्वारा सर्वथा व्यर्थ बनावी दीधेल वि: सं १९६८ नी सालमां जैनधर्मप्रसारक सभा तरफथी प्रकाशित थयेला आ ग्रन्थनी प्रस्तावनामां जॅकोबीए करेला आक्षेपो अने पंडित श्री हरगोविदजीए तेनो करेलो साधार प्रतिकार जोई शकाय छे. दुःखनी वात छे के जॅकोबी जेवा विदेशी विद्वानोने संस्कृत प्राकृत भाषाना अध्ययन, आपणा धर्मग्रंथोनुं वाचन, प्रकाशन, संशोधन वगेरे प्रवृत्तिओमां सहाय,प्रोत्साहन अने बहुमान आपवामां आपणा जैनो (नामधारी) अने साधुओ (वेशधारी) नो फाळो घणो मोटो हतो अने हजु पण आवा कहेवाता धर्मप्रचारक प्रयासोमां आपणा केटलाक साधुओ अने श्रावको वधु ने वधु रस लई रहया छे अने श्रध्धा के आदर वगरना विद्वानोनी फोज उभी करी रह्या छे. तेमनाथी सावध रहेवानी आत्महितेच्छुओने खास भलामण छे.

प्रस्तुत 'परिशिष्ट पर्व'नुं सुविशुद्ध हृदये वाचन—मनन करी ते ते महापुरुषोना जीवन प्रसंगोमांथी आत्महितकारक तत्त्वोने भव्यजीवो आत्मसात् करे अने ते द्वारा विपुल कर्मनिर्जरा साधी वहेलामां वहेला श्री सिद्धिपदना स्वामी बने एज एक शुभाभिलाषा साथे प्रस्तावनाने पूर्ण करुं छुं अने आ प्रस्तावनामां श्री जिनाज्ञाथी विपरीत कंई पण लखायुं होय तेनी क्षमा याचुं छुं.

पूज्यपाद, सुविशालगच्छाधिपति, व्याख्यानवाचस्पति, आचार्यदेव श्रीमद्

विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजाना पट्टधर, प्रशांतमूर्ति,

स्व. आचार्यदेव श्रीमद् **विजयजितमृगांकसूरीश्वरजी महाराजनो**

चरणकिंकर **मुनि हेमभूषण विजय**

वि. सं. २०३६
फाल्गुन शुक्ल ६, गुरु
कंबोई. (उ. गु)

पाठांतरो लेवा माटे उपयोगमां लेवायेली प्रतिओनो परिचय तेमज संकेतसूचि

परिशिष्ट पर्वनी नीचे जणावेली ३ प्राचीन हाथपोथीओनो उपयोग आ ग्रन्थना संशोधन-संपादनमां करवामां आव्यो छे. पाठान्तरो दर्शावतां त्यां त्यां *C*-1., *C*-2., *C*-3., *M* अेवी संज्ञाओ सूचववामां आवी छे तेनो परिचय अहि आपवामां आवे छे.

(१) *C*-1. आ संज्ञाथी सूचवेली पोथी खंभातना श्री जैनशाला स्थापित नीतिविजयपुस्तकालयनी पोथी नं. १४१, प्र.नं. ६०० छे. ते प्रति ६८ पत्रनी छे. ६८ मा पत्रनी पाछळनो भाग कोरो छे. पडिमात्रामां मध्यम अक्षरोमां लखायेली छे. क्यांक क्यांक अशुद्ध छे तेमज शब्दो छूटी पण गया छे. किनारो पर तेमज हांसियामां क्यांक क्यांक सुधारेल छे. पोथीनी लंबाई १०॥ इच तेमज पहोळाई ४॥ इंचनी छे. दरेक तरफना भागमां १५ थी १६ पंक्तिओ छे. दरेक पंक्तिमां प्रायः ५२थी ५३ अक्षरो छे. एकंदरे प्रति सुवाच्य छे. प्रतिमां प्रशस्ति वगेरे कंईज न होवाथी पोथी लखायानो निश्चित समय जाणवानुं कोइ साधन उपलब्ध नथी. अन्तिम पृष्ठ पर पाछळथी कोई व्यक्तिद्वारा 'संवत् १६८० वर्षे वाचिता XX विजय' आटलुं लखाण उमेरायेल छे, जे सूचवे छे के आ पोथी १७मी शताब्दिथी पूर्वनी होवी जोईये. आ पोथी संपादनमां मुख्यतया आधारभूत थयेली छे.

(२) *C.2.* आ सञ्ज्ञाथी सूचवेली पोथी पण खंभातना उपरोक्त भंडारनी पोथी नं. २२६, प्रत नं. १८७८, पत्र ५२ सवत् १५८४ मा वर्षमां लखायेली छे. प्रति उधई, अन्य जीवात तेमज वरसादना पाणीथी अनेक स्थळे खंडित थई गयेली छे. प्रतिनी लंबाई १३॥ इंच तेमज पहोळाई ५। इंच छे. श्लोकना क्रमांकोने पाछळना कोई वाचके लाल पेन्सीलथी रंगेल छे. क्यांक क्यांक पाठो रही पण गया छेः ४६ थी ५२ सुधीना पृष्ठोनो उपरनो भाग तो पाणीथी लगभग क्षतविक्षत बनी गयेल छे. पडिमात्रामां, मनोहर अक्षरोमां, शुद्धाशुद्ध लखायेली प्रस्तुत पोथीमां प्रत्येक पत्रमां बन्ने बाजु मळी लगभग ३४ पंक्तिओ अने प्रत्येक पंक्तिमां प्रायः ७२ अक्षरोनो समावेश करेलो छे.

(३) *C-3.* आ संज्ञाथी सूचवेली पोथी पण खंभातना उपरोक्त भंडारनी पोथी नं. १४१, प्र. नं. ६०१, पत्र ६९ नी छे. १ ला पत्रनो आगळनो भाग कोरो छे पाछळना भागथी ग्रन्थनो आरंभ करायो छे. ६९मा पत्र पर लखावनारनुं नाम लाल शाहीथी लखायेलुं छे. जेने पाछळना कोईके काळी शाहीथी भूंसी नाख्युं छे. तेमज लेखनसंवत्ने पण भूंसी नाखी छे मात्र १ वंचाय छे. जे नगरमां लखाई ते नगरनुं नाम पण भूंसी नखायुं छे, प्रतिना हांसियाना भागमां तेमज उपर नीचे पण शब्दोना अर्थो तेमज सुधारा आपवामां आव्या छे. हांसियाने त्रण त्रण लाल पंक्तिथी जूदो पडायो छे पोथीनी लंबाई १०॥ इंच तेमज पहोळाई ४॥ इंचनी छे. दरेक पृष्ठमां १९ पंक्तिओ छे. दरेक पंक्तिमां प्रायः ४५ अक्षरो छे.

(४) *M.* आ संज्ञावाळी पोथी जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर द्वारा विक्रमसंवत् १९६८ मां प्रकाशित छे. जे ११८ पत्रात्मक तेमज निर्णयसागर मुद्रणालयमां मुद्रित थयेल छे. तेमां कोई पाठान्तरो नोंधवामां आवेल नथी, मात्र कठिन शब्दोना अर्थो अपाया छे ग्रन्थनी प्रेसकोपी तरीके आ प्रतिनो उपयोग करायो छे. एकंदरे आ प्रति घणी शुध्ध छे. परन्तु आ प्रति मुद्रित करती वेळा कयी पोथीओ परथी ते मुद्रित कराई तेनो कोई उल्लेख तेमां सांपडतो नथी.



संपादकीय

श्रुतज्ञान प्रकाशनमालाना द्वितीय पुष्प तरीके आ परिशिष्ट पर्वनुं संपादन ज्यारे मने सोंपायुं त्यारे मने आ कार्य मारा माटे गजा उपरवटनुं लाग्युं हतुं. कारण के त्रण प्राचीन हस्तप्रतो आंख सामे राखी दरेक प्रतिना महत्त्वना पाठभेदो नोंधवा अने आ कार्य एकले हाथे करवुं दुष्कर हतुं, छतांय घणा समयने अंते, गुरुकृपाथी ते कार्य ज्यारे पार पड्युं त्यारे मने अपूर्व आनंद तो थयो ज हतो परन्तु एक भारेखम कार्य पार पड्यानी निरांत पण में अनुभवी हती.

नीतिविजयशास्त्रसंग्रह--खंभातनी--त्रण प्रतिओ पाठांतरोना संग्रह माटे प्राप्त कराई हती, जेनो ग्रन्थमां *C.* 1, 2 तथा 3 तरीके उल्लेख करवामां आवेल छे. त्रणेय प्रतिओमां संपूर्ण शुध्ध कहेवाय तेवी एक पण प्रति न हती. कोईक प्रतिमां श्लोको ज छूटी गया हता. कोईकमां क्यांक क्यांक पदो तथा वाक्यो छूटी गया हता. आ सर्व स्थिति छतां यथाशक्य शुध्ध करी आ प्रकाशन तैयार करायुं छे.

त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्रना दशपर्वोंनी रचना द्वारा भगवान् श्री ऋषभदेवथीय पूर्वकालना इतिहासथी आरंभी भगवान् श्री वीरवर्धमानस्वामी पर्यंतनो इतिहास आप्या बाद चरमतीर्थपतिनी पाट परंपरामां थयेला पैकी मूल पाट उपर आवेला स्थविर भगवतोनो इतिहास परिशिष्ट पर्वमां आपवानो ग्रन्थकार भगवंते प्रयास कर्यो छे. परिशिष्ट पर्वने बाद

करतां आवो विगतवार कडीबध्ध प्रयास बीजा कोइ ग्रन्थमां जोवा मळतो नथी. हा, कोई ग्रन्थकारे कोई कोई स्थविर भगवंतनुं विगतवार चरित्र आलेख्युं छे परन्तु आखी स्थविरावली आ रीते आलेखाई नथी. ए दृष्टिए पण आनुं मूल्य वधी जाय छे.

कलिकालसर्वज्ञ, भगवान् श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी माटे कंइ पण लखवुं ए विचार पण बालिशता लागे छे: जैन गगनांगणमां सहस्रकिरणे प्रकाशता ए झळहळता सूर्यनी ओळखाण कराववानी शी होय ? ए सूर्य न उग्यो होत तो शुं थात ? ते वात, ते समयनी राष्ट्नी स्थिति, विधर्मीओना जालिम जुल्मो, जैनो प्रत्येनो कट्टर द्वेष आ बधुं सारी रीते जाणनारथी अजाणी नथी. भगवान् श्रीहेमचन्द्रसूरीश्वरे आ बधुं पासुं पोतानी हयाति द्वारा पलटावी नाख्युं. अेमने जेटला विशेषणो आपीअे ते सर्व ओछा छे. अेमना चरणमां वंदना करवी ए पण आपणा संसारने टूंको करवानो मार्ग छे.

प्रस्तुत प्रकाशन अंगे–

मारा धर्ममित्र श्री प्राणलालभाई के जेमणे आ ट्रस्ट उभुं कर्युं तेमना मारी शक्तिओ परना वधु पडता विश्वासे, आ कार्य मारे ज करवानुं आव्युं. मारा पोताना पठन पाठनादि कार्योमांथी हुं समय फाजल पाडी शकुं तेम न होवा छतांय तेमना स्नेहभर्या आग्रहथी आ कार्य मारे करवुंज पड्युं छे. पाठांतरो मारे एकले हाथेज लेवाना हता तेथी तेमां खासो समय गयो छे. छेवट, त्रिषष्टिदशमपर्वना प्रकाशन बाद पूरा त्रण वर्षे आ बीजुं प्रकाशन प्रगट थई शक्युं छे. अेटले आ विलंबमां दोषपात्र हुं छुं. पाठभेदोना योगे क्यांक क्यांक अर्थो केवा बदलाय छे तेनुं विवेचन हुं करुं ते करतां आ ग्रन्थनुं साद्यन्त पठन करनारा भाग्यवानो पोतेज समजी शकशे एटले ए अंगे लखवुं जरुरी नथी.

आ प्रकाशन पाछळ अनेक भाग्यवंतोनो सहकार छे. कोने कोने याद करवा ? छतांय आ ट्रस्टनुं सर्जन करवा माटे पोताना परिग्रहनी मात्रा अतिघणी घटाडी, सारी अेवी रकमनो न्यास करनार सुश्रावक श्री प्राणलालभाई कापडिआनो अने आ परिग्रह घटाडवानो उपदेश आपनार, मारा परमगुरुवर्य, कलिकालमां सुविशुध्ध देशनाना दानमां, तेमज श्री जिनशासनने पोतानी रगरगमां परिणमाववामां अने सन्मार्गथी विरुद्ध लागती अनेक प्ररूपणाओनो स्वपरना पक्षपात वगर प्रखर विरोध करवामां जेमनी कोई जोड नथी एवा युगप्रधान तुल्य, अनेकने दुर्गतिमां जता रोकनार, परमपूज्य, श्रीश्रीश्री **आचार्यदेव श्रीमद्‌विजयरामचन्द्रसूरिभगवंतनो** उपकार अने सहकार कोईज क्षणे भूलाय तेम नथी.

प्रान्ते—आ ग्रन्थनी विद्वद्भोग्य प्रस्तावना लखी आपवा बदल तेमज ग्रन्थनुं अक्षरशः वाचन करी शुद्धिपत्रक तैयार करी आपवा बदल पूज्य मुनिराज श्रीहेमभूषणविजयजी महाराजनुं ट्रस्ट ऋणी छे.

प्रस्तुत संपादन करती वेळाए रही गयेली क्षतिओ तरफ ध्यान दोरवा विद्वानोने विनंति छे.

आ ग्रन्थना प्रकाशनमां जे कंई जिनाज्ञाविरुध्ध थवा पाम्युं होय तेनो त्रिविधे मिच्छामिदुक्कडं आपी आ महाकाव्यना वाचनथी अनेक आत्माओ निर्मल बोधिबीजने प्राप्त करो एज एक अभिलाषा.

द्वि. ज्येष्ठ शु. प्रतिपदा, शुक्र
विलेपारले, मुंबई.

सुबोधचन्द्र नानालाल शाह

विषयानुक्रमः

णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ।

कलिकालसर्वज्ञ–आचार्यशिरोमणि–श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरविरचितं

श्री परिशिष्टपर्व ।



तत्र चायं

प्रथमः सर्गः

श्रीमते वीरनाथाय सनाथायाद्भुतश्रिया । महानन्दसरोराजमरालायार्हते नमः ॥१॥
सर्वेषां वेधसामाद्यमादिमं परमेष्ठिनाम् । देवाधिदेवं सर्वज्ञं श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥२॥
कल्याणपादपारामं श्रुतगङ्गाहिमाचलम् । विश्वाम्भोजरविं देवं वन्दे श्रीज्ञातनन्दनम् ॥३॥
पान्तु वः श्रीमहावीरस्वामिनो देशनागिरः । भव्यानामान्तरमलप्रक्षालनजलोपमाः ॥४॥
त्रिषष्टिशलाकापुंसां दशपर्वी विनिर्मिता । इदानीं तु परिशिष्टपर्वास्माभिः प्रतन्यते ॥५॥
अत्र च जम्बूस्वाम्यादिस्थविराणां कथोच्यते । विश्वस्य कण्ठालङ्कारकृते हारावली शुभा ॥६॥

अस्यैव जम्बूद्वीपस्य भरतार्धेऽत्र दक्षिणे । देशोऽस्ति मगधाभिख्यो वसुधामुखमण्डनम् ॥७॥
तस्मिन्ग्रामोपमा गोष्ठा ग्रामाश्च पुरसन्निभाः । पुराणि खेचरपुरप्रायाण्यद्भुतया श्रिया ॥८॥
अप्येकवारमुप्तानि लूनान्यपि हि कर्षकैः । तत्र धान्यानि दूर्वावत्प्ररोहन्ति मुहुर्मुहुः ॥९॥
निरामया निरातङ्काः सन्तुष्टाः परमायुषः । वसन्ति तत्र सुषमाकालजाता इव प्रजाः ॥१०॥
सदा प्रश्नवशालिन्यः कुण्डोध्न्यस्तत्र सुव्रताः[1] । अहर्निशं कामदोह्या गावः कामगवीनिभाः ॥११॥
सर्वत्राप्युर्वरैवोर्वी काले वर्षति वारिदः । धर्मकर्मरतो लोकस्तत्र धर्मैकसद्मनि ॥१२॥
याम्यस्य भरतार्धस्य सर्वस्वनिधिभूरिव । श्रियः क्रीडागृहं राजगृहं तत्रास्ति पत्तनम् ॥१३॥
तत्र चैत्येषु सौवर्णध्वजकुम्भमरीचयः । प्रावृष्यासीनमेघानां तडित्सापत्न्यमीर्यति ॥१४॥
तत्र चन्द्राश्मवासौकःसंक्रान्तः शशभृन्निशि । धत्ते कस्तूरिकापूर्णमुक्तराजतपात्रताम् ॥१५॥
प्राकारः सुन्दराकारस्तत्र राजति काञ्चनः । अर्हत्समवसरणादेकः कृत इवामरैः ॥१६॥
दीर्घिकासलिलं तत्र मिलद्भिः पार्श्वयोर्द्वयोः । आभाति रत्नसोपानमयूखैर्बद्धसेत्विव ॥१७॥
तत्र चैकातपत्रार्हद्धर्मे हर्म्येषु बालिकाः । नित्यमध्यापयन्त्यर्हत्स्तुतीः क्रीडाशुकानपि ॥१८॥

1 प्रस्नव C 3। प्रस्रव° M ॥
*सुव्रता=सुखदोह्या ।

शिरोदेशपरिस्पृंशि तत्रोच्चैर्जिनसद्मनाम् । स्वर्णकुम्भाविभक्तश्रीण्युडून्याभान्ति रात्रिषु ॥१९॥
तत्र राजतसौवर्णैः प्राकारः कपिशीर्षकैः । भाति चन्द्रांशुमद्बिम्बैर्मर्त्योत्तर इवाचलः ॥२०॥
तत्र वासगृहे प्लुष्टधूपगन्धाधिवासितः । प्रेयानिव लगन्नङ्गे खेचरीणां मुदेऽनिलः ॥२१॥
श्रेणीकृतयशास्तत्र श्रेणिकोऽभून्महीपतिः । नेतेव दक्षिणः क्षोणीं लक्ष्मीं चावर्जयन् गुणैः ॥२२॥
सम्यक्त्वरत्नोद्योतेन हृदि तस्य प्रसर्पता । मिथ्यात्वतिमिरस्यावकाशो नाभून्मनागपि ॥२३॥
कर्णपेया सुधेवान्या द्युसदां ददती मुदम् । मध्येसुधर्म तत्कीर्तिरप्सरोभिरगीयत ॥२४॥
केन्द्रे दुष्टग्रह इव तस्मिन्प्रातीप्यवर्तिनि । अनर्थं कलयामासुः परितः परिपन्थिनः* ॥२५॥
अखण्डशासने राज्ञि तस्मिन्नाखण्डलोपमे । एकातपत्रैवाभूद् भूर्द्यौरिवैकनिशाकरा ॥२६॥
औदार्यधैर्यगाम्भीर्यशौर्यप्रभृतयो गुणाः । सामुद्रलक्षणानीव जन्मतस्तस्य जज्ञिरे ॥२७॥
विदधानस्य वसुधामेकच्छत्रां महौजसः । तस्याज्ञा वज्रिणो वज्रमिव नाऽस्खलि केनचित् ॥२८॥

एकदा तत्पुराभ्यर्णे चैत्ये गुणशिलाह्वये । सुरासुरपरीवारः श्रीवीरः समवासरत् ॥२९॥
रूप्यस्वर्णमणिमयैः प्राकारैर्भूषितं त्रिभिः । चक्रुः समवसरणं तत्प्रदेशे तदाऽमराः ॥३०॥
अशोकवृक्षस्तस्यान्तर्विचक्रे व्यन्तरामरैः । पल्लवैः पवनोद्भूतैर्भव्यजन्तूनिवाह्वयन् ॥३१॥

*शत्रव.।

सुमेरुरिव पुंरूपो जात्यजाम्बूनदद्युतिः । तस्मिन्समवसरण पूर्वद्वाराऽविशद्विभुः ॥३२॥
अशोकाधःस्थिते देवच्छन्दे स्वामी यथाविधि । सिंहासनमलञ्चक्रे राजहंस इवाम्बुजम् ॥३३॥
निषसाद यथास्थानं सङ्घस्तत्र चतुर्विधः । स्वाम्यप्यमृतवृष्ट्याभां प्रारेभे धर्मदेशनाम् ॥३४॥
तद्देशवासिनस्तूर्णं प्लवमाना मृगा इव । स्वामिनं समवसृतमेत्य राज्ञे व्यजिज्ञपन् ॥३५॥
राज्ञः पीतवतो नाथागमोदन्तामृतं तदा । वपुः पनसफलवदुत्कण्टकमभून्मुदा ॥३६॥
सिंहासनं पादुके च विहाय मगधाधिपः । स्वामिनं मनसिकृत्यानमद् भून्यस्तमस्तकः ॥३७॥
स्वाम्यागमनशंसिभ्यो भूपालः पारितोषिके । हिरण्यमनृणीकारकारणं प्रचुरं ददौ ॥३८॥
अर्हद्वन्दनयात्रार्हे सदशे श्वेतवाससी । क्षीरोदलहरीव्यूते इव राजाऽथ पर्यधात् ॥३९॥
तदा च रत्नाभरणैरामुक्तैर्मुकुटादिभिः । अनल्पैः कल्पशाखीव रेजे राजगृहेश्वरः ॥४०॥
हस्त्यश्वादीनि यानानि राजद्वारे तदाज्ञया । सज्जीकृतान्यढौकन्त द्राग् ज्ञातय इव श्रिया ॥४१॥
कल्याणकारणं भद्रकुञ्जरं नृपकुञ्जरः । अथाऽऽरुरोह तेजस्वी पूर्वाचलमिवार्यमा ॥४२॥
कुम्भिभिर्नवसिन्दूरारुणकुम्भैरनेकशः । सन्ध्याभ्रविभ्रमकरैः परिवव्रे नृपद्विपः ॥४३॥
गजघण्टाटणत्कारैः पूरयन्परितोऽम्बरम् । प्राचालीदचलानाथस्तीर्थनाथमनूत्सुकः ॥४४॥
गजेन्द्रगर्जितैरश्वहेषितैरथ चीत्कृतैः । मिलद्भिरम्बरतले शब्दोऽम्बरगुणोऽभवत् ॥४५॥

राज्ञोऽग्र्यसैनिकौ च द्वावेकमेकाग्रमानसम् । एकांह्रिणा तस्थिवांसमेकमूलमिवांह्रिपम् ॥४६॥
सिद्धिक्षेत्रमिवाक्रष्टुमुदञ्चितभुजद्वयम् । आदर्श इव सूर्येऽपि निष्कम्पन्यस्तलोचनम् ॥४७॥
उद्भिन्नस्फोटकमिवार्कतापात्स्वेदबिन्दुभिः । शान्तरसं मूर्तमिव शान्तं ददृशतुर्मुनिम् ॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

तयोरेकतरोऽवादीदहो ! मुनिमतङ्गजः । वन्दनीयो महात्माऽयं य एवं तप्यते तपः ॥४९॥
कस्तिष्ठेदेकपादेन कः पश्येदर्कमण्डलम् । मुहूर्तमप्येवमहो ! अहो ! दुष्करकारिता ॥५०॥
स्वर्गो वा यदि वा मोक्षो नास्य दूरे महात्मनः । भूयसा तपसा किं किं नासाध्यमपि साध्यते ? ॥५१॥
व्याजहार द्वितीयोऽपि न जानासि वयस्य ! किम् । राजा प्रसन्नचन्द्रोऽयं न धर्मोऽस्य मुधा तपः ॥५२॥
अयं हि बालं तनयं न्यधाद्राज्ये स मन्त्रिभिः । प्रच्यावयिष्यते राज्यादामं फलमिव द्रुमात् ॥५३॥
अनेन हि निजं राज्यं रक्षणाय समर्पितम् । मार्जाराणामिव क्षीरं तेषामेव दुरात्मनाम् ॥५४॥
तस्मिन्नुच्छेदिते बाले वंशो नास्त्यस्य सर्वथा । स्वपूर्वजन्मनां नामनाशनादेष पातकी ॥५५॥
प्रविव्रजिषुणाऽनेन याश्च तत्यजिरे प्रियाः । न जाने का गतिस्तासामनाथानां भविष्यति ॥५६॥
तद्वचोवात्यया कर्णकोटरेण प्रविष्टया । प्रसन्नचन्द्रराजर्षेः समाधिद्रुरभज्यत ॥५७॥
दध्यौ चैवं स राजर्षिरहो ! तेषां कुमन्त्रिणाम् । सन्मानो यो मयाऽकारि स भस्मनि हुतं ध्रुवम् ॥५८॥
मत्सूनोः क्षीरकण्ठस्य तैः शठैः पापकर्मभिः । राज्यमाच्छेत्तुमारेभे धिक् तान्विश्वस्तघातकान् ॥५९॥

तत्राहमभविष्यं चेत्तदा तेषां दुरात्मनाम् । अकरिष्यं नवनवैर्निग्रहैरनुशासनम् ॥६०॥
जीवितेनामुना किं मे तपसा भूयसाऽपि किम् । श्रुतिगोचरमायासीत्स्वसूनोर्यत्पराभवः ॥६१॥
एवं राजर्षिरारोहद् दुर्ध्यानमधिकाधिकम् । आविष्टः क्रोधभूतेन श्रामण्यं व्यस्मरन्निजम् ॥६२॥
सिंहावलोकनन्यायेनालीढः क्षत्रतेजसा । प्रत्यक्षानिव सोऽद्राक्षीत्तानमात्यान्सुतद्विषः ॥६३॥
पूर्ववद्रणरङ्गैकसूत्रधारोऽसिधारया । मनसा खण्डशश्चक्रे तान् रणे सूरणानिव ॥६४॥
छेदनं भेदनं चान्यदपि दुःकर्म दारुणम् । क्रोधान्धो मनसाऽकार्षीद्राजर्षिः किं न मन्त्रिणाम् ? ॥६५॥

तत्र प्रदेशे च तदा राजा राजगृहेश्वरः । आजगाम जिनोपज्ञधर्मद्रुमविहंगमः ॥६६॥
उत्ततार मुनिं दृष्ट्वा कुञ्जराद्राजकुञ्जरः । भालं तिलकयन्भूमिरेणुना प्रणनाम च ॥६७॥
उद्बाहुमेकपादस्थं तं दृष्ट्वाऽऽतापनापरम् । अमोदिष्टान्वमोदिष्ट चात्यर्थं पार्थिवाग्रणीः ॥६८॥
प्रसन्नचन्द्रराजर्षेस्तपःसामर्थ्यमद्भुतम् । चिन्तयन्नथ राजाऽगाज्जगद्गुरुजिनान्तिके ॥६९॥
प्रभुं प्रणम्य पञ्चाङ्गस्पृष्टभूर्भूभुजां वरः । निषसाद यथास्थानं पद्मकोशीकृताञ्जलिः ॥७०॥
समयेऽथ जगन्नाथं महीनाथशिरोमणिः । नत्वाऽपृच्छन्मुखद्वाररचितप्रच्छदाञ्चलः ॥७१॥
ध्यानस्थः समये यत्र प्रसन्नर्षिर्मयैक्ष्यत । तत्रैव चेद्विपद्येत तत्कामासादयेद् गतिम् ॥७२॥
स्वाम्याख्यात्तत्र समये कृतकालो व्रजेन्नृपः । प्रसन्नचन्द्रो राजर्षिः सप्तमीं नरकावनिम् ॥७३॥

श्रमणोपासको राजा ऋजुधीरित्यचिन्तयत् । अप्युग्रतपसोऽमुष्य गतिः कथं महामुनेः ? ॥७४॥
नृपो भूयोऽपि पप्रच्छ समयेऽस्मिन्महामुनिः । स कालं यदि कुर्वीत कां लभेत ततो गतिम् ॥७५॥
प्रभुः प्रोवाच हे राजन् ! स राजर्षिर्महातपाः । सर्वार्थसिद्धिगमनयोग्यः सम्प्रति वर्तते ॥७६॥
राजा जगाद भगवन्किमियं व्याकृतिर्द्विधा । समाख्याहि समाज्ञस्य सार्वज्ञी वाक्कुतोऽन्यथा ॥७७॥
स्वाम्याचख्यौ यदा राजन् ! राजर्षिर्वन्दितस्त्वया । रौद्रध्यानी तदा सोऽभूच्छुक्लध्यानी तु सम्प्रति ॥७८॥
स तदा नरकार्होऽभूद्रौद्रध्यानपरायणः । सर्वार्थसिद्धियोग्यस्तु शुक्लध्यानपरोऽधुना ॥७९॥
ज्ञानालोकार्कमर्हन्तं पप्रच्छ श्रेणिकः पुनः । रौद्रध्यानी कथमभूच्छुक्लध्यानी कथं च सः ॥८०॥
स्वाम्यप्युवाच राजंस्त्वदग्रसैनिकवार्तया । शुश्रावाभिभवं सूनोर्मन्त्रिभ्यः स्वेभ्यः एव सः ॥८१॥
स्पृष्टः सुतममत्वेन प्रसन्नो विस्मृतव्रतः । मनसा योद्धुमारेभे तैः समं क्रूरमन्त्रिभिः ॥८२॥
प्रत्यक्षैरिव तैः सार्धं युध्यमानोऽधिकाधिकम् । निष्ठितास्त्रः प्रसन्नोऽभूदप्रसन्नमनाः क्रुधा ॥८३॥
स सन्नद्धं स्वमज्ञासीदिति चाचिन्तयत्क्रुधा । शिरस्त्रेणापि हन्म्येतान्सर्वं शस्त्रं हि दोष्मताम् ॥८४॥
ततश्च शिरसि न्यास्यच्छिरस्त्रादित्सया करम् । तं लुञ्चितं स्पृशन्नात्तव्रतमात्मानमस्मरत् ॥८५॥
अचिन्तयच्च धिग्धिग्मां रौद्रध्यानानुबन्धिनम् । किं तेन सूनुना किं तैर्मन्त्रिभिर्निर्ममस्य मे ॥८६॥
इति चिन्तयतस्तस्य विलीने मोहदुर्दिने । विवेकभास्करः प्रादुरभूद् भूयोऽपि भास्वरः ॥८७॥

भक्त्या तत्रैव वन्दित्वा सोऽस्मानग्रे स्थितानिव । आलोच्याथ प्रतिक्रम्य प्रशस्तं ध्यानमास्थितः ॥८८॥
प्रसन्नचन्द्रो राजर्षिः शुभध्यानकृशानुना । कर्मकक्षमुवोष*द्राग्दुर्ध्यानारण्यसंभवम् ॥८९॥

श्रेणिकस्तस्य राजर्षेश्चरितेन सुगन्धिना । वासितः श्रीमहावीरं धर्मवीरो व्यजिज्ञपत् ॥९०॥
अपि बालं सुतं राज्ये विनिवेश्य विशांपतिः । प्रसन्नचन्द्रो भगवन् ! प्रव्रज्यामाददे कथम् ? ॥९१॥
अथाख्यद्भगवान् राजन्नगरे पोतनाभिधे । अभूत्सौम्यतया चंद्रः सोमचन्द्रो महीपतिः ॥९२॥
सधर्मचारिणी तस्य धारिणी धर्मधारिणी । बभूव शीलालङ्कारा विवेकजलदीर्घिका ॥९३॥
सा गवाक्षेऽन्यदा पत्युरासीनस्य कचोच्चयम् । स्वयं करसरोजाभ्यां विवरीतुं प्रचक्रमे ॥९४॥
ददर्श च तदा राज्ञः पलितं मूर्ध्नि धारिणी । स्थानं स्वीकृत्यभिज्ञानं जरयेव निवेशितम् ॥९५॥
व्याजहार च राजानं स्वामिन् ! दूतोऽयमागतः । दिशोऽवलोक्य राजाऽपि प्रोचे किं नेह दृश्यते ? ॥९६॥
राज्ञ्यथादर्शयद्राज्ञः पलितं मूर्ध्न्युवाच च । प्राणेश ! केशराजोऽयं प्रशस्यो धर्मदौत्यकृत् ॥९७॥
तृतीयवयसः शस्त्रमिव यौवनघातकम् । तन्मूर्ध्नि पलितं दृष्ट्वा राजा दुरमनायत ॥९८॥
अभ्यधाद्धारिणी देव ! किं वृद्धत्वेन लज्जसे ? । अप्येकं पलितं दृष्ट्वा यद्येवं दुर्मनायसे ॥९९॥
पटहोद्घोषणां कृत्वा लोकः सर्वो निषेत्स्यते । न यथा वृद्धभावं ते वार्तयाऽपि प्रकाशयेत् ॥१००॥

*ददाह

राजा प्रोवाच जिह्नेमि नाहं पलितदर्शनात्। दौर्मनस्ये पुनरिदं कारणं जीवितेश्वरि ! ॥१०१॥
अदृष्टपलितैरस्मत्पूर्वजैराददे व्रतम्। अहं तु विषयासक्तः प्रिये पलितवानपि ॥१०२॥
अहमह्नाय गृह्णामि व्रतमेवं स्थितेऽपि हि। किं तु दुग्धमुखे सूनौ राज्यमारोप्यते कथम् ? ॥१०३॥
यद्वा मे व्रतमादित्सोः किं राज्येन सुतेन किम्। धीमति ! व्रतमादास्ये त्वं स्वं संवर्धयाऽऽत्मजम् ॥१०४॥
धारिण्यभिदधे नाहं त्वां विना स्थातुमीश्वरी। सत्यः पत्यनुयायिन्यः समये यत्र तत्र वा ॥१०५॥
तद्बालेऽपि सुते राज्यं निदधीथा अहं पुनः। शुश्रूषिष्ये वनेऽपि त्वां देहच्छायेव पार्श्वगा ॥१०६॥
अरण्यजस्तरुरिव सुतः स्वैरेव कर्मभिः। प्रसन्नचन्द्रो बालोऽपि वर्धतां तेन किं मम ॥१०७॥
सोमचन्द्रस्ततो राज्यमारोप्य तनुजन्मनि। दिक्प्रोषितस्तापसोऽभूत् पत्न्या धात्र्या च संयुतः ॥१०८॥
स आश्रमपदं किञ्चिच्चिरशून्यमशिश्रयत्। दुस्तपं च तपस्तेपे शुष्कपत्रादिभोजनः ॥१०९॥
पलाशपत्राण्यादाय स आश्रमकुटीं व्यधात्। मृगाणामध्वगानां च शीतच्छायाऽमृतप्रपाम् ॥११०॥
स्वादुस्वादून्युदक्कानि वनस्पतिफलानि च। सोमेन्दुरानयत्पत्न्यै स्यूतस्तत्प्रेमतन्तुभिः ॥१११॥
तत्रापि धारिणी सा तु पत्यावत्यन्तभक्तिभाक्। तल्पं प्रकल्पयामास तदर्थं कोमलैस्तृणैः ॥११२॥
तत्रेङ्गुदानि पक्वानि पेषं पेषं च धारिणी। स्नेहं जग्राह दिवसे चक्रे च निशि दीपकान् ॥११३॥
अरण्यगोमयैरार्द्रैः सा लिलेपाऽऽश्रमाङ्गणम्। पत्युः सुखासिकाहेतोर्मार्जयामास चासकृत् ॥११४॥

तत्राश्रमे दम्पती तौ लालयन्तौ मृगार्भकान् । तपःकष्टमजानन्तौ कञ्चित्कालं व्यतीयतुः ॥११५॥
सन्तोषसुखधारिण्याः धारिण्याः पूर्वसम्भवः । तत्र क्रमेण ववृधे गर्भोऽनुत्पादितव्यथः ॥११६॥
धारिण्या सूनुरन्यूनलक्षणः सुषुवेऽन्यदा । कान्त्या दीप इवातैलपूरोऽन्तःसूतिकागृहम् ॥११७॥
आश्रमे वल्कलान्येवेत्यवेष्ट्यत स वल्कलैः । पित्रा वल्कलचीरीति ततस्तन्नाम कल्पितम् ॥११८॥
विपेदे धारिणी सूतिरोगेण तनयः पुनः । अदृष्टमातृकः सोऽभूत् पुमानिव निरक्षरः ॥११९॥
अरण्यमहिषीक्षीरं पाययित्वा मुहुर्मुहुः । सोमेन्दुरार्पयद्धात्र्या धारणाय तमर्भकम् ॥१२०॥
अवाप साऽपि पञ्चत्वं कालेन कियताऽपि हि । धात्री दैववशेनानुयियासुरिव धारिणीम् ॥१२१॥
अपीप्यन्महिषीक्षीरं सोमेन्दुस्तं शिशुं स्वयम् । यान्निषण्णः शयानो वा स्वयमङ्के दधार च ॥१२२॥
स क्रमाद्वर्धमानोऽभूत्पादचंक्रमणक्षमः । चक्रे च प्रत्यहं पांशुक्रीडां वनमृगार्भकैः ॥१२३॥
एधोभिः स्वयमानीतैर्नीवारैः स्वयमाहृतैः । स्वयं रसवतीं कृत्वा सोमेन्दुस्तमभोजयत् ॥१२४॥
वनधान्यैर्वनफलैः पोषं पोषं तमर्भकम् । सोमचन्द्रो व्यधादात्मसखं तपसि दुस्तपे ॥१२५॥
यौवनाभिमुखश्चालङ्कर्मीणः सर्वकर्मसु । पितृचर्याप्रवीणोऽभूदथ वल्कलचीर्यपि ॥१२६॥
फलाद्यानयनैर्नित्यमङ्गसंवाहनेन च । शुश्रूषां स पितुश्चक्रे सा हि सर्वव्रतोत्तमा ॥१२७॥
आजन्मब्रह्मचार्येव व्रती वल्कलचीर्यभूत् । स्त्रीणां नामापि नाज्ञासीदस्त्रीके निवसन्वने ॥१२८॥

प्रसन्नचन्द्रः शुश्राव वनस्थस्यान्यदा पितुः । धारिणीकुक्षिसम्भूतं सुतं सोदरमात्मनः ॥१२९॥
कीदृशोऽस्ति स मे भ्राता ? मिलिष्यति कथं पुनः ? । इत्यभूद्रणरणको राज्ञो मनसि दुर्धरः ॥१३०॥
अथादिशच्चित्रकरांस्तत्र यात तपोवने । यच्छ्रीमत्तातपादानां पादपद्मैरलङ्कृतम् ॥१३१॥
पितृपादाब्जहंसस्य मदीयस्यानुजन्मनः । वने निवसतो रूपमालिख्यानयत द्रुतम् ॥१३२॥
प्रमाणमादेश इति प्रोच्य चित्रकरा अपि । ययुस्तत्र वने पुण्यीकृते वल्कलचीरिणा ॥१३३॥
ते विश्वकर्मणो मूर्त्यन्तराणीवातिकौशलात् । तमालिखन्यथावस्थमादर्शप्रतिबिम्बवत् ॥१३४॥
आनीय दर्शयामासू रूपं वल्कलचीरिणः । ते चित्रकारिणो राज्ञः सुधावर्तिनिभं दृशोः ॥१३५॥
दध्यौ नृपतिराकृत्या मत्पितुर्नैष हीयते । आत्मा वै जायते पुत्रः श्रुतिरेषा हि नान्यथा ॥१३६॥
दिष्ट्या सोदर दृष्टोऽसीत्यभिधायासकृन्नृपः । तं सस्वजे मूर्ध्नि जघ्रौ न चाङ्कादुदतारयत् ॥१३७॥
वल्कलाच्छादनधरं दृष्ट्वा वल्कलचीरिणम् । उदश्रुर्द्रागभूद्राजा सनिर्झर इवाचलः ॥१३८॥
ऊचे च *प्रवयास्तातो युक्तमाचरतु व्रतम् । मद्भ्रातुस्त्वस्य बालस्य वनवासोऽपि नार्हति ॥१३९॥
अहं राज्यसुखह्रदे मग्नः क्रीडामि हंसवत् । पुलिन्द इव मे भ्राता वनवृत्त्याऽनुजीवति ॥१४०॥
अरण्यजो जीव इव दुरानेयः स पत्तने । कष्टं तु मम राज्येऽपि तस्मिन्नाज्याविभागिनि ॥१४१॥

*वृद्ध ।

वनकष्टमिति भ्रातुरनुशोचन्महीपतिः । एवमाज्ञापयामास वेश्याश्चातुर्यशालिनीः ॥१४२॥
मुनिवेषेण गत्वाऽङ्गस्पर्शनैर्वनवोक्तिभिः । प्रलोभ्य खाण्डैश्च फलैरिहानयत मेऽनुजम् ॥१४३॥
इति राजाऽऽज्ञया वेश्या मुनिवेषभृतो द्रुतम् । तदाश्रमपदं जग्मुः सोमचन्द्रेण सेवितम् ॥१४४॥
फलान्यादाय बिल्वादीन्यायान्तमृषिपुत्रकम् । वल्कलाच्छादनं तत्र ददृशुस्तं मृगीदृशः ॥१४५॥
मुनिवेषभृतां तासां सोऽकार्षीदभिवादनम् । ऋजुधीरित्यपृच्छच्च के यूयं ? को व आश्रमः ? ॥१४६॥
ताः प्रोचुर्वयमृषयः पोतनाश्रमवासिनः । तवागताः स्मोऽतिथयः किमातिथ्यं करिष्यसि ? ॥१४७॥
उवाच स फलान्येतान्याहृतानि मया वनात् । यूयमश्नीत पक्वानि मधुराणि महर्षयः ! ॥१४८॥
ताश्चोचुराश्रमपदेऽस्मदीये नेदृशान्यहो । फलानि कश्चिदश्नाति नीरसान्यतिनीरसः ॥१४९॥
अस्मदाश्रमवृक्षाणामीक्षस्व फलवर्णिकाम् । इत्युक्त्वा ता निषेदुर्द्रुमूले तं च न्यषादयन् ॥१५०॥
ताश्च तं प्राशयन् खण्डफलान्यविफलाशयाः । सोऽपि सद्यस्तदास्वादाद्बिल्वाद्युद्वेगभागभूत् ॥१५१॥
एकस्थानस्थितं तास्तं स्वाङ्गस्पर्शमचीकरन् । तत्करं च न्यधुः पीनकुचकुम्भे निजोरसि ॥१५२॥
स ऊचे कोमलमिदं किमङ्गं वो महर्षयः ? । किमुन्नते स्थले एते यौष्माकीणे च वक्षसि ? ॥१५३॥
ताः प्रोचुस्तं स्पृशन्त्यः स्वै. कोमलैः पाणिपल्लवैः । अस्मद्वनफलास्वादे हीदृक् स्यादङ्गमार्दवम् ॥१५४॥
आस्वादितैर्वनफलैरस्मदीयैर्महारसैः । अत्यन्तोपचयादेते जायेते हृदि च स्थले ॥१५५॥

तद्धिमुंचाश्रममिमममसाराणि फलानि च । अस्मदाश्रममागत्य त्वमप्यस्मादृशो भव ॥१५६॥
अथ खण्डफलास्वादलुब्धो वल्कलचीर्यपि । सङ्केतमग्रहीन्मुग्धस्ताभिः सह यियासया ॥१५७॥
संस्थाप्य तापसभाण्डमागाद्वल्कलचीर्यपि । यथोदितं च सङ्केतस्थानं ताभिरधिष्ठितम् ॥१५८॥
तदा च ददृशे वृक्षाधिरूढैश्चरपूरुषैः । आगच्छन्सोमचन्द्रार्षिरकथ्यत च योषिताम् ॥१५९॥
मा शाप्सीदेष इति तास्तस्माद्भीता द्रुतद्रुतम् । नेशुर्मृग्य इव व्याधादमिलन्त्यः परस्परम् ॥१६०॥
स्थानं गते च पितरि कुमारस्ताः पणाङ्गनाः । *नष्टस्वः †स्वमिवान्वेष्टुमुपाक्रंस्ताखिले वने ॥१६१॥
ददर्श रथिनं चैकं स धावन्मृगवद्वने । तमप्यृषिं मन्यमानोऽवदत्ताताभिवादये ॥१६२॥
रथ्यपृच्छत्कुमार ! त्वं क्व गमिष्यसि सोऽवदत् । गमिष्याम्याश्रमपदं महर्षे ! पोतनाभिधम् ॥१६३॥
रथ्यवादीदहमपि यियासुः पोतनाश्रमम् । ततोऽन्वगात्तमग्रेगूमिव वल्कलचीर्यपि ॥१६४॥
स तापसकुमारोऽपि पथि यान्रथिकप्रियाम् । रथाधिरूढां ताततेति भाषते स्म मुहुर्मुहुः ॥१६५॥
रथिनं तत्प्रियाऽवोचत् केयमस्योपचारगीः । यत्तापसकुमारोऽयं मयि तातेति जल्पति ॥१६६॥
रथिकः स्माह मुग्धोऽयमस्त्रीकेऽस्मिन्वने वसन् । स्त्रीपुंसयोरभेदज्ञो नरं त्वामपि मन्यते ॥१६७॥
प्रवीयमानान्दृष्ट्वाऽश्वानूचे वल्कलचीर्यदः । वाह्यन्ते किममी तात ! मृगा नार्हन्त्यदो मुनेः ॥१६८॥

* नष्टधन. । † धनमिव ।

व्याजहाराथ रथिकः स्मित्वा वल्कलचीरिणम् । हंहो कर्मेदमेवैषां मृगाणां नात्र दुष्यति ॥१६९॥
रथिको मोदकान्स्वादून्ददौ वल्कलचीरिणे । सोऽखादच्च तदास्वादसुखमग्नो जगाद च ॥१७०॥
ईदृशानि वनफलान्यहमग्रेऽप्यखादिषम् । महर्षिभिः प्रदत्तानि पोतनाश्रमवासिभिः ॥१७१॥
अभूच्च मोदकास्वादात्पोतनं गन्तुमुत्सुकः । कषायरूक्षैर्नेष्टितः स बिल्वामलकादिभिः ॥१७२॥
रथिनश्चाभवद्युद्धं चौरेणैकेन दोष्मता । रथी गाढप्रहारेण तं चौरं निजघान च ॥१७३॥
चौरोऽप्युवाच घातो हि वैरिणोऽपि प्रशस्यते । मामजैषीः प्रहारेण तेन तुष्टोऽस्मि मानव ! ॥१७४॥
विपुलं धनमत्रास्ति मदीयं तद् गृहाण भोः ! । त्रयोऽप्यारोपयामासुरथ तद् द्रविणं रथे ॥१७५॥
क्रमेण पोतनं प्राप्तो रथी वल्कलचीरिणम् । प्रोवाच प्रेप्सितो यस्ते पोतनाश्रम एष सः ॥१७६॥
किंचिच्च द्रविणं तस्मै रथी तापससूनवे । प्रददौ मार्गसुहृदे स्मयमानो जगाद च ॥१७७॥
अमुष्मिन्नाश्रमपदे न विना द्रव्यमाश्रयः । तदाश्रमार्थी कस्मैचिद्दद्याद् द्रव्यमवक्रये ॥१७८॥
किमत्र यामि याम्यत्र किं वेति सकले पुरे । उत्प्रेक्षमाणो हर्म्याणि बभ्राम मुनिपुङ्गवः ॥१७९॥
नराणामथ नारीणामृषिबुद्ध्या स मुग्धधीः । अभिवादनवातूल उपाहास्यत नागरैः ॥१८०॥
पुरे भ्रमन्नथैकस्या वेश्यायाः स निकेतने । विवेश त्वरितं चापमुक्तः शर इवास्खलन् ॥१८१॥
स तद्वेश्माश्रमं मेने वेश्यां मुनिममन्यत । इति तामप्युवाचैवं तात ! त्वामभिवादये ॥१८२॥

इति च प्रार्थयाश्चक्रे समर्प्य ममोटजम् । अमुष्यावक्रये द्रव्यं महर्षे ! गृह्यतामिदम् ॥१८३॥
त्वदीय उटजो ह्येष गृह्यतामित्युदीर्य सा । तदङ्गसंस्कारकृते *दिवाकीर्तिमजूहवत् ॥१८४॥
अनिच्छतोऽपि तस्यर्षेर्नापितो गणिकाऽऽज्ञया । शूर्पोपमान्पादनखानदुन्वन्नुदतारयत् ॥१८५॥
कृत्वा वल्कलचीरापनयनं सा पणाङ्गना । तं कुमारं स्नपयितुं †वराशिं पर्यधापयत् ॥१८६॥
आजन्म मुनिवेषं मे माऽपनैषीर्महामुने ! । स वल्कलापनयनादिति बाल इवारटत् ॥१८७॥
वेश्याऽवोचन्महर्षीणामतिथीनामिहाश्रमे । उपचारपदं ह्येतत्तत्प्रतीच्छसि किं न हि ? ॥१८८॥
त्वमस्मदाश्रमाचारानीदृशांश्चेत्प्रतीच्छसि । तदा हि लप्स्यसे वस्तुमुटजं मुनिपुत्रक ! ॥१८९॥
ततस्तद्वासलोभेन स तापसकुमारकः । नाङ्गमप्यधुनोन्मन्त्रवशीकृत इवोरगः ॥१९०॥
तत्केशपाशं जटिलं तैलेनाभ्यज्य सा स्वयम् । ऊर्णापिण्डमिव शनैर्विवव्र वरवर्णिनी ॥१९१॥
अभ्यज्य मृज्यमानाङ्गस्तया सोमेन्दुभूरभूत् । कण्डूय्यमान इव गौः सुखनिद्राणलोचनः ॥१९२॥
गणिका स्नपयित्वाऽथ कवोष्णैर्गन्धवारिभिः । तमामोचयदग्र्याणि‡वस्त्राण्याभरणानि च ॥१९३॥
तयैकस्या दारिकायाः पाणिग्रहमकारि सः । साऽभात्तस्य करगता गार्हस्थ्यश्रीरिवाङ्गिनी ॥१९४॥
वधूवरं च गायन्त्यः सर्वास्तस्थुः पणाङ्गनाः । दध्यावृषिकुमारस्तु ऋषयोऽमी पठन्ति किम् ? ॥१९५॥

* नापितम् । † स्थूलवस्त्रम् । ‡ श्रेष्ठानि ।

अवीवदच्च मङ्गल्यान्यातोद्यानि पणाङ्गना । किमेतदिति सम्भ्रान्तः व्यधात्कर्णौ च सोमभूः ॥१९६॥
मुनिवेषजुषो वेश्याः कुमारानयने गताः । यथागतास्तथैवैत्य तदोर्वीशं व्यजिज्ञपन् ॥१९७॥
तैस्तैः प्रकारैः प्रालोभि स कुमारो वनेचरः । इहाऽऽगन्तुं च सङ्केतमस्माभिः सममग्रहीत् ॥१९८॥
अप्यायान्तं तदा दूरे दृष्ट्वा तत्पितरं वयम् । तस्य शापभयान्नष्टाः कातराः स्त्रीस्वभावतः ॥१९९॥
सोऽस्मान् गवेषयन्नस्मत्प्रलोभनवशंवदः । भ्रमन्वनाद्वनं गामी न गामी पितुराश्रमम् ॥२००॥
*अनुशिश्ये विशामीशः किमकार्षमहं जडः । वियोगितौ पितापुत्रौ मया प्राप्तश्च नानुजः ॥२०१॥
पितृपार्श्वात्परिभ्रष्टो जीविष्यति कथं नु सः ? । कियच्चिरं जीवति हि मीनो नीराद्बहिष्कृतः ॥२०२॥
एवं दुःखादरतिभागभूद् भृशमिलापतिः । उद्वेल्लञ्शयनेऽप्यस्थान्मीनः स्तोक इवाम्भसि ॥२०३॥
वेश्यायाः सदने तस्यास्तदा च मुरजध्वनिः । कर्णयोरवनीभर्तुरप्रियातिथितां ययौ ॥२०४॥
ऊचे च राजा नगरं सर्वं मद्दुःखदुःखितम् । लोकोत्तरसुखी कोऽयं यस्याग्रे मुरजध्वनिः ॥२०५॥
स्वार्थनिष्ठोऽथवा सर्वो मृदङ्गध्वनिरेष हि । मुदे कस्यापि मम तु मुद्गराघातसन्निभः ॥२०६॥
सा राज्ञो वाग्जनश्रुत्या पानीयमिव कुल्यया । कर्णालवालं वेश्यायास्तस्यास्तूर्णमपूरयत् ॥२०७॥
प्रसन्नचन्द्रं राजानं साऽथ गत्वा कृताञ्जलिः । वेश्या विज्ञपयामास धाष्ट्योत्कृष्टप्रगल्भवाक् ॥२०८॥

*पश्चात्तापमकरोत् ।

पुरा मे देव ! दैवज्ञोऽकथयद्यस्तवौकसि । ऋषिवेषो युवाऽभ्येति दद्यास्तस्य निजां सुताम् ॥२०९॥
ऋषिवेषो युवा कोऽपि गोवन्न व्यवहारवित् । अभ्यागान्मद्गृहे सोऽद्योद्वाहितः सुतया स्वया ॥२१०॥
तद्विवाहोत्सवे देव ! गीतवाद्यादि मद्गृहे । दुःखिनं त्वां न जानामि यद्यागो मे सहस्व तत् ॥२११॥
अथादिशन्नरान्राजा कुमारं दृष्टपूर्विणः । उपलक्षयितुं तेऽपि गत्वोपालक्षयंश्च तम् ॥२१२॥
अथैत्य ते नरेन्द्राय तं तथैव व्यजिज्ञपन् । राजाऽपि दृष्टसुस्वप्न इवात्यर्थममोदत ॥२१३॥
तया समन्वितं वध्वा करेणुमधिरुह्य च । आनिनाय निजं वेश्म राजा वल्कलचीरिणम् ॥२१४॥
अखिलव्यवहारज्ञो राज्ञाऽकारि क्रमेण सः । पशवोऽपि हि शिक्ष्यन्ते नियुक्तैः किं पुनः पुमान् ॥२१५॥
तस्मै राज्यविभागं च दत्त्वा राजा कृतार्थभूत् । राजकन्याश्च तेनोदवाहयत्स्वर्वधूपमाः ॥२१६॥
वधूभिः सहितः ताभिरखण्डितसमीहितः । रेमे वल्कलचीर्युच्चैः सुखाब्धिजलकुञ्जरः ॥२१७॥
सोऽन्यदा रथिको मार्गसुहृद्वल्कलचीरिणः । तच्चौरदत्तं स्वर्णादि विक्रीणानोऽभ्रमत्पुरे ॥२१८॥
यद्यस्य यस्य चौरेणापहृतं स स तद्धनम् । उपलक्ष्यारक्षकाणामूर्ध्वबाहुरचीकथत् ॥२१९॥
संयम्य च स आरक्षै राजद्वारमनीयत । तं च राजानुजोऽद्राक्षीद् दृशा जीवातुकल्पया ॥२२०॥
तमुपालक्षयद्वल्कचीरी मार्गोपकारिणम् । अमोचयच्च सन्तो हि नोपकारस्य *घस्मराः ॥२२१॥

* खादका ।

सोमचन्द्रोऽपि पुत्रं स्वमपश्यन्नभ्रमद्वने । वृक्षाद् वृक्षं नेत्रजलैः सिञ्चन्निव निरन्तरम् ॥२२२॥
प्रसन्नचन्द्रप्रहितैर्नरैर्वल्कलचीरिणः । प्रवृत्तौ कथितायां च सोऽभूदुद्धानलोचनः† ॥२२३॥
परं सुतवियोगेन तेन तस्यातिरोदनात् । अह्नोऽपि रात्रीकरणमन्धत्वमुदपद्यत ॥२२४॥
स जरत्तापसोऽन्यैश्च तपःसब्रह्मचारिभिः । तापसैस्तपसः प्रान्ते फलादिभिरपार्यत ॥२२५॥
पूर्णेषु द्वादशस्वब्देष्वन्यदैवमचिन्तयत् । प्रसन्नचन्द्रावरजो रजन्यर्धे प्रबोधभाक् ॥२२६॥
विपेदे मन्दभाग्यस्य जातमात्रस्य मे प्रसूः । कुमारभृत्यामकरोत्तातोऽरण्ये वसन्नपि ॥२२७॥
अहर्निशं कटिस्थेन मया दूरं दुरात्मना । तपःकष्टादप्यधिकं कष्टमुत्पादितं पितुः ॥२२८॥
यावत्प्रत्युपकाराय क्षमीभूतोऽस्मि यौवने । दैवादिहागमं तावत्पापोऽहमजितेन्द्रियः ॥२२९॥
पितुरानृण्यभाग्नाहं भवाम्येकेन जन्मना । येनाहं सोढकष्टेन पूतरः* कुञ्जरीकृतः ॥२३०॥
स एवं चिन्तयन्नेव गत्वा राजानमब्रवीत् । देवाहं तातपादानां भृशमुत्कोऽस्मि दर्शने ॥२३१॥
राजा प्रोवाच हे भ्रातः ! पिता हि सम आवयोः ॥तत्पाददर्शनौत्सुक्यं तवेवास्ति ममापि तत् ॥२३२॥
राजा च युवराजश्च ततस्तौ सपरिच्छदौ । तदाश्रमपदं तातपादालंकृतमीयतुः ॥२३३॥
द्वावप्युत्तेरतुर्यानादूचे वल्कलचीर्यदः । दृष्ट्वा तपोवनमिदं राज्यश्रीस्तृणवन्मम ॥२३४॥

† अश्रुरहितलोचन । *लघुर्जलजतु 'पूरो' इति लोके।

सरोवराणि तान्येतान्यक्रीडं यत्र हंसवत्। तेऽमी द्रुमाः कपिरिवाखादिषं यत्फलान्यहम् ॥२३५॥
तेऽमी मे भ्रातर इव पांशुक्रीडासखा मृगाः। महिष्यस्ता इमा मातृनिभा यासामपां पयः ॥२३६॥
स्वामिन्वने सुखान्यस्मिन्कियन्ति कथयाम्यहम्। अप्येकं पितृशुश्रूषासुखं राज्ये कुतो मम ॥२३७॥
तत्राश्रमे विविशतुर्भ्रातरौ तावुभावपि। तातं चाग्रे ददृशतुर्नयनाम्भोजभास्करम् ॥२३८॥
उवाच सोमचन्द्रर्षिं प्रणमन्मेदिनीपतिः। प्रसन्नचन्द्रस्ते सूनुस्तात ! त्वां प्रणमत्यसौ ॥२३९॥
प्रणमन्तं च राजानं सोमः पस्पर्श पाणिना। मार्जन्निव तदङ्गेषु संक्रान्तवर्तनीरजः* ॥२४०॥
पित्रा स्वपाणिपद्मेन स्पृश्यमानोऽवनीपतिः। उत्कोरककदम्बाभो बभूव पुलकांकुरैः ॥२४१॥
राजानुजोऽपि सोमर्षिं प्रणमन्निदमब्रवीत्। प्राप्तो वल्कलचीर्येष त्वत्पादाम्भोजभृङ्गताम् ॥२४२॥
मौलिमाघ्राय तस्याञ्जमिव सोमः प्रमोदभाक्। तमालिलिङ्ग सर्वाङ्गं नगं नव इवाम्बुदः ॥२४३॥
सोमर्षेस्तु तदा कोष्णो बाष्पः प्रादुर्भवन्दृशोः। बभूव तत्क्षणादान्ध्यप्रध्वंसपरमौषधम् ॥२४४॥
दृग्भ्यां तत्कालमालोकवतीभ्यां तावुभौ मुनिः। ददर्श पुनरावृत्तगार्हस्थ्यस्नेहबन्धनः ॥२४५॥
पृच्छति स्म च हे वत्सौ ! सुखं कालोऽतिवाहितः ?। तावूचतुस्त्वत्प्रसादात्कल्याणद्रुमदोहदात् ॥२४६॥
अप्रेक्ष्यमाणं तत्कीदृगभूत्तापसभाण्डकम्। इति वल्कलचीर्यन्तरुटजं प्राविशद् द्रुतम् ॥२४७॥

*मार्गधूलि.।

तानि तापसभाण्डानि स्वोत्तरीयाञ्चलेन सः । प्रतिलेखितुमारेभ प्राग्ममत्वं परिस्पृशन् ॥२४८॥
तस्य चैवमभूच्चिन्ता पात्राणि यतिनामहम् । किं पात्रकेसरिकया क्वापि प्रत्यलिखं पुरा ? ॥२४९॥
इति चिन्तयतस्तस्य जातिस्मृतिरजायत । सस्मार च ह्यःकृतवद्देवमर्त्यभवान्निजान् ॥२५०॥
श्रामण्यं प्राग्भवकृतं स्मरन्वल्कलचीर्यथ । वैराग्यं परमं भेजे मित्रं निर्वाणसम्पदः ॥२५१॥
धर्मध्यानं व्यतिक्रम्य शुक्लध्याने द्वितीयके । स्थितो वल्कलचीर्यापत्केवलज्ञानमुज्ज्वलम् ॥२५२॥
तत्कालकेवलज्ञानी महात्मा सोमचन्द्रभूः । पितुर्भ्रातुश्च विदधे सुधाभां धर्मदेशनाम् ॥२५३॥
सोमचन्द्रः प्रसन्नश्च ततो वल्कलचीरिणम् । सुरार्पितयतिलिङ्गं प्राप्तबोधौ प्रणेमतुः ॥२५४॥

वयं च समवासार्ष्म विहरन्तोऽन्यदा नृप ! । उद्याने पोतनप्रत्यासन्ने नाम्ना मनोरमे ॥२५५॥
प्रत्येकबुद्धः पितरं निजं वल्कलचीर्यपि । अर्पयित्वा तदाऽस्माकं गतोऽन्यत्र नराधिप ! ॥२५६॥
राजा प्रसन्नचन्द्रोऽपि प्रययौ पोतनं पुरम् । तस्थौ च स्थिरवैराग्यो वाग्भिर्वल्कलचीरिणः ॥२५७॥
तदा प्रसन्नचन्द्रः स्वे राज्येऽर्भमपि नन्दनम् । स्वयं न्यस्य विरक्तात्मा प्राव्राजीदस्मदन्तिके ॥२५८॥

एवमाख्याय विरते श्रीवीरे परमेश्वरे । ददर्श देवसम्पातमाकाशे मगधेश्वरः ॥२५९॥
पप्रच्छ श्रेणिको भूयः प्रणम्य जगदीश्वरम् । किमेष देवसम्पातो दृश्यते द्योतिताम्बरः ? ॥२६०॥
स्वाम्यप्याख्यत्प्रसन्नर्षेरुत्पन्नमिह केवलम् । कर्तुं च तन्महिमानममराः सम्पतन्त्यमी ॥२६१॥

पुनर्विज्ञपयामास जिनेन्द्रं मगधाधिपः । भगवन्केवलज्ञानं कस्मिन्व्युच्छेदमेष्यति ॥२६२॥
नाथोऽप्यकथयत्पश्य विद्युन्माली सुरो ह्यसौ । सामानिको ब्रह्मेन्द्रस्य चतुर्देवीसमावृतः ॥२६३॥
अह्नोऽमुष्मात्सप्तमेऽह्नि च्युत्वा भावी पुरे तव । श्रेष्ठिऋषभदत्तस्य जम्बूः पुत्रोऽन्त्यकेवली ॥२६४॥
राजाऽपृच्छदसौ यद्यासन्नप्रच्यवनोऽमरः । तेजोऽस्य तत्किमक्षीणमथाचख्यौ जगद्गुरुः ॥२६५॥
राजन्नेकावताराणामन्तकालेऽपि नाकिनाम् । तेजःक्षयादिच्यवनलिङ्गान्याविर्भवन्ति न ॥२६६॥
तदा मुदाऽनादृताख्यो जम्बूद्वीपपतिः सुरः । शब्देन महताऽवादीदहो ! मे कुलमुत्तमम् ॥२६७॥
तदा च श्रेणिकोऽपृच्छद्भगवन्त कृताञ्जलिः । देवोऽयमेवं स्वकुलप्रशंसां कुरुते कुतः ? ॥२६८॥
सर्वज्ञः कथयामास राजन्नत्रैव पत्तने । इभ्यो गुप्तमतिर्नाम बभूव भुवि विश्रुतः ॥२६९॥
तस्य द्वौ तनुजन्मानावभूतां क्रमयोगतः । ज्यायानृषभदत्ताख्यो जिनदासाभिधो लघुः ॥२७०॥
ज्यायानतिसदाचारो द्यूतादिव्यसनी लघुः । तौ द्वावाद्यन्तयुगयोः प्रत्यक्षे इव वर्ष्मणी ॥२७१॥
ततश्चर्षभदत्तेन जिनदासः सुमेधसा । त्यक्तो दुराचार इति सर्वस्वजनसाक्षिकम् ॥२७२॥
अहमभ्रातृकोऽस्मीति ज्येष्ठः स श्रेष्ठिसूर्वदन् । कनिष्ठस्य शुन इव प्रवेष्टुं न गृहेऽप्यदात् ॥२७३॥
जिनदासोऽन्यदा दीव्यन्नन्येन द्यूतकारिणा । संजातद्यूतकलहे सद्योऽस्त्रेण न्यहन्यत ॥२७४॥
फलं द्यूतविषतरोरायुधाघातवेदनम् । जिनदासोऽन्वभूद्रङ्क इव भूमितले लुठन् ॥२७५॥

स्वजनाश्चर्षभदत्तमूचुर्भो परमार्हत ! । प्राणिमात्रसाधारिण्या दयया जीवयानुजम् ॥२७६॥
पात्रं कीर्त्तेर्विशुद्धायाः स बन्धुः स च नायकः । यो बन्धुं सेवकं चाभ्युद्धरते व्यसनावटात् ॥२७७॥
ऋषभोऽप्यभ्यधाद् गत्वाऽवरजं स्वजनेरितः । समाश्वसिहि हे वत्स ! त्रास्ये त्वामौषधादिभिः ॥२७८॥
जगाद जिनदासोऽपि क्षमस्व मम दुर्नयान् । कार्यमामुष्मिकं कुर्या जीवितव्यास्पृहस्य मे ॥२७९॥
प्रयच्छ परलोकाध्वप्रस्थितस्य ममाधुना । धर्मोपदेशपाथेयमार्यानशनपूर्वकम् ॥२८०॥
ऋषभोऽप्यन्वशादेवमनुजं निर्ममो भव । जप स्वच्छमनाः पञ्चपरमेष्ठिनमस्क्रियाम् ॥२८१॥
एवमाद्यशिष्यानुजन्मानमृषभः स्वयम् । आराधनां सानशनां कारयामास शुद्धधीः ॥२८२॥
विपद्य जिनदासोऽपि तेन पण्डितमृत्युना । जम्बूद्वीपाधिपो जज्ञे देवोऽयं परमर्द्धिकः ॥२८३॥
अयं चास्मद्वचोऽश्रौषीद्यद्राजगृहपत्तने । केवली चरमो भावी जम्बूर्ऋषभदत्तजः ॥२८४॥
श्रुत्वा केवलिनो भावि स्वे कुले जन्म पावनम् । देवोऽयमेवं स्वकुलप्रशंसां कुरुतेतमाम् ॥२८५॥
राजाऽपृच्छत्पुनर्विद्युन्माल्येष भगवन् ! सुरः । किं सुरेष्वतितेजस्वी ग्रहेष्विव दिवाकरः ॥२८६॥
आचख्यौ प्रभुरप्येवं जम्बूद्वीपस्य भारते । मगधाख्ये जनपदे ग्रामे सुग्रामनामनि ॥२८७॥
आर्यवान्राष्ट्रकूटो*ऽभूत्तस्य पत्नी तु रेवती । भवदत्तो भवदेवश्चाभूतां तनयौ तयोः ॥२८८॥ (युग्मम्)

* ग्रामणी ।

भवदत्तो भवाम्भोधेरुत्तारणतरीं दृढाम् । यौवनेऽप्याददे दीक्षां सुस्थिताचार्यसन्निधौ ॥२८९॥
स व्रतं पालयन्खड्गधारोग्रं श्रुतपारगः । व्यहरद् गुरुणा सार्धं द्वैतीयकीव तत्तनुः ॥२९०॥
तस्मिन्गच्छे साधुरेकोऽन्यदाऽऽचार्यान् व्यजिज्ञपत् । अनुजानीत मां यामि यत्र बन्धुजनोऽस्ति मे ॥२९१॥
तत्रास्ति मे लघुभ्राता स भृशं स्नेहलो मयि । प्रव्रजिष्यति मां दृष्ट्वा प्रकृत्याऽग्रेऽपि भद्रकः ॥२९२॥
ततस्तं श्रुतभृत्साधुसमेतं गुरुरादिशत् । परनिस्तारणपरे गुरुः शिष्ये हि मोदते ॥२९३॥
स जगाम पितुर्धाम गतमात्रो ददर्श च । भ्रातुरुद्वाहमारब्धं मन्मथद्रुमदोहदम् ॥२९४॥
विवाहकौतुकव्यग्रः स भ्राता कन्यसो मुनेः । विस्मृतान्यकरणीयो मुद्वातुलस्तदाऽभवत् ॥२९५॥
विवाहसमये प्राप्तमजानन्निव सोऽग्रजम् । नाकार्षीत्स्वागतमपि व्रतादानकथाऽपि का ॥२९६॥
विलक्षः स मुनिर्भूयोऽप्यागमत्सन्निधौ गुरोः । आलोच्याकथयत्सर्वामनुजस्य कथां तथा ॥२९७॥
भवदत्तोऽवददहो ! काठिन्यमनुजन्मनः । ज्यायांसं यदवाज्ञासीदृषिमभ्यागतं गृहे ॥२९८॥
गुरुभक्तेरपि श्रेयः किं नामोद्वाहकौतुकम् ? । तत्परित्यज्य सानन्दः स ज्येष्ठं नान्वियाय यत् ॥२९९॥
कश्चिदूचे तदा साधुर्भवदत्तासि पण्डितः । यदि त्वमनुजन्मानं निजं प्रव्राजयिष्यसि ॥३००॥
भवदत्तोऽब्रवीद्देशे मगधाख्ये गुरुर्यदि । विहरिष्यति तददः कौतुकं दर्शयिष्यते ॥३०१॥
विहरन्तोऽन्यदा जग्मुर्मगधानेव सूरयः । समीरणवदेकत्र श्रमणानां स्थितिर्न हि ॥३०२॥

आचार्यपादान् वन्दित्वा भवदत्तो व्यजिज्ञपत् । स्वजनानित आसन्नान्दिदृक्षे युष्मदाज्ञया ॥३०३॥
भवदत्तं ततश्चैकमपि तत्राऽऽदिशद् गुरुः । एकाकिनोऽप्यर्हति हि विहारो वशिनो मुनेः ॥३०४॥
भवदत्तो जगामाथ स्वेषां संसारिणां गृहे । प्रव्रज्याग्राहणेनानुग्रहीतुमनुजं निजम् ॥३०५॥
नागदत्तस्य तनयां वासुकीकुक्षिसम्भवाम् । उपयेमे भवदेवो भवदत्तानुजस्तदा ॥३०६॥
कृतोद्वाहोत्सवाः सर्वे बन्धवस्तं मुदाऽभ्ययुः । मन्यमाना उत्सवोपर्युत्सवं तत्समागमम् ॥३०७॥
सद्यः पाद्येन तत्पादौ प्रक्षाल्य प्रासुकेन ते । पादोदकमवन्दन्त मत्वा तीर्थोदकाधिकम् ॥३०८॥
भवाब्धिमज्जनभयादवलम्बमिवेच्छवः । लगित्वा पादयोः सर्वे बन्धवस्तं ववन्दिरे ॥३०९॥
मुनिरप्यभ्यधाद्बन्धून् विवाहव्याकुलाः स्थ भोः ! । यामो विहर्तुमन्यत्र धर्मलाभोऽस्तु वोऽनघाः ! ॥३१०॥
तमृषिं बन्धवः सर्वे भक्तपानादिभिर्मुदा । एषणीयकल्पनीयप्रासुकैः प्रत्यलाभयन् ॥३११॥
तदानीं भवदेवोऽपि कुलाचारं प्रपालयन् । सेव्यमानां वयस्याभिर्नवोढां मण्डयन्नभूत् ॥३१२॥
चक्रेऽङ्गरागं प्रेयस्या श्रीचन्दनरसेन सः । चन्द्रातपरसेनेवाकृष्टेन शशिमण्डलात् ॥३१३॥
तस्या मूर्ध्नि च धम्मिल्लं सुमनोदामगर्भितम् । बबन्ध ग्रस्तशशिनः स्वर्भाणोः श्रीमलिम्लुचम् ॥३१४॥
तत्कपोलफलकयोः कस्तूर्या पत्रवल्लरीम् । मीनकेतोरिव जयप्रशस्तिमलिखत्स्वयम् ॥३१५॥
कुचयोर्मण्डनं यावन्नवोढः स प्रचक्रमे । तावदागममश्रौषीद्भवदत्तमहामुनेः ॥३१६॥

स भ्रातृदर्शनोत्तालः* कितवो जयवानिव । द्रागुदस्थाद्विहायार्धमण्डितामपि वल्लभाम् ॥३१७॥
हित्वाऽर्धमण्डितां कान्तां न गन्तुमुचितं तव । तस्याः सखीनामित्युक्तिं स एड इव नाशृणोत् ॥३१८॥
साग्रहं वारयन्तीनां तासां चेत्युत्तरं ददौ । कृत्वा गुरुप्रणिपातं पुनरेष्यामि बालिकाः ! ॥३१९॥
भवदेवस्ततः स्थानात्प्लवमानः प्लवङ्गवत् । अभ्येत्य भवदत्तर्षिं तत्र स्थितमवन्दत ॥३२०॥
वन्दित्वोत्थितमात्रस्यानुजस्य घृतभाजनम् । मुनिः श्रामण्यदानाय सत्यंकारमिवार्पयत् ॥३२१॥
भवदत्तस्ततोऽगारादनगारशिरोमणिः । निर्जगाम धियां धाम मनाग्भ्रातरि दत्तदृक् ॥३२२॥
भवदेवोऽपि तत्सार्पिर्भाजनं धारयन्करे । अन्वगाद्भवदत्तर्षिं तत्पदाम्भोजषट्पदः ॥३२३॥
अन्येऽपि बहवो नार्यो नराश्च भवदेववत् । अन्वयुर्भवदत्तर्षिम् उदूर्मिप्रमदहृदाः ॥३२४॥
मुनिर्न कश्चिद्व्यसृजत् मुनीनामुचितं ह्यदः । अविसृष्टाश्च मुनिना न व्यावव‍ृतिरे जनाः ॥३२५॥
दूरं गत्वा च निर्विण्णास्तं वन्दित्वा महामुनिम् । स्वयमेव व्याजुघुटुरादौ नार्यो नरास्ततः ॥३२६॥
भवदेवस्तु भद्रात्मा चिन्तयामासिवानिदम् । अप्यविसृष्टा व्याघुटन्त्वेते नैते हि सोदराः ॥३२७॥
अहं तु सोदरोऽमुष्य द्वावावां स्नेहलौ मिथः । तदनेनाविसृष्टस्य न्याय्यं व्याघुटनं न मे ॥३२८॥
भक्तपानादिभारेणाक्रान्तोऽयं नूनमग्रजः । ततो ममार्पयद्वोढुं प्रसीदन्घृतभाजनम् ॥३२९॥

---

* उत्सुक ।

चिरादभ्यागतं श्रान्तं ज्यायांसं भ्रातरं मुनिम्। अमुक्त्वा तदमुं स्थाने न निवर्तितुमुत्सहे ॥३३०॥
माऽसौ वलेदिति मनोव्याक्षेपार्थं कनीयसः। गार्हस्थ्यवार्ता प्राक्रंस्त भवदत्तो महामुनिः ॥३३१॥
एते ते ग्रामपर्यन्तपादपाः पान्थमण्डपाः। भ्रातरावां वानरवद्येषु स्वैरमरंस्वहि ॥३३२॥
सरोवराणि तान्येतान्यावाभ्यां यत्र शैशवे। अकारि नलिनीनालैर्हारश्रीः कण्ठयोर्मिथः ॥३३३॥
एताश्च ग्रामपर्यन्तभूमयो भूरिवालुकाः। यत्रावां वालुकाचैत्यक्रीडां प्रावृष्यकृष्वहि ॥३३४॥
भवदत्तोऽनुजन्मानमेवमध्वनि वार्तयन्। जगाम ग्राममाचार्यपादपद्मैः पवित्रितम् ॥३३५॥
सानुजं भवदत्तर्षिं वसतिद्वारमागतम्। निरीक्ष्य क्षुल्लकाः प्रोचुः कृतवक्रोष्ठिका मिथः ॥३३६॥
दिव्यवेषधरो नूनमनुजो मुनिनाऽमुना। प्रव्राजयितुमानीतः स्वं सत्यापयितुं वचः ॥३३७॥
सूरिरूचे भवदत्त! तरुणः कोऽयमागतः। सोऽवदद्भगवन्दीक्षां जिघृक्षुर्मेऽनुजो ह्यसौ ॥३३८॥
सूरिणा भवदेवोऽपि पप्रच्छे किं व्रतार्थ्यसि?। मा भूद् भ्राता मृषावादीत्येवमित्यवदत्स तु ॥३३९॥
भवदेवस्तदैवाथ पर्यव्राज्यत सूरिभिः। साधुभ्यां सहितोऽन्यत्र विहर्तुं च न्ययोज्यत ॥३४०॥
भवदेवः किमद्यापि नायात? इति चिन्तया। स्वजनाः पृष्ठतोऽभ्येत्य भवदत्तं बभाषिरे ॥३४१॥
भवदेवोऽन्वगाद्युष्मान्प्रियां हित्वाऽर्धमण्डिताम्। तन्मुदे किं त्वनायाते तस्मिन्जीवन्मृता वयम् ॥३४२॥

खिद्यते चक्रवाकीव सा युक्तिविधवा* धूः । विश्राम्यति न तस्याश्च नयनाम्बु [1]सिराम्बुवत् ॥३४३॥
एकाक्यस्माननापृच्छ्य भवदेवः क्वचिद्व्रजेत् । इति स्वप्नेऽप्यसम्भाव्यं गतश्च क्वापि किं ह्यदः ॥३४४॥
नष्टस्वानिव ग्रहिलान्भवदेवमपश्यतः । अस्माननुगृहाणर्षे ! कथय क्व स तेऽनुजः ? ॥३४५॥
धर्मोदर्कैच्छुरनुजस्योचे मिथ्याऽप्यथो मुनिः । यात आयातमात्रोऽपि न विद्मः स ययौ क्वचित् ॥३४६॥
गतोऽन्येनाध्वना किं स ? इति जल्पन्त आशु ते । प्रत्यावर्तन्त दीनास्या दस्युभिर्मुषिता इव ॥३४७॥
तां नवोढां हृदि ध्यायन्भ्रातृभक्त्यैव केवलम् । प्रव्रज्यां भवदेवोऽपि सशल्यां पर्यपालयत् ॥३४८॥
महर्षिर्भवदत्तोऽपि कालेन बहुनेयुषा । विपेदेऽनशनं कृत्वा सौधर्मे च सुरोऽभवत् ॥३४९॥
भवदेवोऽप्यदो दध्यौ नागिला प्रेयसी मम । प्रेयांस्तस्या अहमपि विरहो ही द्वयोरभूत् ॥३५०॥
भ्रातुरेवोपरोधेन व्रतं चिरमपालयम् । तस्मिंस्तु स्वर्गते किं मे व्रतेनायासहेतुना ॥३५१॥
न तथा व्रतकष्टेन दुष्करेणास्मि पीडितः । यथा तद्विरहेणोच्चैर्भविष्यति कथं नु सा ? ॥३५२॥
गजीव वारीपतिता†पद्मिनीव हिमाविला । मरालीव मरुगता वल्लीव ग्रीष्मतापभाक् ॥३५३॥
यूथभ्रष्टेव हरिणी पाशबद्धेव शारिका । सा मन्ये दैन्यभाग्लोकानुकम्प्यैव भविष्यति ॥३५४॥ (युग्मम्)
यदि प्राप्स्यामि जीवन्तीं तां प्रियामायतेक्षणाम् । तदद्यापि हि गार्हस्थ्यातृप्तो रंस्ये तया सह ॥३५५॥

* अपेक्षया विधवा । † वारी गजबधनस्थानम् ।

१ रिवाबवत् C 1 । शिराबुवत् C 2 । शिराबुवत् C 3 ।

चिन्तातन्तुभिरेवं स्वं नियच्छन्नूर्णनाभवत् । स्थविरर्षीननापृच्छय भवदेवो विनिर्ययौ ॥३५६॥
तूर्णं जगाम च ग्रामं सुग्रामं राष्ट्रकूटभूः । तस्थौ च संवृतद्वारबाह्यायतनसन्निधौ ॥३५७॥
गन्धमाल्यधरा नारी ब्राह्मण्या सममेकया । तत्राभ्यागान्मुनिरसावित्यवन्दत तं च सा ॥३५८॥
पप्रच्छ भवदेवस्तां राष्ट्रकूटः स आर्यवान् । पत्नी च रेवती तस्य भद्रे ! जीवति वा न वा ? ॥३५९॥
कथयामास साप्येवमार्यवान्रेवती च सा । व्यपद्येतां तयोश्चागाद् भूयान्कालो विपन्नयोः ॥३६०॥
भूयोऽप्यपृच्छत्स मुनिरार्यवत्सूनुना प्रिया । भवदेवेन या त्यक्ता नवोढा साऽस्ति वा न वा ? ॥३६१॥
सा दध्यौ भवदेवोऽयं नूनमात्तव्रतोऽग्रजात् । यदि वा वार्तयाम्येतमनेनस[*][1]मिहागतम् ॥३६२॥
उवाच चिन्तयित्वैवमार्यवद्रेवतीसुतः । त्वमेव भवदेवोऽसि ? किमिहागास्तपोधन ! ॥३६३॥
भवदेवोऽवदत्साधुः त्वयाऽहमुपलक्षितः । स एव भवदेवोऽस्मि नागिलाजीवितेश्वरः ॥३६४॥
तदाऽग्रजोपरोधेन तां विमुच्य निरीयुषा । अनिच्छतापि हि मया व्रतमादायि दुष्करम् ॥३६५॥
विपन्ने साम्प्रतं भ्रातर्यहमङ्कुशवर्जितः । नागिला सा कथमभूदित्यागां तद्दिदृक्षया ॥३६६॥
नागिला चिन्तयामास चिराद् दृष्टां हि मामसौ । न हि प्रत्यभिजानाति परावृत्तवयोगुणाम् ॥३६७॥

---

[*] पापरहितम् ।

१ °दाय C 1 । C 2 ॥-

आत्मानं ज्ञापयाम्येनमिति प्रोवाच नागिला । नागिला साऽस्म्यहं हन्त नवोढाऽत्याजि या त्वया ॥३६८॥
एतावता च कालेन यौवनेऽपि व्यतीयुषि । किं नाम मयि लावण्यं पुण्याशय ! विमृश्यताम् ॥३६९॥
मुक्त्वा रत्नत्रयं स्वर्गापवर्गफलदायकम् । वराटिकामात्रनिभां मा ग्रहीर्मां महाशय ! ॥३७०॥
अत्यन्तघोरनरकपातप्रतिभुवामहो । विषयाणां स्मरास्त्राणां मा गास्त्वं भेदनीयताम् ॥३७१॥
ग्राहितोऽसि व्रतं भ्रात्रा छद्मनाऽपि हितैषिणा । तमप्यनाप्तं मा मंस्था मयि पापखनौ [2]रतः ॥३७२॥
तदद्यापि निवर्तस्व गुरुपादाननुव्रज । मयि रागकृतं चाघमालोचय तदन्तिके ॥३७३॥
यावदेवं भवदेवं नागिला भृशमन्वशात् । ब्राह्मण्या दारकस्तावत्तत्राऽऽगाद् भुक्तपायसः ॥३७४॥
ऊचे च पायसं भुक्तं यन्मयाऽद्य सुधोपमम् । तद्वमिष्याम्यहं मातरधो धारय भाजनम् ॥३७५॥
निमन्त्रितोऽहमन्यत्र लप्स्ये तत्र च दक्षिणाम् । अवान्तपायसो मातर्भोक्तुं शक्ष्यामि नो पुनः ॥३७६॥
आदाय दक्षिणामत्रागतो भूयोऽपि पायसम् । स्वयं वान्तं स्वयं भोक्ष्ये का ह्रीः स्वोच्छिष्टभोजने ॥३७७॥
ब्राह्मण्युवाच वान्ताशी जुगुप्स्यस्त्वं भविष्यसि । अलं जुगुप्सनीयेन कर्मणाऽनेन दारक ! ॥३७८॥
तच्छ्रुत्वा भवदेवोऽपि निजगादेति हे बटो ! । त्वं भविष्यसि वान्ताशी निकृष्टः कुक्कुरादपि ॥३७९॥
नागिलोवाच तमृषिं यद्येवं वेत्सि वक्षि च । तन्मासुद्वम्य किमिति भूयोऽप्युपबुभुक्षसे ॥३८०॥

१ °शया C 1 । C 2॥ २ स्थित C 1 ॥

मांसासृगस्थिविण्मूत्रपूर्णाऽहमधमाधमा । वान्तादपि जुगुप्स्याऽस्मि मामिच्छन् किं न लज्जसे ? ॥३८१॥
पश्यस्यद्रौ ज्वलदग्निं न पुनः पादयोरधः । यत्परं शिक्षयस्येवं न स्वं शिक्षयसि स्वयम् ॥३८२॥
का हि पुंगणना तेषां येऽन्यशिक्षाविचक्षणाः । ये स्वं शिक्षयितुं दक्षास्तेषां पुंगणना नृणाम् ॥३८३॥
भवदेवोऽवदत्साधु शिक्षितोऽस्मि त्वयानघे ! । आनीतः पथि जात्यन्ध इव *यानहमुत्पथे ॥३८४॥
तदद्य स्वजनान्दृष्ट्वा यास्यामि गुरुसन्निधौ । व्रतातीचारमालोच्य तप्स्येऽहं दुस्तपं तपः ॥३८५॥
नागिलाऽप्यवदत् किं ते स्वजनैः स्वार्थभाग्भव । मूर्तिमन्तो हि ते विघ्ना भाविनो गुरुदर्शने ॥३८६॥
तद् गच्छ गुरुपादान्ते दान्तात्मा व्रतमाचर । प्रव्रजिष्याम्यहमपि व्रतिनीजनसन्निधौ ॥३८७॥
भवदेवोऽथ वन्दित्वाऽर्हद्बिम्बानि समाहितः । गत्वा गुर्वन्तिकेऽकार्षीत्कृत्यमालोचनादिकम् ॥३८८॥
श्रामण्यं निरतीचारं भवदेवः प्रपालयन् । कालं कृत्वाऽऽदिकल्पेऽभूच्छक्रसामानिकः सुरः ॥३८९॥

इतश्च भवदत्तस्य जीवः स्वर्गात्परिच्युतः । विजये पुष्कलावत्यां विदेहोर्वीशिरोमणौ ॥३९०॥
नगर्यां पुण्डरीकिण्यां वज्रदत्तस्य चक्रिणः । यशोधराभिधानाया राज्ञ्याः कुक्षाववातरत् ॥३९१॥ (युग्मम्)
तस्मिन्नुपागते कुक्षिसरोवरमरालताम् । अभूद्यशोधरादेव्या दोहदोऽम्भोधिमज्जने ॥३९२॥
ततश्चाम्भोधिसध्रीच्यां सीतानद्यां महीपतिः । क्रीडयित्वा महादेवीं तद्दोहदमपूरयत् ॥३९३॥

[1] गच्छन् ।

सम्पूर्णदोहदा साऽथ महादेवी यशोधरा । वल्लीव कलयामास लावण्यमधिकाधिकम् ॥३९४॥
पूर्णे च समयेऽसूत महिषी चक्रवर्तिनः । उत्तमं तनुजन्मानं गङ्गेव कनकाम्बुजम् ॥३९५॥
यशोधराया उत्पन्नदोहदानुगतां नृपः । सागरदत्त इत्याख्यां तस्याकृत शुभेऽहनि ॥३९६॥
धात्रीभिर्लाल्यमानश्च पयःपानादिकर्मभिः । शाखीवासादयद् वृद्धिं राजपुत्रः क्रमेण सः ॥३९७॥
वक्तुं प्रवीणतां प्राप्तः स कुमारोऽध्यजीगपत् । उद्यम्य काञ्चनलतामुत्सुकं शुकसारिकाः ॥३९८॥
प्रौढीभवन्सुहृद्भिश्च स रेमे रत्नकन्दुकैः । पीनांसभूमिकारङ्गनृत्यन्माणिक्यकुण्डलः ॥३९९॥
समये स नरेन्द्रेण नियुक्तो गुरुसन्निधौ । गुरोः कलाः परिपपौ कूपादप इवाध्वगः ॥४००॥
विश्वस्यापि भृशं नेत्रकैरवाणि प्रमोदयन् । शशीव सम्पूर्णकलः प्रतिपेदे स यौवनम् ॥४०१॥
स्वयंवरागताः कन्याः पितृभ्यां पर्यणायि सः । एता हि पात्रमायान्ति रत्नाकरमिवापगाः ॥४०२॥
अनड्वाहीभिरुक्षेव करेणुभिरिव द्विपः । ताराभिरिव शीतांशुस्ताभिः सममरंस्त सः ॥४०३॥
नारीभिरन्यदा क्रीडन्प्रासादे मदनोपमः । मेरुसन्निभमाकाशे स ददर्शाभ्रमण्डलम् ॥४०४॥
अचिन्तयच्च यादृग्हि श्रूयते मेरुरागमे । तादृगभ्रमयः सोऽयं काप्यहो रमणीयता ॥४०५॥
एवं मेरुनिभं मेघमण्डलं तस्य पश्यतः । नाभूदवाङ्मुखी दृष्टिर्विलग्नेव तदन्तरे ॥४०६॥
कुमारोऽपश्यदुत्पश्यो यावत्तन्मेघमण्डलम् । वारिबुद्बुदवत्तावत्तद्विलीय ययौ क्वचित् ॥४०७॥

कुमारोऽचिन्तयच्चैवं क्षणिकोऽयं यथाऽम्बुदः तथा शरीरमप्येतत्का कथा सम्पदां पुनः ॥४०८॥
यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने यन्मध्याह्ने न तन्निशि । निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन्ही पदार्थानामनित्यता ॥४०९॥
विवेकजलसिक्तस्य मर्त्यजन्ममहीरुहः । सकामनिर्जरासारं तद् गृह्णामि व्रतं फलम् ॥४१०॥
सुधीः सागरदत्तोऽथ परं वैराग्यमुद्वहन् । व्रतादानाय पितरावापप्रच्छ कृताञ्जलिः ॥४११॥
पितरावूचतुर्वत्स ! यौवनेऽपि व्रताग्रहः । वीणायां वाद्यमानायां शास्त्रपाठ इवैष ते ॥४१२॥
इदानीं युवराजस्त्वं राजाऽपि त्वं भविष्यसि । राज्यं चिरं पालयित्वा गृह्णीयाः समये व्रतम् ॥४१३॥
सागरो व्याहरत्पूज्याः ! प्रत्याख्याता मया श्रियः । परिव्रज्यामुपादातुं तदादिशथ किं न माम् ? ॥४१४॥
इत्याग्रहकुठारेण प्रेमपाशं तयोः सुधीः । चिच्छेदाथान्वमन्येतां तौ व्रतग्रहणाय तम् ॥४१५॥
अनेकराजतनयपरिवारोऽथ सागरः । आददे व्रतममृतं सागराचार्यसन्निधौ ॥४१६॥
विविधाभिग्रहधरो गुरुसेवापरायणः । क्रमात्सागरदत्तोऽभूच्छ्रुतसागरपारगः ॥४१७॥
न दूरे तपसः किञ्चिदिति प्रत्ययकारकम् । अवधिज्ञानमुत्पेदे सागरस्य तपस्यतः ॥४१८॥

भवदेवस्य जीवोऽपि पूर्णे काले दिवश्च्युतः । तत्रैव विजये वीतशोकायां पूःशिरोमणौ ॥४१९॥
पद्मरथाभिधानस्य महर्द्धेरवनीपतेः । महिष्यां वनमालायां शिवो नाम सुतोऽभवत् ॥४२०॥ (युग्मम्)
स पाल्यमानो यत्नेन कल्पद्रुम इवोद्गतः । क्रमेण कलयन्वृद्धिं काकपक्षधरोऽभवत् ॥४२१॥

साक्षिमात्रीकृतगुरौ तस्मिन्प्राज्ञशिरोमणौ । मिथो गृहीतसङ्केता इव सश्चक्रमुः कलाः ॥४२२॥
यौवने पर्यणैषीत्स राजकन्याः कुलोद्भवाः । सम्पृक्तश्चाशुभक्ताभिर्लताभिरिव पादपः ॥४२३॥
सकलत्रस्य चान्येद्युः प्रासादे तस्य तस्थुषः । सागरर्षिः पुरीबाह्योपवने समवासरत् ॥४२४॥
तत्र कामसमृद्धाख्यः सार्थवाहो महामुनिम् । तं प्रत्यलाभयद्भक्त्या मासक्षपणपारणे ॥४२५॥
गृहे कामसमृद्धस्य पात्रदानप्रभावतः । वसुधाराऽपतद्व्योम्नः पात्र दानाद्धि किं न हि ? ॥४२६॥
शिवस्तदद्भुतं श्रुत्वा गत्वाऽवन्दत तं मुनिम् । निषसाद च तत्पादपद्मान्ते राजहंसवत् ॥४२७॥
चतुर्दशानां पूर्वाणामाकरः सागरोऽपि हि । शिवस्य सपरीवारस्याचख्यौ धर्ममार्हतम् ॥४२८॥
विशेषतश्च संसारासारतां तस्य धीमतः । गमयामास स मुनिर्मनसि स्फटिकामले ॥४२९॥
शिवोऽपृच्छच्च तमृषिं किं प्राग्भवभवः प्रभो ! । स्नेहो मे पश्यतो यत्त्वां हर्षोऽयमधिकाधिकः ? ॥४३०॥
ज्ञात्वा चावधिनाऽऽचख्यौ मुनिस्त्वं पूर्वजन्मनि । कनिष्ठोऽभूर्मम भ्राता प्राणेभ्योऽप्यतिवल्लभः ॥४३१॥
मया प्रव्रजितेन त्वमनिच्छन्नपि हि व्रतम् । उपायेन ग्राहितोऽसि परलोकहितेच्छया ॥४३२॥
अभूव च सुरावावां सौधर्मे परमर्द्धिकौ । कुमुदेन्द्वोरिव प्रीतिस्तत्राप्यभवदावयोः ॥४३३॥
भवेऽस्मिन्वीतरागोऽहं स्वे परे वा समानदृक् । त्वं त्वद्यापि सरागत्वात्प्राग्भवस्नेहभाग्मयि ॥४३४॥
शिवोऽवदद्व्रतादानाद्देवोऽभूवं पुराऽप्यहम् । तदिहापि भवे पूर्वभववद्देहि मे व्रतम् ॥४३५॥

आपृच्छ्य पितरौ यावदायामि व्रतहेतवे । पूज्यास्तावदिहैवाध्वं* यूयं मयि कृपालवः ॥४३६॥
गत्वा शिवकुमारोऽपि पितृपादान्व्यजिज्ञपत् । अद्य सागरदत्तर्षेः शुश्रुवे देशना मया ॥४३७॥
तत्प्रसादादधिगता भवस्यासारता मया । ततस्तस्माद्विरक्तोऽस्मि वीवधादिव† भारिकः ॥४३८॥
तत्सर्वथाऽनुजानीथ प्रव्रज्याग्रहणाय माम् । प्रत्यूषो मोहतमसः शरणं सागरोऽद्य मे ॥४३९॥
पितरावूचतुर्वत्स ! व्रतं माऽऽदत्स्व यौवने । नाद्यापि पूर्यतेऽस्माकं त्वत्क्रीडाऽऽलोकजं सुखम् ॥४४०॥
अत्यन्तं निर्ममोऽभूस्त्वं कथमेकपदेऽपि हि । असंस्तुतानिवायुष्मन्यदस्मान्विजिहाससि ॥४४१॥
यदि भक्तोऽसि यद्यस्मानापृच्छ्य च गमिष्यसि । तन्नकारैकवातूला भवित्री रसनाऽऽवयोः ॥४४२॥
इत्यनादिशतोः पित्रोः शिवो गन्तुमनीश्वरः । तत्रैव सर्वसावद्यनियमाद्भावयत्यभूत् ॥४४३॥
मुनेः सागरदत्तस्य शिष्योऽहमिति निश्चयी । तस्थौ स मौनमालम्ब्य मौनं सर्वार्थसाधकम्[1] ॥४४४॥
बलादप्यासितो भोक्तुं न किञ्चिद् बुभुजे च सः । मह्यं न रोचते किञ्चिदित्येकम[2]वदन्मुहुः ॥४४५॥
एवमुद्वेजितो राजा शिवेन शिवकाङ्क्षिणा । इभ्यपुत्रं दृढधर्मं समाहूय समादिशत् ॥४४६॥
व्रतार्थमविसृष्टेन शिवेन तनयेन मे । मौनमालम्बितं वत्स ! ग्रावनिष्ठुरचेतसा ॥४४७॥

---

* उपविशत । † "कावड" इति भाषायाम् ।
१ °धनम् C 1–2 ॥ २ °त्येवम° C. 1–3 ॥

मोघफाल इव द्वीपी करीव प्रभवन्मदः। भोजनायापि यतते न स चाटुशतैरपि ॥४४८॥
यथा वेत्सि तथा वत्स ! वत्सं भोजय मे शिवम्। त्वया चैवं कृतवता किं किं नोपकृतं मम ॥४४९॥
मज्जीवपक्षिणं कायकुलायाद्गन्तुमुत्सुकम्। प्रत्याशापाशबन्धेन नियन्त्रय महाशय ! ॥४५०॥
दृढधर्मोऽपि तामाज्ञामुररीकृत्य भूपतेः। ययौ शिवकुमारस्याभ्यर्णं बुद्धिजलार्णवः ॥४५१॥
कृत्वा नैषेधिकीं तस्य सदनान्तः प्रविश्य च। क्रमज्ञः प्रतिचक्राम स ऐर्यापथिकीं सुधीः ॥४५२॥
वन्दनं द्वादशावर्तं दत्त्वा भूमिं प्रमार्ज्य च। निषसाद वदन्नुच्चैरनुजानीहि मामिति ॥४५३॥
शिवोऽवददहो इभ्य ! साधूनामुपसागरम्। विनयोऽयं मया दृष्टः स कथं मयि युज्यते ? ॥४५४॥
इभ्यपुत्रोऽभ्यधात्सम्यग्दृष्टीनां यत्र कुत्रचित्। समभावो हि योग्यः स्यात्सर्वस्य विनयस्य भोः ! ॥४५५॥
यस्य कस्यापि हि स्वान्तं समभावाधिवासितम्। स वन्दनार्हो भवति दोषाऽऽशंकापि नेह भोः ! ॥४५६॥
कुमार ! किं तु पृच्छामि प्रष्टुमेवाहमागमम्। रसज्वरातुरेणेव किं त्वयाऽत्याजि भोजनम् ॥४५७॥
शिवोऽवदद्विसृजतो व्रताय पितरौ न माम्। ततो भावयतीभूय स्थितोऽस्मि विरतो गृहात् ॥४५८॥
यथा ह्युद्विज्य पितरौ विहाय ममतां मयि। व्रतार्थमादिशतो मामतः कुर्वे न भोजनम् ॥४५९॥
इभ्योऽभ्यधत्त यद्येवं तद् भुञ्जीथा महाशय !। धर्मो ह्यधीनो देहस्य देहश्चाहारसम्भवः ॥४६०॥
आहारं निरवद्यं हि गृह्णन्त्यपि महर्षयः। शरीरे तु निराहारे दुष्करा कर्मनिर्जरा ॥४६१॥

कुमारोऽप्यभ्यधादिभ्यसूनो ! सम्पद्यते मम । नाहारोऽप्यनवद्योऽत्र तस्माद्वरमभोजनम् ॥४६२॥
इभ्योऽवादीद् गुरुस्त्वं मे शिष्यस्तेऽहमतः परम् । सर्वं सम्पादयिष्यामि निरवद्यं यदिच्छसि ॥४६३॥
व्याजहार कुमारोऽपि सखे ! तर्हि निरन्तरम् । षष्ठं कृत्वा करिष्येऽहमाचामाम्लेन पारणम् ॥४६४॥
शिवस्य भावयतिनस्तदाद्यपि महेभ्यसूः । विनयं कर्तुमारेभे सामाचारीविचक्षणः ॥४६५॥
तपस्यतः शिवस्यापि ययौ द्वादशवत्सरी । मोहात्पितृभ्यां न पुनर्व्यसर्जि गुरुसन्निधौ ॥४६६॥
मृत्वा शिवकुमारोऽभूद् ब्रह्मलोके महाद्युतिः । विद्युन्माल्यभिधानोऽयमिन्द्रसामानिकः सुरः ॥४६७॥
आसन्नच्यवनस्यास्य पुण्यात्मन इयं द्युतिः । पुराऽभूद् ब्रह्मलोकेन्द्रसमानद्युतिरेष हि ॥४६८॥
च्युत्वाऽयमत्रैव पुरे सप्तमेहऽन्यतो दिनात् । ऋषभेभ्यस्य तनयो जम्बूर्भाव्यन्तकेवली ॥४६९॥
तदा चोपप्रसन्नर्षिं विद्युन्मालिनि जग्मुषि । चतस्त्रस्तत्प्रिया एवं पप्रच्छुस्तं महामुनिम् ॥४७०॥

१ यावत् द्वादशवत्सरी पष्ठ° C 2॥ २ चाम्लेन वृ C 1॥ °चाम्लेनेह C 3॥

इतोऽस्माकं वियुक्तानां विद्युन्मालिदिवौकसा[1]। समागमः पुनः क्वापि भविष्यत्यथवा न वा ? ॥४७१॥
ऋषिराख्यत्वसन्तीभ्याश्चत्वारोऽत्रैव[2] पत्तने। समुद्रप्रियः[3] समुद्रः कुबेरः सागरोऽपि च ॥४७२॥
तेषां चतुर्णां चतस्रः पुत्र्यो यूयं भविष्यथ। मर्त्यत्वमीयुषा भावी तत्र वोऽनेन सङ्गमः ॥४७३॥

सुरासुरैः सेवितपादपद्मः
श्रीवर्धमानोऽपि कृपासमुद्रः।
भव्याब्जसूर्योऽतिशयर्द्धिपात्रं
विहर्तुमन्यत्र ततो जगाम ॥४७४॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते [4]परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते महाकाव्ये
जम्बूस्वामिपूर्वभववर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥



१ °कस. M ॥ २ ख्यच्च स° M ॥ ३ °मुद्र प्रियस° M ॥ ४ त्रिषष्टिशलाकाग्ये परि° C 2॥

द्वितीयः सर्गः



इतश्च नगरे राजगृहे राजशिरोमणिः । श्रेणिकोऽपालयद्राज्यं प्राज्यश्रीर्मघवानिव ॥१॥
तत्पर्षद्भूषणं श्रेष्ठी श्रेष्ठो धर्म्येण[1] कर्मणा । नाम्ना ऋषभदत्तोऽभून्नरर्षभधुरन्धरः ॥२॥
अर्हन्देवो गुरुः साधुरित्येव स दिवानिशम् । जजाप सर्वाभिमतसिद्धि[2]मन्त्राक्षरोपमम् ॥३॥
गुरुवाक्कतकक्षोदसंसक्तमभवत्सदा । प्रशान्तदुर्ध्यानमलं तन्मनोवारि निर्मलम् ॥४॥
सरोवरस्येव जलं फलं मार्गतरोरिव । तस्यैश्वर्यमभूत्केषां केषां नैवोपकारकम् ॥५॥
धर्मानुसारिणी मत्या गत्या [3]हंस्यनुहारिणी । सधर्मचारिणी तस्य धारिणीत्याख्ययाऽभवत् ॥६॥
तस्या गुणेषु भूयःसु गाम्भीर्यादिषु सत्स्वपि । प्रयत्नः सुष्ठु शीलेऽभूच्छीलाङ्का हि कुलस्त्रियः ॥७॥
सती संवीतसर्वाङ्गा नीरंगीशोभिनी च सा । संचचार करस्पर्शासहेव तरणेरपि ॥८॥
गुणैरत्यन्तविमलैः सा शीलविनयादिभिः । पत्युर्न्यलीयत हृदि मध्येबार्धीव जाह्नवी ॥९॥
नखमांसवदन्योन्यं तयोर्नित्यावियुक्तयोः । अभूदखण्डितं प्रेम द्विशरीरैकचेतसोः ॥१०॥

१ वर्मेण C 1-3 ॥ २ °सिद्ध° C 3 ॥ ३ हसानु C 1 । हस्यनुसारिणी C 2 । हसानुसारिणो C 3 ।

धारिणी चिन्तयामास निरपत्या परेद्यवि । धत्ते जन्म ममापुत्रं नैष्फल्यमवकेशिवत् ॥११॥
शैत्यमुत्पादयन्नङ्गे सुधारस इवोच्चकैः । रमते तनुजन्माऽङ्के धन्यानामेव योषिताम् ॥१२॥
गृहवासो हि पापाय तत्रापि सुतवर्जितः । तदेतत्खल्वलवणकुभोजननिभं मम ॥१३॥
किं चिन्ताविधुराऽसीति पत्या पृष्टा तु धारिणी । दुःखं न्यवेदयत्तस्मै तन्मनःसम्प्रधारितम् ॥१४॥
पुत्रचिन्तोद्भवं दुःखं सा पत्यौ यद्यपि न्यधात् । तथापि न क्षीणमभूदभवत्प्रत्युताधिकम् ॥१५॥
नित्यं हृदयशल्येन तेन दुःखेन धारिणी । कृशतां कलयामास द्वितीयेन्दुकलातुला ॥१६॥
विसिस्मारयिषुर्दुःखं तत्तस्याः पतिरन्यदा । उवाच स्नेहजलधिस्रोतःसन्निभया गिरा ॥१७॥
यामोऽद्य वैभारगिरिं तत्रोद्याने कृशोदरि ! । रमामहे रम्यतया नन्दनोद्यानसन्निभे ॥१८॥
धारिणी पतिवाचं तां तथेति प्रत्यपद्यत । मान्या हि पतिवाग्दुःखविस्मारश्च भवत्विति ॥१९॥
ततश्चर्षभदत्तोऽपि सद्यः सज्जीकृते रथे । आरुरोह तया हंसरोमकोमलतूलिके ॥२०॥
अपि संयोजिताजिताणमनर्वाणं* महारथम् । अधिरूढौ दम्पती तौ प्रास्थिषातां गिरिं प्रति ॥२१॥
वाह्यालीभूरियं पत्नि ! श्रेणिकस्य महीपतेः । वाह्यमानतुरङ्गाणां फेणबुद्बुददन्तुरा ॥२२॥
राज्ञो मत्तद्विपालानरूपतां सूचयन्त्यमी । तद्बन्धत्वचितस्कन्धा नगरप्रान्तपादपाः ॥२३॥

१ सोऽपि C 2 । °सोऽथ C 3 ॥ २ देव C 2 । °देव C 3 ॥ ३ °धे स्रो° C 1–3 ॥

* अनर्वाण—श्रेष्ठम् ।

अमूनि गोकुलान्यार्ये ! रम्याण्यृषभभाङ्कृतैः । उत्कर्णतर्णककुलान्युद्दामरथनिस्वनात् ॥२४॥
एते च मार्गे तरुणसहकाराः कृशोदरि ! सारस्वतौषधीभूतपल्लवाः पिकयोषिताम् ॥२५॥
मृगा वायुमिवारूढा रथनिर्घोषभीरवः । प्रायः प्रयान्त्यमी व्योम्नि जिहासन्तो महीमिव ॥२६॥
मृगाक्षीक्षुवणेष्वेतेऽरघट्टा वारिवर्षिणः । मूर्त्यन्तरजुषः पृथ्व्यां पुष्करावर्तका इव ॥२७॥
दृष्टव्यदर्शनैरेवं पत्नीं पथि विनोदयन् । जगाम वैभारगिरिमृषभः सपरिच्छदः ॥२८॥ (सप्तभिः कुलकम्)
जायापती तावव्यग्रावुत्तेरतुरथो रथात् । वैभारपर्वतोद्यानदिदृक्षानृत्यदाशयौ ॥२९॥
प्रत्येकं नामधेयानि पृच्छन्तीमध्वशाखिनाम् । स्वादूनि निर्झरजलान्याचामन्तीं मुहुर्मुहुः ॥३०॥
तरुच्छायासु सान्द्रासु विश्राम्यन्तीं पदे पदे । सुखस्पर्शं विदधतीं शीतलैः कदलीदलैः ॥३१॥
स्मयमानां शुकालापे मृगशावेषु वत्सलाम् । अङ्कारोपितबालासु वानरीष्वनिसस्पृहाम् ॥३२॥
धारिणीमृषभदत्तो दत्तहस्तावलम्बनः । गिरिमारोपयामास तत्सुखेन शनैः शनैः ॥३३॥

(चतुर्भिः कलापकम् ।)

तत्र ऋषभदत्तोऽपि धारिण्याश्चित्तहारिणीम् । अङ्गुल्या दर्शयामास गिरेरुद्यानसम्पदम् ॥३४॥
मातुलिङ्गीरिमाः पश्य फलप्राग्भारवामनाः । ताम्रैश्च पुष्पैर्विश्रान्तसन्ध्याभ्रा इव दाडिमीः ॥३५॥

१ °गंत° C 1–3 ॥

मृद्वीकामण्डपाः सन्ति दुर्गाण्यर्कत्विषामिमे । नृत्यत्केकिकलापाभदलास्तालद्रुमा अमी ॥३६॥
पुष्पजातय एताश्च मिथःसौरभलम्भनैः । स्वाजन्यं घोषयन्तीह रोलम्बतुमुलच्छलात् ॥३७॥
जम्बूकदम्बमाकन्दपारिभद्रादिभिर्द्रुमैः । छायया चोलकमसौ संव्यायित इवाचलः ॥३८॥
ऋषभस्तत्र चापश्यद् द्राक्खेचरमिवागतम् । सिद्धपुत्रं यशोमित्रं श्राद्धं बन्धुमिवात्मनः ॥३९॥
ततश्च ऋषभः श्रेष्ठी सिद्धपुत्रमवार्त्तयत् । साधर्मिकोऽसि खलु मे तदाख्याहि क्व यास्यसि ? ॥४०॥
सोऽप्याख्यदस्मिन्नुद्याने शिष्योऽस्ति चरमार्हतः । पञ्चमः समवसृतः सुधर्मा गणभृत्सखे ! ॥४१॥
तद्वन्दनार्थं यास्यामि यदि वस्तद्विवन्दिषा । त्वरध्वं यूयमपि तद्धर्माग्रेगूर्भवाम्यहम् ॥४२॥
ओमित्युक्त्वा दम्पती तौ तेनैव सह चेलतुः । त्रयोऽप्यथ ययुः स्थानं सुधर्मस्वामिपावितम् ॥४३॥
यथावद् द्वादशावर्तवन्दनेन त्रयोऽपि ते । सुधर्मस्वामिनं भक्त्या वन्दित्वा न्यषदन्पुरः ॥४४॥
सुधर्मस्वामिनो धर्मोपदेशपरमामृतम् । ते बद्धाञ्जलयः कर्णाञ्जलिभिर्भृशमापपुः ॥४५॥
सिद्धपुत्रश्च समये पप्रच्छ गणभृद्वरम् । सा जम्बूः कीदृशी जम्बूद्वीपः ख्यातो यदाख्यया ? ॥४६॥
तामाख्यगणभृज्जम्बूं जात्यरत्नमयाकृतिम् । तन्मानं तत्प्रभावं च तत्स्वरूपमथापरम् ॥४७॥
तदा च लब्धावसरा धारिणी गणभृद्वरम् । पप्रच्छ किमहं पुत्रं जनयिष्यामि वा न वा ? ॥४८॥
सिद्धपुत्रोऽवदन्न त्वं सावद्यं प्रष्टुमर्हसि । जानन्तोऽपि हि सावद्यं न ह्याख्यान्ति महर्षयः ॥४९॥

जिनपादोपदेशेन निमित्तज्ञानपण्डितः । तवाहमेव कल्याणि ! कथयिष्याम्यदः शृणु ॥५०॥
धीरस्वभावो मनसा कायेन च पराक्रमी । निषेदिवान् शिलोत्सङ्गे सुधर्मा गणभृत्त्वया ॥५१॥
सुतजन्म यदप्रच्छि तत्स्वप्ने सिंहमङ्कगम् । भद्रे द्रक्ष्यस्यथो कुक्षौ सुतसिंहं धरिष्यसि ॥५२॥ (युग्मम्)
आख्यातजम्बूतरुवद् गुणरत्नमयश्च ते । जम्बूनामा सुतो भावी देवताकृतसन्निधिः ॥५३॥
धारिण्यभिदधे जम्बूदेवतोद्देशपूर्वकम् । करिष्येऽष्टोत्तरं तद्याचामाम्लानां शतं कृतिन् ! ॥५४॥
सुधर्मस्वामिनः पादान्वन्दित्वा ते त्रयोऽपि हि । उत्तीर्य वैभारगिरेः पुनः प्रविविशुः पुरम् ॥५५॥
ततश्चर्षभधारिण्यौ पालयन्तौ गृहस्थताम् । सिद्धपुत्रवचःप्रत्याशया कालं व्यतीयतुः ॥५६॥

अन्यदा धारिणी स्वप्ने श्वेतसिंहं न्यभालयत् । पत्युश्चाकथयत्प्राज्यप्रमोदजलदीर्घिका ॥५७॥
ऋषभोऽभिदधे सुभ्रु ! सिद्धपुत्रवचोऽखिलम् । तत्सत्यमेव मन्यस्व स्वप्नेन प्रत्ययो ननु ॥५८॥
जम्बूनामा महाभागे ! पवित्रचरितस्तव । सर्वलक्षणसम्पूर्णः पुत्रो नूनं भविष्यति ॥५९॥
ब्रह्मलोकात्परिच्युत्य विद्युन्मालिसुरस्तदा । उत्पेदे धारिणीकुक्षिशुक्तौ मौक्तिकरत्नवत् ॥६०॥
तस्याश्चाभूद्देवपूजागुरुपूजासु दोहदः । दोहदाः खलु नारीणां गर्भभावानुसारतः ॥६१॥
वित्तेन भूयसा श्रेष्ठी तद्दोहदमपूरयत् । उत्पन्नदोहद इव सोऽपि धर्मे[1] धनव्यये ॥६२॥

१ धर्म्ये C 2॥

क्रमेण पुष्यद्गर्भा च सञ्चारातिमन्थरम् । गर्भक्लेशागमभिया सावधानेव धारिणी ॥६३॥
तस्याः कपोलफलकौ पाण्डुरिम्नाऽतिशायिना । अभूतां प्रातरेणाङ्कबिम्बसब्रह्मचारिणौ ॥६४॥
ततश्च नवभिर्मासैः सार्धसप्तदिनाधिकैः । धारिणी सुषुवे सूनुं न्यूनीकृतरविं रुचा ॥६५॥
मुक्ताचूर्णयव घटितैरक्षतैरतिनिर्मलैः । पूर्णानि स्वर्णपात्राणि प्राविशन्नृषभौकसि ॥६६॥
अधिश्रेष्ठि कुलवधूक्षिप्तैर्दूर्वाङ्कुरैरश्च्युतैः । तदासनसमीपोर्व्यां दूर्वावणमिवाभवत् ॥६७॥
सर्वकल्याणतुर्याणि तूर्यवर्याण्यनेकशः । नेदुः श्रेष्ठिगृहद्वारे श्रियो लास्यनिबन्धनम् ॥६८॥
*स्थपुटीकृतसीमन्ताः कुंकुमस्तबकैर्नवैः । ननृतुस्तद्गृहद्वारे गायन्त्यः कुलबालिकाः ॥६९॥
ऋषभो विदधे देवगुरुपूजां विशेषतः । ददौ च दानमर्थिभ्योऽर्थ्यमानोऽत्यर्थमुच्छ्वसन् ॥७०॥
सूनोर्जम्बूतरोर्नाम्ना जम्बूरित्यभिधां व्यधात् । शुभेऽह्नि ऋषभश्रेष्ठी संवर्मितमना मुदा ॥७१॥
उल्लापयन्तावङ्कस्थं पितरौ तं दिवानिशम् । अभूतां हर्षवातूलौ विस्मृतान्यप्रयोजनौ ॥७२॥
पित्रोर्जम्बूकुमारोऽपि भवन्नुत्सङ्गभूषणम् । क्रमेणाऽऽसादयद् वृद्धिं तयोरिव मनोरथः ॥७३॥
क्रमण प्रतिपेदे च वयो मध्यममार्षभिः । अभूत्पाणिग्रहार्हश्च पित्रोराशालतातरुः ॥७४॥
इतश्च तत्रैव पुरेऽभून्महेभ्यशिरोमणेः । समुद्रप्रियसंज्ञस्य नाम्ना पद्मावती प्रिया ॥७५॥

* आच्छादितसीमता ।

तथा समुद्रदत्तस्य समुद्रस्येव सम्पदा । नाम्ना कनकमालेति पत्न्यभूद् गुणमालिनी ॥७६॥
तथा सागरदत्तस्य गरिष्ठस्याद्भुतश्रिया । विनयश्रीरभूद्भार्या सदा विनयशालिनी ॥७७॥
तथा कुबेरदत्तस्य कुबेरस्येव ऋद्धिभिः । धनश्रीरिति नाम्नाऽभूत्पत्नी शीलमहाधना ॥७८॥
दम्पतीनाममीषां तु विद्युन्मालिप्रियाश्च्युताः । क्रमाद् दुहितरोऽभूवन्नभिधानेन ता यथा ॥७९॥
समुद्रश्रीश्च पद्मश्रीः पद्मसेना तथैव च । तथा कनकसेनेति रूपात्प्राग्जन्मिका इव ॥८०॥
तथा कुबेरसेनस्य प्रिया कनकवत्यभूत् । अभूच्छ्रमणदत्तस्य श्रीषेणेति तु गेहिनी ॥८१॥
वसुषेणाभिधानस्याभवद्वीरमती प्रिया । वसुपालितस्य पुनर्जयसेनेति वल्लभा ॥८२॥
नभःसेना कनकश्रीस्तथा कनकवत्यपि । जयश्रीश्चेति चाभूवंस्तेषां दुहितरः क्रमात् ॥८३॥
अष्टानामपि तासां तु कन्यानां पितरोऽन्यदा । प्रार्थयाश्चक्रिरे जम्बूपितरं विनयोद्यताः ॥८४॥
अष्टौ नः कन्यकाः सन्ति रुपलावण्यबन्धुराः । कलाब्धिपारदृश्वर्यो गुणैश्वर्योऽप्सरःसमाः ॥८५॥
तासां विवाहकल्याणसुहृत्प्राप्तं च यौवनम् । वरं तदनुरुपं चापश्याम तव नन्दनम् ॥८६॥
कुलशीलवयोरूपादयो वरगुणा हि ये । जम्बूकुमारे ते सन्ति प्राप्यः पुण्यैरयं वरः ॥८७॥
तासामसमत्कुमारीणां भवतु त्वत्प्रसादतः । वरो जम्बूकुमारोऽयं दक्षजानामिवोडुपः ॥८८॥

१ °शालिनी C 1 ॥ २ °ता C 1 ॥

श्रीमानसि कुलीनोऽसि प्रार्थना त्वयि नो ह्रिये । कृत्वा विवाहसम्बन्धं सर्वथाऽनुगृहाण नः ॥८९॥
हर्षादृषभदत्तोऽपि तद्वचः प्रत्यपद्यत । स्वयमप्युत्सुकः पुत्रविवाहे प्रार्थितश्च तैः ॥९०॥
जम्बूनाम्ने प्रदत्ताः स्मो वरायातिवरीयसे । इति ज्ञात्वा च ताः कन्या धन्यंमन्या मुदं दधुः ॥९१॥

अत्रान्तर च विहरन् भव्यसत्त्वानि बोधयन् । तत्रैवागत्य भगवान्सुधर्मा समवासरत् ॥९२॥
सुधर्माऽऽगमनोदन्तसुधासिक्तोऽथ कन्दवत् । सद्यो जम्बूकुमारोऽभूत्प्ररूढपुलकाङ्कुरः ॥९३॥
जम्बूनामा नमस्कर्तुमागतं गणभृद्वरम् । जगाम धाम धर्मर्द्धे रथेनानिलरंहसा ॥९४॥
स प्रणम्य सुधर्माणं शुश्राव श्रावकाग्रणीः । सुधानिस्यन्ददेशीयां देशनां तन्मुखाम्बुजात् ॥९५॥
देशना च मनसि सा परिणाममुपेयुषी । तस्याऽदाद्भववैराग्यमभाग्यैरतिदुर्लभम् ॥९६॥
सुधर्मस्वामिनं नत्वा जम्बूरेवं व्यजिज्ञपत् । आदास्येऽहं परिव्रज्यां भवबन्धनकर्तरीम् ॥९७॥
आपृच्छ्य पितरौ यावदायामि परमेश्वर ! । तावत्त्वं कलयात्रैवोद्याने धर्मद्रुमश्रियम् ॥९८॥
तथेति प्रतिपन्ने च सुधर्मस्वामिनाऽपि हि । अधिरुह्य रथं जम्बूर्नगरद्वारमाययौ ॥९९॥
तदाऽभूच्च पुरद्वारं तथेभाश्वरथाकुलम् । पतितस्य तिलस्यापि भूप्राप्तिर्नाभवद्यथा ॥१००॥
इति चाचिन्तयज्जम्बूः पुरद्वाराऽन्यव चेत् । प्रवेशाय प्रतीक्षिष्ये तत्कालातिक्रमो भवेत् ॥१०१॥

१ °त्वान् विबो° C 1 ॥

सुधर्मस्वामिनं तत्रागमय्य सदनं प्रति । गन्तुं *पक्षीबुभूषोर्मे न स्थातुमिह युज्यते ॥१०२॥
तद्विशाम्यपरेणैव द्वारेण त्वरयन्रथम् । उत्सुकस्य वरं श्रेयानन्योऽध्वा न प्रतीक्षणम् ॥१०३॥
इति यावद्ययौ द्वारान्तरं त्वरितमार्षभिः । ददर्श तावत्तत्रापि वप्रं सज्जितयन्त्रकम् ॥१०४॥
वप्रोपरिष्टाद्यन्त्रेषु लम्बिताश्च महाशिलाः । ददर्श गगनभ्रश्यद्वज्रगोलकसन्निभाः ॥१०५॥
दध्यौ चैवं परचक्रभयादीदृगुपक्रमः । तदेतेनापि हि द्वारेणानर्थबहुलेन किम् ॥१०६॥
गच्छतो मेऽध्वनाऽनेन शिलोपरि पतेद्यदि । तदस्मि नाहं न रथो न रथ्या न च सारथिः ॥१०७॥
एवं च मृत्युमासाद्याविरतो दुर्गतिं लभे । प्राणिनां हि कुमृत्यूनां सुगतिर्व्योमपुष्पवत् ॥१०८॥
मा भूवं स्वार्थतो भ्रष्टो व्याघुट्य पुनरप्यहम् । भवामि श्रीसुधर्मांह्रिपद्मसेवामधुव्रतः ॥१०९॥
इत्यार्षभिर्वालयित्वा रथं वक्र इव ग्रहः । प्रदेशं गणभृत्पादसनाथं तं पुनर्ययौ ॥११०॥
सुधर्मस्वामिनं जम्बूरिति नत्वा व्यजिज्ञपत् । यावज्जीवं ब्रह्मचर्यं प्रतिपन्नोऽस्म्यहं त्रिधा ॥१११॥
अनुज्ञातो भगवता नियमं प्रतिपद्य तम् । हर्षवानार्षभिर्धाम जगामाकामविक्रियः ॥११२॥
पित्रोश्च कथयामास यदहं गणभृन्मुखात् । सर्वज्ञोपज्ञमश्रौषं धर्मं कर्मक्षयौषधम् ॥११३॥
अनुजानीत मां पूज्याः ! परिव्रज्यार्थमुत्सुकम् । जन्तूनामेष संसारः कारागारनिभः खलु ॥११४॥

* पक्षीभवितुमिच्छो ।

रुदन्तौ तौ च पितरावूचतुर्गद्गदस्वरौ । मा भूरकाण्डेऽस्मदाशालतोन्मूलनमारुतः ॥११५॥
चिन्तयामो वयमिदं सवधूको भविष्यसि । द्रक्ष्यामः पौत्रवदनं दृक्कैरवनिशाकरम् ॥११६॥
प्रव्रज्याया न समयो विषयार्हेऽत्र यौवने । एतस्योचितमाचारं किं नेच्छसि मनागपि ॥११७॥
यदि वाऽत्याग्रहो वत्स ! प्रव्रज्याविषये तव । तथापि किञ्चिन्मन्यस्व वयं हि गुरवः खलु ॥११८॥
वत्साष्टौ कन्यकास्तुभ्यमस्माभिः सन्ति या वृताः । कृत्वा पाणिगृहीतास्ताः पूरयोद्वाहकौतुकम् ॥११९॥
एवं कृत्वा कुमार ! त्वं निष्प्रत्यूहं परिव्रजेः । त्वामनु प्रव्रजिष्यामः कृतार्था वयमप्यथ ॥१२०॥
कुमारोऽप्यवदद्युष्मदादेशेऽस्मिन्ननुष्ठिते । प्रव्रज्याया न वार्योऽहं बुभुक्षुर्भोजनादिव ॥१२१॥
आमेत्युक्त्वा च पितरौ कथयामासतुर्द्रुतम् । कन्यापितृणामिभ्यानामष्टानां करुणापरौ ॥१२२॥
कन्यासु व्यूढमात्रासु पुत्रो नः प्रव्रजिष्यति । विवाहमप्यसावस्मदुपरोधात्करिष्यति ॥१२३॥
पश्चादपि हि चेत्पश्चात्तापपापं करिष्यथ । मा स्म कृढ्वं तदुद्वाहं दोषः कथयतां न नः ॥१२४॥
अष्टावपि महेभ्यास्ते सकलत्राः सबान्धवाः । किं कार्यमिति निर्णेतुं संलपन्ति स्म दुःखिताः ॥१२५॥
श्रुत्वा च तेषां संलापं कन्यास्ता एवमूचिरे । पर्यालोचेन पर्याप्तमाप्ताः ! शृणुत निर्णयम् ॥१२६॥
जम्बूनाम्ने प्रदत्ताः स्मोऽस्माकं भर्ता स एव हि । देया न वयमन्यस्मै लोकेऽप्येतदधीयते ॥१२७॥
सकृज्जाल्पन्ति राजानः सकृज्जाल्पन्ति साधवः । सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥१२८॥

पितृपादैः प्रदत्ताः स्मस्तस्मादृषभसूनवे । स एव गतिरस्माकं वयं तद्वशजीविताः ॥१२९॥
प्रव्रज्यामितरद्वाऽपि यद्यज्जम्बूः करिष्यति । तदेव पतिभक्तानामस्माकमपि युज्यते ॥१३०॥
ते कन्यापितरो जम्बूपितुराख्यापयन्निति । सञ्जीभवन्तूद्वाहाय प्रमाणं प्रथमं वचः ॥१३१॥
ततो नैमित्तिकमुखात्तैरिभ्यैर्ऋषभेण च । विवाहलग्नं निर्णिन्ये तद्दिनात्सप्तमे दिने ॥१३२॥
महेभ्या भ्रातर इव तेऽष्टावप्येकचेतसः । सम्भूय कारयामासुः स्फारमुद्वाहमण्डपम् ॥१३३॥
विचित्रवर्णैर्वासोभिरुल्लोचस्तत्र चाभवत् । सन्ध्याभ्रखण्डैराकृष्टैरन्तरिक्षतलादिव ॥१३४॥
तत्रोच्चूलीकृतान्याभान्मुक्तादामानि सर्वतः । स्वकीयमंशुसर्वस्वं न्यासीकृतमिवेन्दुना ॥१३५॥
तोरणैर्नितरां तारैर्वातान्दोलितपल्लवैः । मण्डपोऽभाद्वराह्वानसञ्ज्ञामिव विपञ्चयन् ॥१३६॥
शुशुभे मण्डपो विष्वक् स्वस्तिकन्यस्तमौक्तिकैः । उप्तबीजावलिरिवोद्भूत्यै मङ्गलशाखिनाम् ॥१३७॥
अक्षेपि वर्णके जम्बूर्मुहूर्ते दोषवर्जिते । कौसुम्भवसनः सोऽभाद् बालातप इवार्यमा ॥१३८॥
कन्यका अपि ताः क्षिप्ता वर्णके नाचरन्बहिः । राजपत्न्य इवासूर्यपश्यतायां नियोजिताः ॥१३९॥
कुमारश्च कुमार्यश्च स्वस्वस्थानस्थिता अथ । विधिवन्मङ्गलस्नानमकार्यन्त शुभे क्षणे ॥१४०॥
स्नातस्यर्षभसूनोश्च च्याव्यमानाः पयो बभुः । आसन्नोत्पाटभीत्याऽश्रु मुञ्चन्त इव कुन्तलाः ॥१४१॥
केशाञ्जम्बूकुमारस्य गन्धकार्योऽध्यवासयन् । कर्पूरागरुधूमेनोत्तंसलीलां वितन्वता ॥१४२॥

गन्धकारिकया तस्य सुमनोदामगर्भितः । जात्याश्वकन्धरावक्रो धम्मिल्लो मूर्ध्न्यबध्यत ॥१४३॥
पर्यधाद्धारिणीसूनुस्तारे मौक्तिककुण्डले । मुखाब्जप्रान्तविश्रान्तमरालमिथुनश्रिणी ॥१४४॥
मुक्ताहारं परिदधे जम्बूरानाभिलम्बितम् । लावण्यसरितः फेनबुद्बुदावलिसन्निभम् ॥१४५॥
स चन्दनविलिप्ताङ्गः सर्वाङ्गामुक्तमौक्तिकः । राकाशशाङ्कवत्तारामालाभिः शुशुभे भृशम् ॥१४६॥
देवदूष्ये इवादूष्ये सदशे श्वेतवाससी । विवाहमङ्गलकृते पर्यधादृषभात्मजः ॥१४७॥
अथ जात्याश्वमारुढो मायूरातपवारणः । आत्मतुल्यवयोवेषानुचरैः परिवारितः ॥१४८॥
नीरङ्गीछन्नवदनो गीयमानोरुमङ्गलः । उत्तार्यमाणलवणो वधूटीभ्यां च पार्श्वयोः ॥१४९॥
निनदन्मङ्गलातोद्यः पठन्मङ्गलपाठकः । विवाहमण्डपद्वारमार्षभिस्त्वरितं ययौ ॥१५०॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)
दध्यादिमङ्गलद्रव्यैर्ददावर्घं सुवासिनी । तत्र जम्बूकुमारस्य मारस्येव वपुष्मतः ॥१५१॥
शरावसम्पुटं द्वारि वह्निगर्भितमंह्रिणा । भङ्क्त्वा सोऽगान्मातृगृहं गृहं कल्याणसम्पदः ॥१५२॥
ततस्ताभिः कुमारीभिस्तत्राऽऽसित्वा सहाष्टभिः । जम्बूकुमारः प्रत्यैच्छत् कौतुकोद्वाहमङ्गलम् ॥१५३॥
ततश्च लग्नवेलायां गत्वा चतुरिकान्तरे । आर्षभिः पर्यणैषीत्ताः पित्रोरनुनिनीषया ॥१५४॥
तारामेलकके हृष्टा कौतुकेषु ससम्भ्रमा । सन्तुष्टा मङ्गलावर्त्ते मधुपर्के स्मितानना ॥१५५॥
यौतके सावधाना च कृतिन्यञ्चलमोक्षणे । बाष्पायिता प्रणामेऽङ्कारोपणेऽत्यन्तनिर्वृता ॥१५६॥

अपत्योद्वाहकल्याणसुखमित्याप धारिणी । स्युः पुरन्ध्र्यो हि नीरन्ध्रमुदोऽपत्ये विवाहिते ॥१५७॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

विवाहानन्तरं तासां वधूनां च वरस्य च । यौतकं तदभूद्येन सौवर्णः क्रियतेऽचलः ॥१५८॥
ततो मङ्गलदीपेन समाजसहचारिणा । गायन्तीभिः कुलस्त्रीभिः कलं धवलमङ्गलम् ॥१५९॥
पुरो मङ्गलतूर्यैश्च वाद्यमानैः कलस्वरम् । सङ्गीतकेन भवता तूर्यत्रयमनोरमम् ॥१६०॥
हृष्टैर्ज्येष्ठैः कनिष्ठैश्च बन्धुभिः पार्श्वयायिभिः । जम्बूर्जगाम स्वं धाम ताभिरूढाभिरावृतः ॥१६१॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

आदितो वन्दितवतां सर्वज्ञं कुलदेवताम् । वधूवराणामभवदथ कङ्कणमोक्षणम् ॥१६२॥
धारिण्यृषभदत्ताभ्यां हृष्टाभ्यां तदनन्तरम् । अकारि पूजा देवस्य जम्बूद्वीपपतेः स्वयम् ॥१६३॥
ततो जम्बूकुमारोऽपि सर्वालङ्कारभूषितः । वासागारमुपेयाय पत्नीभिस्ताभिरावृतः ॥१६४॥
सकलत्रोऽपि तत्रास्थादार्षभिर्ब्रह्मचर्यभृत् । विकारहेतौ पार्श्वस्थेऽप्यविकारा महाशयाः ॥१६५॥

इतश्चात्रैव भरतेऽस्त्युपविन्ध्याद्रि पत्तनम् । नाम्ना जयपुरं तत्र विन्ध्यो नामाभवन्नृपः ॥१६६॥
उभावभूतां तनयौ प्रथितौ तस्य भूपतेः । आख्यया प्रभवो ज्यायान्प्रभुनामा तु कन्यसः ॥१६७॥
राज्यं जयपुराधीशोऽन्यदा केनापि हेतुना । प्रभवे सत्यपि ज्येष्ठे प्रभवेऽदात्कनीयसे ॥१६८॥

प्रभवोऽप्यभिमानेन निर्गत्य नगरात्ततः। संनिवेशं विधायास्थाद्विन्ध्याद्रेर्विषमावनौ ॥१६९॥
स खात्रखननैर्बन्दिग्रहणैर्वर्त्मपातनैः। चौरैः प्रकारैरन्यैश्च जिजीव सपरिच्छदः ॥१७०॥
एत्य विज्ञपयामासुश्चरास्तस्य परेद्यवि। ऋद्धिं जम्बूकुमारस्य श्रीदस्याप्युपहासिनीम् ॥१७१॥
विवाहमङ्गले चास्य महेभ्यान्मिलितान्बहून्। कथयामासुरत्यर्थमर्थचिन्तामणीनिव ॥१७२॥
अवस्वापनिकातालोद्घाटनीभ्यां समन्वितः। विद्याभ्यां स तदैवागाद्धारिणीतनयौकसि ॥१७३॥
अथावस्वापनिकया विद्यया विन्ध्यराजभूः। जाग्रतं सकलं लोकं जम्बूवर्जमसूषुपत् ॥१७४॥
सा विद्या प्राभवत्तस्मै प्राज्यपुण्यजुषे न हि। प्रायः पुण्याधिकानां हि न शक्रोऽप्यलमापदे ॥१७५॥
ततो निद्रायमाणानां सर्वेषामपि दस्युभिः। अलङ्कारादिसर्वस्वमाच्छेत्तुमुपचक्रमे ॥१७६॥
लुण्टाकेष्वपि लुण्टत्सु स च जम्बूर्महामनाः। न चुकोप न चुक्षोभ लीलया त्विदमभ्यधात् ॥१७७॥
शयानमिह विश्वस्तं निमन्त्रितमिमं जनम्। भो भोः! स्पृशत मा सैषां जाग्रदेषोऽस्मि यामिकः ॥१७८॥
महापुण्यप्रभावस्य तस्याथ वचसेदृशा। ते चौराः स्तब्धवपुषोऽभूवन् लेप्यमया इव ॥१७९॥
ददर्श धारिणीसूनुं प्रभवोऽपि निभालयन्। पत्नीभिरन्वितं ताभिः करेणुभिरिव द्विपम् ॥१८०॥
कथयामास चात्मानं विन्ध्यराजसुतोऽस्म्यहम्। महात्मन्! प्रभवो नाम सख्येनानुगृहाण माम् ॥१८१॥

वयस्य ! देहि मे विद्यां स्तम्भनीं मो[1]क्षणीमपि । अवस्वापनिकातालोद्[2]घाटन्यौ ते ददाम्यहम् ॥१८२॥
जम्बूरुचे प्रभातेऽहं प्रभवाष्टावपि प्रियाः । नवोढा अपि हि त्यक्त्वा प्रव्रजिष्यामि निर्ममः ॥१८३॥
इदानीमप्यहं भावयतीभूतोऽस्मि तेन भोः ! । प्रभव ! प्राभवन्नेयमवस्वापनिका मयि ॥१८४॥
त्यक्ष्यामि लक्ष्मीं तृणवत्प्रातर्भ्रातरिमामहम् । तत् किं मे विद्यया कार्यं निरीहस्य वपुष्यपि ॥१८५॥
तामवस्वापनीं विद्यां संवृत्य प्रभवोऽपि हि । प्रणम्य धारिणीपुत्रमुवाच रचिताञ्जलिः ॥१८६॥
सखे ! सुखं वैषयिकं भुङ्क्ष्वाभिनवयौवनः । अनुकम्पस्व चेमासु नवोढासु विवेक्यसि ॥१८७॥
इमाभिः सह सुभ्रूभिर्भुक्तभोगफलो भव । शोभिष्यते परिव्रज्याऽप्युपात्ता तदनन्तरम् ॥१८८॥
ऊचे जम्बूकुमारोऽपि सुखं विषयभोगजम् । अपायबहुलं स्वल्पं तेन किं दुःखहेतुना ॥१८९॥
सुखं विषयसेवायामत्यल्पं सर्षपादपि । दुःखं तु देहिनः प्राज्यं मधुबि[3]न्द्वादिपुंसवत् ॥१९०॥

तथा हि पुरुषः कोऽपि देशाद्देशं परिभ्रमन् । सार्थेनाविक्षदटवीं चौरयादोमहानदीम् ॥१९१॥
तं सार्थं लुण्टितुं तत्र चौरव्याघ्रा दधाविरे । मृगवच्च पलायन्त सर्वे सार्थनिवासिनः ॥१९२॥
सार्थाद्धीनः स तु पुमान्प्रविवेश महाटवीम् । आकण्ठमागतैः प्राणैरभ्युद्यत्कूपवारिवत् ॥१९३॥
उच्चैस्तरो गिरिरिव प्रक्षरन्मदनिर्झरः । उदस्तहस्तोऽभ्राणीव प्रभ्रंशयितुमम्बरात् ॥१९४॥

१ क्षोभणी° *C.* 1 ॥ २ °घाटि° *C* 1–3 *M* ॥ ३ °न्द्वास्वादिपुंवत् *C.* 2–3 ॥

न्यञ्चयन्क्ष्मामंह्रिपातैरन्तःशुषिरिणीमिव । आध्मातताम्रताम्रास्यो गर्जन्नूर्जितमन्दवत् ॥१९५॥
साक्षाद्यम इव क्रोधादुद्धुरो वनसिन्धुरः । वराकं कान्दिशीकं तं पुरुषं प्रत्यधावत ॥१९६॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

मारयिष्याम्यहं याहि याहीति प्रेरयन्निव । जघान तं मुहुः पृष्ठे वारणः करसीकरैः ॥१९७॥
स पुमान् कन्दुक इव निपतन्नुत्पतन्भिया । प्राप्तप्रायो द्विपेनाप तृणच्छन्नमथावटम् ॥१९८॥
गजोऽवश्यं जीवितहृत् कूपे जीवामि जातुचित् । इति सोऽदात्तत्र झम्पां जीविताशा हि दुस्त्यजा ॥१९९॥
वटोऽवटतटे चाभूत्तत्पादश्चैक आयतः । लम्बमानोऽभवत्कूपमध्ये भुजगभोगवत् ॥२००॥
स पुमान्निपतन्कूपे प्राप तत्पादमन्तरा । आलम्ब्य लम्बमानोऽस्थाद्रज्जुबद्धघटीनिभः ॥२०१॥
करं प्रक्षिप्य कूपान्तः करी पस्पर्श तच्छिरः । नाशकत्तु तमादातुं मन्दभाग्य इवौषधीम् ॥२०२॥
दत्तदृष्टिरधोभागे भागधेयविवर्जितः । कूपस्यान्तरजगरं गरीयांसं ददर्श सः ॥२०३॥
पतत्कवलबुद्ध्या तं निरीक्ष्याजगरोऽपि सः । कूपान्तरपरं कूपमिव वक्त्रं व्यकासयत् ॥२०४॥
चतुर्ष्वपि हि पक्षेषु चतुरोऽहीन्ददर्श सः । कालिन्दीसोदरस्येव बाणान्प्राणापहारिणः ॥२०५॥
उत्फणाः फणिनस्ते तु तं दष्टुं दुष्टचेतसः । फूत्कारपवनानास्यैरमुचन्धमनीनिभैः ॥२०६॥

१ °शोक° C 3 M ॥

वटप्ररोहं तं छेत्तुं मूषकौ द्वौ सितासितौ । चटच्चटिति चक्राते दन्तक्रकचगोचरम् ॥२०७॥
अनाप्नुवन्पुमांसं तं सोऽपि मत्तो मतङ्गजः । जघान वटशाखां तां वटमुत्पाटयन्निव ॥२०८॥
वटस्यान्दोल्यमानेन पादेन स पुमान्दृढम् । पाण्यंह्रिबन्धं तन्वानो नियुद्धमिव निर्ममे ॥२०९॥
गजेन हन्यमानायाः शाखाया मधुमक्षिकाः । मधुमण्डकमुत्सृज्योडियरे तोमराननाः ॥२१०॥
मक्षिकास्ता ददंशुस्तं लोहसन्दंशसन्निभैः । तुण्डैः कीकसविश्रान्तैर्जीवाकृष्टिपरैरिव ॥२११॥
उत्पक्षमक्षिकारुद्धसर्वाङ्गः स पुमांस्तदा । कृतपक्ष इवालक्षि कूपान्निर्गन्तुमुत्सुकः ॥२१२॥
वटस्थमधुकोशाच्च मधुबिन्दुर्मुहुर्मुहुः । ललाटे न्यपतत्तस्य *वार्धान्या वारिबिन्दुवत् ॥२१३॥
मधुबिन्दुस्तस्य भालाल्लुठित्वा प्राविशन्मुखे । स तदास्वादमास्वाद्य सुखं महदमन्यत ॥२१४॥

श्रूयतां प्रभवामुष्य दृष्टान्तस्य च भावना । यः पुमान्स हि संसारी याऽटवी सा तु संसृतिः ॥२१५॥
यो गजो स पुनर्मृत्युर्यः कूपो मर्त्यजन्म तत् । योऽजगरः स नरको येऽहयस्ते क्रुधादयः ॥२१६॥
वटपादो यस्तदायुर्मूषकौ यौ सितासितौ । तौ शुक्लकृष्णौ द्वौ पक्षावायुश्छेदपरायणौ ॥२१७॥
या मक्षिका व्याधयस्ते मधुबिन्दुस्तु यः सखे ! । तद्वै सुखं वैषयिकं तत्र रज्येत कः सुधीः ? ॥२१८॥

(चतुर्भिः कलापकम्)

*जलधार्या ।

देवो विद्याधरो वाऽपि यदि कूपात्तमुद्धरत् । तत् किमिच्छेदथ न वा स पुमान्दैवदूषितः ? ॥२१९॥
प्रभवः स्माह को नाम निमज्जन्विपदर्णवे । नेच्छेत्तरण्डसदृशमुपकारपरं नरम् ॥२२०॥
जम्बूरुवाच तदहमपारे भवसागरे । किं निमज्जामि गणभृद्देवे सत्यपि तारके ॥२२१॥
प्रभवोऽभिदधे भ्रातः स्नेहलौ पितरौ निजौ । अनुरक्ताश्च गृहिणीः कथं त्यक्ष्यसि निष्ठुरः ? ॥२२२॥
जम्बूरूचे च को बन्धुनिर्बन्धो बन्धुरप्यहो । कुबेरदत्तवद्यस्मात् कर्मणा खलु बध्यते ॥२२३॥

तथा हि मथुरापुर्यामेकाऽभूद्गणिकोत्तमा । नाम्ना कुबेरसेनेति सेनातुल्या मनोभुवः ॥२२४॥
सा च प्रथमगर्भेण नितान्तं खेदिता सती । वैद्यस्य दर्शिता मात्रा क्लेशे हि शरणं भिषक् ॥२२५॥
स्नायुस्पन्दादिना वैद्यस्तां विज्ञाय निरामयाम् । उवाच नास्या रोगोऽस्ति किं त्वेतत् क्लेशकारणम् ॥२२६॥
अस्या हि युग्ममुत्पन्नमुदरेऽस्ति सुदुर्वहम् । खेदस्तद्धेतुको भावी स पुनः प्रसवावधिः ॥२२७॥
माताऽप्युवाच तां वत्से ! गर्भं ते पातयाम्यहम् । प्राणापायप्रतिभुवा रक्षितेनापि तेन किम् ॥२२८॥
वेश्योचे स्वस्ति गर्भाय सहिष्ये क्लेशमप्यहम् । सूकरी हि सकृद्बह्वपत्यसूः साऽपि जीवति ॥२२९॥
गर्भक्लेशं सहित्वा च समये गणिकाऽपि सा । दारकं दारिकां चापि भ्रातृभाण्डे अजीजनत् ॥२३०॥
माता प्रोवाच गणिकामपत्ये वैरिणी तव । यकाभ्यामुदरस्थाभ्यां मृत्युद्वारेऽसि धारिता ॥२३१॥
युग्मं स्तनन्धयमिदं भावि यौवनहृत्तव । वेश्याश्च यौवनाजीवा जीववद्रक्ष यौवनम् ॥२३२॥

उदरात्पतितं युग्ममिदं वत्से ! पुरीषवत्। बहिस्त्याजय मा मोहं कार्षीरेष क्रमो हि नः ॥२३३॥
वेश्योचे यद्यपि ह्येवं तथाऽप्यम्ब ! विलम्ब्यताम्। दशाहं यावदेतौ च दारकौ पोषयाम्यहम् ॥२३४॥
कथञ्चिदप्यनुज्ञाता सा मात्रा पणसुन्दरी। स्तन्यदानेन तौ बालावहर्निशमपोषयत् ॥२३५॥
एवं च बालकौ तस्याः पालयन्त्या दिवानिशम्। कालरात्रिप्रतीकाशमेकादशमभूद्दिनम् ॥२३६॥
कुबेरदत्तकुबेरदत्तानामाङ्किते उभे। मुद्रिके कारयित्वा च तदङ्गुल्योर्न्यधत्त सा ॥२३७॥
ततश्चाकारयद्दारुपेटां बुद्ध्या पटीयसी। रत्नैश्च पूरयित्वा तां तत्र तौ बालकौ न्यधात् ॥२३८॥
पेटां प्रावाहयत्तां च प्रवाहे यामुने स्वयम्। जगाम निरपायं च सा तरन्ती मरालवत् ॥२३९॥
कुबेरसेनापि ततो व्याघुट्य स्वगृहं ययौ। अपत्ययोर्ददानेव नयनाञ्जलिभिर्जलम् ॥२४०॥
मञ्जूषा शौर्य[1]नगरद्वारे प्राप्ता दिवामुखे। उभाभ्यामिभ्यपुत्राभ्यां ददृशे जगृहे च सा ॥२४१॥
अपश्यतां च तन्मध्ये तं बालं बालिकां च ताम्। एको बालमुपादत्त बालिकामपरः पुनः ॥२४२॥
तौ विदाञ्चक्रतुः पाणिमुद्रिकाक्षरदर्शनात्। कुबेरदत्तकुबेरदत्ताख्यौ खल्विमाविति ॥२४३॥
तावुभावप्यवर्धेतामिभ्ययोः सदने तयोः। रक्ष्यमाणौ प्रयत्नेन स्वाम्यर्पितनिधानवत् ॥२४४॥
कलाविदौ क्रमेणाभूौ तौ द्वावपि बभूवतुः। प्रपेदाते चाभिनवं यौवनं रूपपावनम् ॥२४५॥

1 सौर्य° C 1। सूर्य°।

अनुरुपाविमावेवेतीभ्याभ्यां परया मुदा । तयोरेव मिथोऽकारि पाणिग्रहमहोत्सवः ॥२४६॥
वैदग्ध्यशिक्षागुरुणा यौवनेनोपलिप्तयोः । तयोरङ्गाधिरुढोऽभूत्पुंनारीवाहनः स्मरः ॥२४७॥
वधूवराभ्यामन्येद्युर्द्यूतक्रीडा प्रचक्रमे । ताभ्यां परस्परोन्मीलत्प्रेमवारितरङ्गिणी ॥२४८॥
कुबेरदत्तस्य करात्प्रस्तावे क्वापि मुद्रिका । सख्या कुबेरदत्तायाः करोत्सङ्गे न्यधीयत ॥२४९॥
करस्थितामूर्मिकां तां परीक्ष्यमिव नाणकम् । कुबेरदत्ता प्रैक्षिष्ट पर्यस्यन्ती मुहुर्मुहुः ॥२५०॥
कुबेरदत्ता दध्यौ च प्रयत्नादियमूर्मिका । विदेशघटिता भाति चोर्मिकान्तरदर्शनात् ॥२५१॥
ततस्तामूर्मिकां स्वां च सा पश्यन्ती मुहुर्मुहुः । चिन्तावेशात्स्फुरत्काया निश्चिकायेति चेतसि ॥२५२॥
एकत्र देशे घटिते चैकेन तुलया समे । समानलिपिनाम्नी द्वे ऊर्मिके सोदरे इव ॥२५३॥
कुबेरदत्तश्चाहं च तद् द्वावप्यूर्मिके इव । अत्यन्तं रूपसदृशौ भ्रातृभाण्डौ[1] न संशयः ॥२५४॥
अन्यूनाधिकसर्वाङ्गावावां युगलजौ खलु । दैवेन कारितौ हन्त विवाहाकृत्यमीदृशम् ॥२५५॥
जनकेन जनन्या वा द्वयोरप्यावयोर्ध्रुवम् । समेनापत्यवात्सल्येनोर्मिके कारिते समे ॥२५६॥
सोदरौ यत एवावां तत एव निरन्तरम् । नास्मिन्मे पतिधीर्नास्य पत्नीधीर्मय्यजायत ॥२५७॥
कुबरदत्ता ध्यात्वैवं तथेति कृतनिश्चया । करे कुबेरदत्तस्य क्षिपति स्मोर्मिकाद्वयम् ॥२५८॥

१ °भाण्डे *C* 3. *M* ॥

कुबेरदत्तोऽपि तथैवोर्मिकाद्वयदर्शनात्। चिन्तासन्तानमासाद्य विषसाद सदाशयः ॥२५९॥
ततः कुबेरदत्तायास्तां समर्प्योर्मिकां सुधीः। गत्वा दत्त्वा च शपथमिति पप्रच्छ मातरम् ॥२६०॥
किमौरसोऽपविद्धो* वादत्रिमः† कृत्रिमोऽथवा। अन्यो वा तव पुत्रोऽस्मि पुत्रा हि बहुधा किल ॥२६१॥
आग्रहग्रहिलीभूय पृच्छतस्तस्य चाम्बिका। मञ्जूषाप्राप्तितः सर्वां कथयामास तां कथाम् ॥२६२॥
कुबेरोऽप्यवदन्मातः किमकृत्यमिदं कृतम्। ज्ञात्वाऽपि युग्मजन्मानावावां यत्परिणायितौ ॥२६३॥
सैव माता वरं माता या पोषितुमनीश्वरी। स्वभाग्यभाजनीकृत्य तत्याजावां नदीरये ॥२६४॥
नदीरयो हि मृत्यै स्यान्नाकृत्यकरणाय तु। जीवितान्मरणं श्रेयो न जीवितमकृत्यकृत् ॥२६५॥
व्याजहार जनन्येवं युवयोरतिहारिणा। रूपेणात्यनुरूपेण मोहिताः स्मोऽल्पमेधसः ॥२६६॥
तवानुरूपा नो कन्या तां विना काऽप्यदृश्यत। तस्या अप्यनुरूपस्त्वामृते कोऽपि वरो न हि ॥२६७॥
पाणिग्रहणमेवैकमद्यापि युवयोरभूत्। न पुनः पापकर्मान्यत्पुंस्त्रीसम्बन्धसम्भवम् ॥२६८॥
अद्यापि हि कुमारस्त्वं कुमार्यद्यापि साऽनघा। स्वस्ति तस्यै भ्रातृभाण्डकथामाख्याय मुञ्च ताम् ॥२६९॥
व्यवहाराय दिग्यात्रां चिकीर्षन्नसि सुन्दर !। क्षेमेण कृत्वा तां शीघ्रमागच्छेरस्मदाशिषा ॥२७०॥
समागतस्य क्षेमेण करिष्ये तव दारक !। महोत्सवेन वीवाहमन्यया सह कन्यया ॥२७१॥

* मातापितृभ्या त्यक्त । † दत्तक

ततः कुबेरदत्तोऽपि वदन्नोमिति धर्मधीः । गत्वा कुबेरदत्तायै तमाख्याति स्म निर्णयम् ॥२७२॥
ऊच च पित्रोः सदनं याहि भद्रे ! भगिन्यसि । विवेकिन्यसि दक्षाऽसि तद्यथोचितमाचरेः ॥२७३॥
पितृभ्यां वञ्चितावेवमावां किं कुर्वहे स्वसः ! । तयोर्न दोषोऽयमियं ह्यावयोर्भवितव्यता ॥२७४॥
पितरो हि यथापत्यं विक्रीणन्ते त्यजन्ति वा । आज्ञापयन्त्यकृत्येऽपि तथा तद् दूष्यकर्मणे ॥२७५॥
कुबेरदत्तस्तामेवमभिधाय विहाय च । पण्यभाण्डमुपादाय जगाम मथुरां पुरीम् ॥२७६॥
तत्र च व्यवहारेण सोऽर्थमत्यर्थमार्जयत् । उवास च चिरं स्वैरं विलसन्यौवनोचितम् ॥२७७॥
अन्येद्युर्द्रविणं दत्त्वा रूपलावण्यशालिनीम् । कुबेरसेनां गणिकां तां कलत्रीचकार सः ॥२७८॥
कुबेरसेनया सार्धं तस्य वैषयिकं सुखम् । भुञ्जानस्य सुतो जज्ञे दैवनाटकमीदृशम् ॥२७९॥

तदा कुबेरदत्ताऽपि गत्वा पप्रच्छ मातरम् । माताऽपि हि तथैवाख्यन्मञ्जूषाप्राप्तितः कथाम् ॥२८०॥
सद्यो निर्वेदमासाद्य स्वकीयकथया तया । कुबेरदत्ता प्राव्राजीत्तपस्तेपे च दुस्तपम् ॥२८१॥
तामूर्मिकां तु सङ्गोप्य प्रव्रजन्ती मुमोच सा । व्याहार्षीच्च प्रवर्तिन्या सहमाना परीषहान् ॥२८२॥
तस्याश्चाखण्डतपसः प्रवर्तिन्युपदेशतः । पुष्पं तपोविटपिनोऽवधिज्ञानमजायत ॥२८३॥
कुबेरदत्तोऽस्ति कथमिति चिन्तयति स्म सा । कुबेरसेनासंक्रान्त्या सपुत्रं तं ददर्श च ॥२८४॥
अनघा सा शुशोचैवमहो ! मम सहोदरः । अकृत्यपङ्कनिर्मग्नो वराह इव तिष्ठति ॥२८५॥

इति तत्प्रतिबोधार्थमियाय मथुरां पुरीम् । समेता संयतीभिः सा करुणारससारणिः ॥२८६॥
आर्या कुबेरदत्तापि धर्मलाभपुरस्सरम् । पार्श्वे कुबेरसेनायाः प्रतिश्रयमयाचत ॥२८७॥
प्रणम्य सेनाऽप्यवददार्येऽहं पणसुन्दरी । सम्प्रत्येकपतित्वेन पुनः कुलवधूरिव ॥२८८॥
कुलीनपतिसंसर्गात्कुलस्त्रीवेष एष मे । कुलीनाचरितेनापि प्रसादार्हाऽस्मि वः खलु ॥२८९॥
तदितो मद्गृहाभ्यर्णे प्रतिगृह्य प्रतिश्रयम् । संनिधिस्था भवत मे सदेष्टा इव देवता ॥२९०॥
ततश्च सपरीवारा तस्याः कल्याणकामधुक् । कुबेरदत्ता तद्दत्तवसतावस्तसुखम् ॥२९१॥
कुबेरसेनाऽप्यर्भं स्वं तत्रागत्य दिवानिशम् । आर्यायाः पादपद्माग्रे लुठन्तममुचद् भुवि ॥२९२॥
बुध्येत यो यथा जन्तुस्तं तथा बोधयेदिति । आर्या तत्प्रतिबोधार्थं तं बालमुदलापयत् ॥२९३॥
भ्राताऽसि तनुजन्माऽसि वरस्यावरजोऽसि च । भ्रातृव्योऽसि पितृव्योऽसि पुत्रपुत्रोऽसि चार्भक ! ॥२९४॥
यश्च ते बालक ! पिता स मे भवति सोदरः । पिता पितामहो भर्ता तनयः श्वशुरोऽपि च ॥२९५॥
या च बालक ते माता सा मे माता पितामही । भ्रातृजाया वधूः श्वश्रूः सपत्नी च भवत्यहो ॥२९६॥
कुबेरदत्तः तत् श्रुत्वा जगादार्ये ! किमीदृशम् । परस्परविरुद्धार्थं भाषसे विस्मितोऽस्म्यहम् ॥२९७॥
आर्याचे मम बालोऽयं भ्रातैका जननी यतः । वदामि तनुजन्मानममुं मत्पतिसूरिति ॥२९८॥
मद्भर्तुः सोदर इति देवरोऽपि भवत्यसौ । भ्रातुस्तनय इति च भ्रातृव्यं कीर्तयाम्यमुम् ॥२९९॥

पितृव्यश्चैष भवति भ्राता मातृपतेरिति । पुत्रः सपत्नीपुत्रस्येत्यसौ पौत्रौ मयोदितः ॥३००॥
योऽस्य वप्ता स मे भ्राता माता ह्येका यदावयोः । अस्य तातश्च मे तातो भर्ता मातुरभूदिति ॥३०१॥
पितृव्यस्य पितेत्येनमुद्घोषामि पितामहम् । परिणीताऽहममुना ह्यस्मीति पतिरेष मे ॥३०२॥
ममैष तनुजन्मा च सपत्नीकुक्षिभूरिति । देवरस्य पितेत्यष भवति श्वशुरोऽपि हि ॥३०३॥
याऽस्याम्बा सा ममाप्यम्बा तया जाताऽस्म्यहं यतः । पितृव्यकस्य मातेति मम सापि पितामही ॥३०४॥
भ्रातृजायाऽपि भवति मद्भ्रातुर्गृहिणीत्यसौ । सपत्नीतनयस्यैषा गृहिणीति वधूरपि[1] ॥३०५॥
माता पत्युर्मदीयस्येत्यसौ श्वश्रूरसंशयम् । भर्तुर्भार्या द्वितीयेयमिति जाता सपत्न्यपि ॥३०६॥
इत्युक्त्वा साऽर्पयामास स्वां कुबेराय मुद्रिकाम् । तां दृष्ट्वा सोऽपि तं सर्वं जज्ञे सम्बन्धविप्लवम् ॥३०७॥
कुबेरदत्तः संवेगमासाद्य प्राव्रजत्तदा । तपस्तप्त्वा च मृत्वा च स्वर्वधूनामतिथ्यभूत् ॥३०८॥
कुबेरसेनाऽपि तदा श्राविकात्वमशिश्रियत्[2] । आर्या प्रवर्तिनीपार्श्वे पुनरेव जगाम सा ॥३०९॥
एवं च यः स्वयमपि कर्मणा हन्त बध्यते । शुक्ताविव रजतधीर्मूढानां तत्र बन्धुधीः ॥३१०॥
यः स्वयं बन्धुरहितोऽन्येषां यो बन्धमोक्षकः[3] । स क्षमाश्रमणो बन्धुरन्ये नाम्नैव बन्धवः ॥३११॥
भूयोऽपि प्रभवः प्रोचे भो कुमार ! निजान्पितन् । दुर्गतौ पततस्त्रातुं पुत्रमुत्पादयात्मनः ॥३१२॥

१ °धूरिति C 1–3 ॥ २ °श्रय° C 1–2 ॥ ३ वन्धु° $M.$ ॥

पितरो यान्ति नरकेऽवश्यं संतानवर्जिताः । तदसंजातपुत्रस्त्वं पितॄणान्मुच्यसे न हि ॥३१३॥
जम्बूर्जगाद मोहोऽयं यत्पुत्रात्पितृतारणम् । भो ! महेश्वरदत्तोऽत्र सार्थवाहो निदर्शनम् ॥३१४॥
तथा हि ताम्रलिप्त्याख्यपुर्या सार्थपतिः पुरा । श्रीमानजायत महेश्वरदत्तोऽभिधानतः ॥३१५॥
तस्य चाभूज्जनयिता समुद्रो नाम विश्रुतः । अजाततृप्तिर्वित्तेषु समुद्र इव वारिषु ॥३१६॥
मायाप्रपञ्चबहुला बहुला नाम तस्य च । अर्थमातेव माताऽभूदजातविपुलाशया ॥३१७॥
लोभावकरगर्तोऽर्थसञ्चयव्यसनी स तु । पिता तस्य विपद्याभूद्देशे तत्रैव सैरिभः ॥३१८॥
पत्युश्च मरणादार्त्तध्यानानलपतङ्गताम् । जग्मुषी तस्य माताऽपि मृत्वा तत्रैव शुन्यभूत् ॥३१९॥
महेश्वरस्य गृहिणी नामधेयेन गाङ्गिला । महेश्वरस्य गौरीवाभवत्सौभाग्यजन्मभूः ॥३२०॥
श्वश्रूश्वशुरहीना च वसत्येकाकिनी गृहे । स्वच्छन्दचारिण्यभवदरण्ये हरिणीव सा ॥३२१॥
पतिं वञ्चयमाना च रेमे पुंसा परेण सा । एकाकिनीनां नारीणां सतीत्वं हि कियच्चिरम् ॥३२२॥
एकाकिनी रहस्थाश्च दृष्ट्वा मकरकेतनः । योषितो हि प्रहरति निर्भीक इव निर्भरम् ॥३२३॥
तस्यां च रममाणायां परपुंसा निरंकुशम् । अकस्मादन्यदा द्वाराद्देश्मन्यागान्महेश्वरः ॥३२४॥
पुंश्चल्युपपती दृष्ट्वा तौ च विस्रस्तकुन्तलौ । रतायासभयौ कम्प्रजङ्घावुद्भ्रान्तलोचनौ ॥३२५॥
परावर्तात्तसंव्यानावगृहीतोत्तरीयकौ । नग्नप्रायौ स्खलत्पादौ कान्दिशीकौ बभूवतुः ॥३२६॥ (युग्मम्)

जारं केशेषु दध्रेऽथ भल्लूकमिव लुब्धकः । जघान च चपेटाभिर्भूतात्तमिव मान्त्रिकः ॥३२७॥
ममर्द पादघातैश्च मृत्पिण्डमिव कुम्भकृत् । यष्ट्या चाताडयद्वेश्मप्रविष्टमिव कुक्कुरम् ॥३२८॥
किं बहुनाऽर्धपरासुमिव चक्रे महेश्वरः । चौरेऽपि न तथा कोपो यथा जारे मनस्विनाम् ॥३२९॥
महेश्वरेण रुष्टेन कृतान्तस्येव बन्धुना । सोऽथार्धमारितो जारः प्रणश्य कथमप्यगात् ॥३३०॥
स्तोकं च गत्वा पतितो गाङ्गिलोपपतिः स तु । कण्ठोपकण्ठारुढेषु प्राणेष्विदमचिन्तयत् ॥३३१॥
धिग्धिग्मुमूर्षुरेवाहमकार्षं कर्म गर्हितम् । तत्कामदं तीर्थमिव युक्तं मृत्यै ममाऽभवत् ॥३३२॥
एवं च चिन्तयञ्जारो मृत्वा बीजे[1] स्व एव हि । द्राग्मुक्तगाङ्गिलाकुक्षौ पुत्रभूयमियाय सः ॥३३३॥
समये सुषुवे सूनुं गाङ्गिलाऽथ महेश्वरः । *कुण्डमप्यात्मजनितं मन्वानस्तमलालयत् ॥३३४॥
तस्याः प्रसूतपुत्राया गाङ्गिलाया महेश्वरः । पुत्रप्रेम्णा व्यस्मरत्तं पुंश्चलीदोषमागतम् ॥३३५॥
तस्योपपतिजीवस्य पुत्रमूर्तेर्महेश्वरः । धात्रीकर्माणि कुर्वाणो न जिह्राय प्रमोदभाक् ॥३३६॥
वर्धमानं च तं कूर्चकचाकर्षकमर्भकम् । हृदयाग्रे स्थितं दध्रे सदाऽर्थमिव[2] तद्धनः ॥३३७॥
महेश्वरोऽन्यदा प्राप्ते पितुर्मरणवासरे । महिषं पितृजीवं तमक्रीणात्तत्पलेच्छया ॥३३८॥

१ वीर्ये C 3 M ॥ २ तदा° C. 2 ॥

* पत्यौ जीवति जारेण जात =कुण्ड' ।

पितृवासरपर्वार्थं महिषं तममारयत् । स्वयं सामुद्रिरुन्मुद्रप्रमोदपुलकांकुरः ॥३३९॥
ततश्च माहिषं मांसं ग्रासीकुर्वन्महेश्वरः । अङ्कस्थायार्भकायापि ददौ तस्मै प्रमोदभाक् ॥३४०॥
तन्माता च शुनी मांसलुब्धा तत्राभ्युपासरत् । समांसान्यस्थिखण्डानि सोऽपि चिक्षेप तत्कृते ॥३४१॥
स्वकीयपतिजीवस्य कीकसानि जघास सा । पुच्छेन नृत्यता वाताहतधूमशिखाग्रवत् ॥३४२॥
समुद्रसूनोरेवं च खादनः पितृजाङ्गलम् । मासक्षपणभिक्षार्थी तत्रैकोऽभ्याययौ मुनिः ॥३४३॥
ज्ञानातिशयसम्पन्नः स° विलसितं मुनिः । विदाञ्चकार च महेश्वरदत्तस्य तादृशम् ॥३४४॥
अचिन्तयच्च धिगहो ! अस्याज्ञानं तपस्विनः । यदश्नाति पितुर्मांसमङ्के च वहति द्विषम् ॥३४५॥
कीकसानि समांसानि पत्युरत्यंतहर्षभाक् । अश्नाति सारमेयीयमहो ! संसार ईदृशः ॥३४६॥
सम्यगेवं परिज्ञाय निर्ययौ तद्गृहान्मुनिः । महेश्वरोऽपि धावित्वा वन्दित्वा च तमब्रवीत् ॥३४७॥
अनात्तभिक्षो भगवन् ! किं निवृत्तोऽसि मद्गृहात् । न ह्यभक्तोऽहं नावज्ञामकार्षं हर्षुलोऽस्मि च ॥३४८॥
मुनिरुचे विहरेऽहं न मांसादस्य सद्मनि । ततो नाग्राहिषं भिक्षां संवेगोऽभूच्च मे महान् ॥३४९॥
किं कारणमिति पृष्टः सार्थेशेन मुनिः स तु । कथयामास महिषशुन्यादीनां कथां तथा ॥३५०॥
को नाम प्रत्यय इति पृच्छन्तं च महेश्वरम् । मुनिरुचे पृच्छ शुनीं प्राग्निखातं किमप्यहो ! ॥३५१॥
तथा पृष्टा शुनी तेन निधानस्थानमंह्रिणा । चखान शय्यार्थमिव क्षितिं जातिस्वभावतः ॥३५२॥

उत्पन्नप्रत्ययः सोऽथ भवोद्विग्नो महेश्वरः । परिव्रज्यामुपादत्त दत्त्वा पात्रेषु सम्पदम् ॥३५३॥
तस्मात्प्रभव ! को नाम निश्चयो वदतां वर ! । तार्यन्ते दुर्गतिहृदाद्यन्माताापितरः सुतैः ॥३५४॥
अत्रान्तरे समुद्रश्रीर्जम्बूनामानमब्रवीत् । पश्चात्तापं मा स्म गास्त्वं स यथा नाथ कर्षकः ॥३५५॥
तथा हि पृथ्वीप्रथिते ग्रामे नाम्ना सुसीमनि । कर्षको धनधान्यादिसमृद्धो बक इत्यभूत् ॥३५६॥
प्राप्ते च वर्षासमये स कंगूः कोद्रवानपि । वपति स्म महारम्भः क्षेत्रे कृष्टमतीकृते* ॥३५७॥
उद्गतैः श्यामलदलैस्तैर्धान्यैः क्षेत्रभूरभूत् । अभिलोठितकाचेव जातकेशोच्चयेव च ॥३५८॥
तत्कङ्गुकोद्रववनं वर्धमानमुदीक्ष्य सः । मुदितः क्वाप्यगाद् ग्रामे दविष्ठे स्वजनातिथिः ॥३५९॥
स्वजनैर्भोजने तस्य प्रदत्ता गुडमण्डकाः । अपूर्वेण तदाहारेणात्यन्तं च स पिप्रिये ॥३६०॥
ज्ञातीन्प्रीतश्च सोऽपृच्छदहो वः साधु जीवितम् । मनोहरोऽयमाहारो येषां सुष्ठु सुधोपमः ॥३६१॥
स्वप्नेऽप्याहारमीदृक्षमद्राक्षं न कदापि यत् । कङ्गुकोद्रवदग्धान्नान्धिगस्मान्नृपशूनमून् ॥३६२॥
पप्रच्छ च ततो ज्ञातीनज्ञातगुडमण्डकः । इमान्याहारवस्तूनि कानि वा क्व भवन्ति वा ? ॥३६३॥
ते तस्मै कथयामासुररघट्टजलेन भोः ! । क्षेत्रेषु सिक्तेषूप्यन्ते गोधूमा अन्यधान्यवत् ॥३६४॥

* कृष्ट्वा समीकृते ।

तेषां पांक्तिमलूनानां पिष्टानां च घरट्टकैः । पच्यन्ते वह्नितप्तायामयस्पात्र्यां हि मण्डकाः ॥३६५॥
इक्षवोऽपि तथोप्यन्ते तेषां वृद्धिमुपेयुषाम् । [2]निपीलनादुपात्तेन रसेनोत्पद्यते गुडः ॥३६६॥
गुडमण्डकनिष्पत्तिं विज्ञायैवं कृषीवलः । स उपात्तेक्षुगोधूमबीजो ग्रामं निजं ययौ ॥३६७॥
ततश्च गत्वा स क्षेत्रे फलितं कङ्गुकोद्रवम् । बको लवितुमारेभे रभसान्मातृशासितः* ॥३६८॥
ऊचे च पुत्रैः किं तातार्धनिष्पन्नामिमां कृषिम् । स्वकुटुम्बकजीवातुं लुनीषे तृणमात्रवत् ॥३६९॥
बकः प्रोवाच हे पुत्राः ! किमेभिः कोद्रवादिभिः । वप्स्याम्यत्रेक्षुगोधूमान्खाद्या हि गुडमण्डकाः ॥३७०॥
पुत्राः प्रोचुर्दिनैः स्वल्पैर्निष्पत्स्यन्ते कणा अमी । तानादायेक्षुगोधूमान्वपेस्तात यथारुचि ॥३७१॥
निष्पन्नेयं कृषिर्याति गोधूमेक्षुषु संशयः । कटिस्थे गच्छति शिशौ का प्रत्याशोद[3]रस्थिते ॥३७२॥
एवं निवार्यमाणोऽपि बकस्तैस्तनुजन्मभिः । लुलाव कोद्रवकङ्गुवनं तत्र प्रभुर्हि सः ॥३७३॥
प्रलूय तानि शस्यानि स देवानांप्रियो बकः । चकार गोलिकाक्रीडोचितां तां क्षेत्रमेदिनीम् ॥३७४॥
ततश्च खानयामास स कूपं पार्श्वगः स्वयम् । तस्मात्तु निरगान्नाम्भः स्तन्यं वन्ध्यास्तनादिव ॥३७५॥
खानं खानमनिर्विण्णः पातालविवरोपमम् । अकारयद्बकः कूपं न तु पङ्कोऽपि निर्ययौ ॥३७६॥

---

१ पंक्तिम° C 1 । पक्त्रिम° C 3 ॥ २ निष्पोडना° C 1 ॥ ३ °स्थितौ C 1–2. ॥
* मूर्ख ।

ततस्तस्याभवन्नैव कङ्गवो न च कोद्रवाः । नेक्षवो न च गोधूमाः पश्चात्तापं त्वियाय सः ॥३७७॥
ऐहिकं स्त्रीधनसुखं त्यजन्नामुष्मिकं पुनः । संशयास्पदमाकाङ्क्षंस्तद्वन्मा भूर्द्वयोज्झितः ॥३७८॥

जगाद जम्बूनामापि स्मयमानो महामनाः । निर्बुद्धिर्हि समुद्रश्री ! नाहमप्यस्मि काकवत् ॥३७९॥
तथा हि नर्मदाकूले विन्ध्याटव्यां महागजः । एको यूथपतिरभूद्विन्ध्याद्रेर्युवराडिव ॥३८०॥
स्वच्छन्दं विहरन्विन्ध्ये व्यतीयाय स यौवनम् । आयुर्नदीपारनिभमाससाद च वार्धकम् ॥३८१॥
अशक्नुवन्दन्तघातान्कर्तुं क्षीणबलस्तरौ । मदोज्झितो गिरिरिव ग्रीष्मर्तौ शुष्कनिर्झरः ॥३८२॥
शल्लकीकर्णिकारादिवनभङ्गपराङ्मुखः । उच्चान्निम्ने निम्नाच्चोच्चेऽवतारोत्तारकातरः ॥३८३॥
दन्तपातादल्पभोक्ता क्षामकुक्षिर्बुभुक्षया । अस्थिभस्त्रासदृक्कायो वार्धके सोऽभवद् द्विपः ॥३८४॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

कुञ्जरः सोऽन्यदा शुष्कगिरिनद्यां समुत्तरन् । पर्यस्तपादो न्यपतत्कूटमेकं गिरेरिव ॥३८५॥
स जरत्कुञ्जरस्तत्र नाभूदुत्थातुमीश्वरः । तथैवास्थात्पादपोपगमनं पालयन्निव ॥३८६॥
स विपेदे तथास्थोऽपि विपेदानस्य तस्य तु । अपानपललं जक्षुः श्र्वफेरुनकुलादयः ॥३८७॥
बभूव तन्महद् भूतापानरन्ध्रकलेवरम् । सकन्दरगिरिप्रायं श्र्वापदैरास्पदीकृतम् ॥३८८॥

१ °फेर° C. 1–2 ॥ २ स्वा° C. 1–2 ॥

अपानसत्रशालायां द्विकास्तस्यां द्विजा इव । विविशुश्च निरीयुश्चानेकशो भोजनार्थिनः ॥३८९॥
एकश्च वायसोऽत्यन्तमतृप्तो मांसभोजनात् । अपानमध्य एवास्थात्तदुत्पन्न इव कृमिः ॥३९०॥
करिकायस्य तस्यान्तः सारमासादयन्स तु । काष्ठस्येव घुणो मध्ये प्रविवेशाधिकाधिकम् ॥३९१॥
सशरीरः परपुरप्रवेशं नाटयन्भृशम् । अपूर्वो योगविदभूदनायासः स वायसः ॥३९२॥
लूतेव करिकायस्य सोऽश्नन्नव्यग्रमामिषम् । पूर्वापरविभागाज्ञो बभूवात्यन्तमध्यगः ॥३९३॥
दिवाकरकराक्रान्तं करिकायंस्य तस्य तु । संचुकोचापानरन्ध्रं मुक्तविष्टं पुरा यथा ॥३९४॥
काकोऽथ संवृतापानरन्ध्रे करिकलेवरे । बद्धद्वारे करण्डेऽहिरिव तस्थौ तथैव सः ॥३९५॥
करिकायः स मेघर्तौ सरिता वारिपूर्णया । तरङ्गहस्तैराकृष्य नर्मदायामनीयत ॥३९६॥
तरत्प्रवहणमिव तत्कुञ्जरकलेवरम् । रेवयाऽनायि जलधौ तन्नक्राणामिवोपदा ॥३९७॥
तस्मात्कलेवराद्भिद्यमानात्प्रविशदर्णसः । वारिणैव कृतद्वारान्निर्जगाम स वायसः ॥३९८॥
तस्यान्तरीपप्रायस्योपरिष्टात्करिवर्ष्मणः । निषद्य वायसश्चक्रे विष्वग्दिगवलोकनम् ॥३९९॥
अग्रतः पार्श्वयोः पश्चान्नीराद्वैतं ददर्श सः । दध्यौ चोड्डीय यास्यामि तीरं नीरनिधेरहम् ॥४००॥
उड्डीयोड्डीय च प्राप न प्रान्तं वार्धिवारिणः । भूयो भूयोऽपि तत्रैव निषसाद कलेवरे ॥४०१॥

१ °स्थादुत्पन्न इव विट्कृमि *M.* ॥

आक्रम्यमाणमभितस्तन्मीनमकरादिभिः । सद्यो निमज्जति स्माब्धौ भाराक्रान्तेव *मज्जिनी ॥४०२॥
निममज्ज द्विकः सोऽपि पयोराशौ निराश्रयः । प्राणैश्च मुमुचे सद्यो जलाप्लावभयादिव ॥४०३॥
ततो विपन्नवन्येभसन्निभा हि पुरन्ध्रयः । संसारः सागरप्रायः पुरुषो वायसोपमः ॥४०४॥
युष्मासु रागवान्हस्तिकलेवरनिभास्वहो । नाहं काक इवामुष्मिन्मंक्ष्यामि भवसागरे ॥४०५॥
अथ प्रोवाच पद्मश्रीरस्मान्नाथ समुत्सृजन् । त्वं वानर इवात्यन्तमनुतापमवाप्स्यसि ॥४०६॥
तथा ह्यटव्यामेकस्यामन्योन्यमनुरागिणौ । वानरो वानरी चास्तां सदा विरहवर्जितौ ॥४०७॥
युगपद् बुभुजाते तौ मिथो वेलाधराविव† । युगपच्चारुरुहतुः स्पर्धमानाविव द्रुषु ॥४०८॥
एकरज्ज्वाकृष्टाविव युगपच्च दधावतुः । युगपच्चक्रतुः सर्वमेकचित्ताविवानिशम् ॥४०९॥ (युग्मम्)
रेमाते जान्हवीतीरवानीरे तौ परेद्यवि । प्लवमानः प्लवङ्गश्चानवधानोऽपतद् भुवि ॥४१०॥
प्रभावात्तस्य तीर्थस्य क्षणादपि स वानरः । मर्त्योऽमरकुमाराभोऽभवद्विद्याबलादिव ॥४११॥
वानरी वानरं तं तु दृष्ट्वा प्राप्तं नृरूपताम् । स्त्रीरूपेच्छुर्जहौ प्राणान्वानरस्यैव वर्त्मना ॥४१२॥
ततश्च वानरी नारी द्रागभूदमरीनिभा । नवीभूतेन च प्रेम्णा तं नरं परिषस्वजे ॥४१३॥

---

* नौ । † वेलंधरपर्वतौ ।

१ °प्लव° C. 3. ॥

विलेसतुश्च प्राग्जन्मवानरावेव तौ नरौ । अविप्रयुक्तावनिशं निशाचन्द्रमसाविव ॥४१४॥
वानरो यो नरीभूतो नारीं प्रोवाच सोऽन्यदा । आवां देवीभवावोऽद्य मर्त्यीभूतौ यथा पुरा ॥४१५॥
नार्यूचे प्रिय ! पर्याप्तमसन्तोषेण भूयसा । मनुष्यरूपावेवावां विषयानुपभुंक्ष्वहे ॥४१६॥
देवत्वेनास्तु देवत्वादधिकं ह्यावयोः सुखम् । नित्यावियुक्तौ निर्विघ्नमविघ्नौ यद्रमावहे ॥४१७॥
तयैवं वार्यमाणोऽपि स वानरवरो नरः । वानीरादुच्चकैर्झम्पां ददौ तत्रैव पूर्ववत् ॥४१८॥
तत्र तिर्यङ्मर्त्यीभूतो देवीभूतश्च मानवः । तीर्थप्रभावात्तादृक्षौ स्यातां चेत्पततः पुनः ॥४१९॥
इति तत्रैव हि तीर्थे स झम्पां दत्तवानपि । प्राग्जन्मवानरत्वेन वानरः पुनरप्यभूत् ॥४२०॥
राकानिशाकरमुखीं कम्बुकण्ठीमुरुस्तनीम् । तनूदरीं वरारोहां पद्मोपमकरक्रमाम् ॥४२१॥
गङ्गामृत्कृततिलकां लता यतकुन्तलाम् । अरण्यकेतकोत्तंसां तालिकादलकुण्डलाम् ॥४२२॥
कण्ठस्थनलिनीनालहारां हरिणचक्षुषीम् । तामीक्षाञ्चक्रिरेऽन्येद्युर्भ्रमन्तो राजपूरुषाः ॥४२३॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

राज्ञे समर्पयामासुस्तामुपादाय ते नराः । यद्यदस्वामिकं तत्तत्सर्वं भवति राजसात् ॥४२४॥
राज्ञा दिव्याकृतिश्चक्रे साऽन्तःपुरशिरोमणिः । लक्ष्म्यो लक्षणवत्या ह्याकृतेरतिथयः खलु ॥४२५॥
वानरः सोऽपि जगृहे कैश्चित्तत्रागतैर्नरैः । नाट्यं विविधभङ्गीकं पुत्रवच्छिक्षितश्च तैः ॥४२६॥

ते नटाश्चान्यदा जग्मू राज्ञस्तस्यैव सन्निधौ । वानरं नर्तयन्तस्तं चक्रुश्च प्रेक्षणीयकम् ॥४२७॥
अरोदीद्वानरो राज्ञोऽर्धासने [1]प्रेक्ष्य तां प्रियाम् । अश्रुपातैः सात्त्विकाभिनयं प्रकटयन्निव ॥४२८॥
राज्यूचे यो यथा कालः [2]कपे ! सेवस्व तं तथा । मा वञ्जुलपरिभ्रष्टः साम्प्रतं पतनं स्मर ॥४२९॥
तस्मात्त्वमपि सम्प्राप्तमुंज्झन्वैषयिकं सुखम् । पश्चात्तापपरः पश्चान्माः भूः स इव वानरः ॥४३०॥

जम्बूनामा जगादैवं पद्मश्रीरपि न ह्यहम् । विषयेष्वस्मि तृषितो यथा ह्यङ्गारकारकः ॥४३१॥
तथा हि कश्चिदङ्गारकारकोऽगान्महाटवीम् । अङ्गारान्कर्तुमुष्णर्तौ पातुमात्तबहूदकः ॥४३२॥
कुर्वन्नङ्गा[3]रिकोऽङ्गारान्सोऽग्नितापेन भूयसा । तथा तपनतापेन तप्तोऽश्रान्ततृषोऽभवत् ॥४३३॥
वराको वर्ष्मसेकेन पानेन च मुहुर्मुहुः । स वन्यो वारण इव वारि सर्वं न्यति[4]ष्ठिपत् ॥४३४॥
जलेन निखिलेनापि तस्य ह्यङ्गारकारिणः । तृषा[5]ग्निस्तैलवन्नैव प्रशशाम मनागपि ॥४३५॥
निपाने जलपानाय चचालाङ्गारकारकः । यावत्तावत्तृषान्धोऽर्धमा[6]र्गेऽपि निपपात सः ॥४३६॥
स पितृन्दैवयोगाच्च कस्याप्यध्वतरोरधः । पपातामृतवाप्याभच्छायायां शैत्यमातरि ॥४३७॥
तरोस्तले शीतलया छायया प्यायितः स तु । उपलेभे मनाग्निद्रां सुखवारितरङ्गिणीम् ॥४३८॥
वापीकूपतडागादीन्स्वप्ने सर्वाञ्जलाशयान् । मन्त्रप्रयुक्ताग्नेयेषुरिव शोषयति स्म सः ॥४३९॥

१ वीक्ष्य *C* 1 ॥ २ स्तं सहस्व तथा कपे ! *C* 1 ॥ ३ °र को° *C* 3 ॥ ४ °ष्टपत् *C*. 1–3 ॥ ५ °ग्नितैल° *C* 2 ॥ ६ °र्गे विनि° *C*. 1 ॥

तथाऽप्यविच्छिन्नतृषो दैन्यभाक्स उदन्यया* । भ्रमन्नेकं जरत्कूपं पङ्किलांभः समैक्षत ॥४४०॥
तज्जलं चुलुकैर्लातुमशक्तो जिह्वया लिहन् । दाहज्वरीव नातृप्यत्तथाऽपि स कथंचन ॥४४१
तज्जीवोऽङ्गारकृत्तुल्यो वाप्यादिजलसन्निभाः । त्रिदशव्यन्तरादीनां भोगाः प्रियतमे ! खलु ॥४४२॥
स्वर्गादिसौख्यैरपि यो जीवस्तृप्तिमियाय न । मनुष्यभोगैः स कथं तृप्येत्तन्माऽऽग्रहं कृथाः ॥४४३॥

उवाच पद्मसेनाऽथ परिणामः शरीरिणाम् । कर्माधीनस्ततो भुङ्क्ष्व भोगान्युक्त्याऽन्यया कृतम् ॥४४४॥
बहवः सन्ति दृष्टान्ताः प्रवर्तकनिवर्तकाः । नूपुरपण्डितायाश्च गोमायोश्च कथा यथा ॥४४५॥
तथा हि नगरे राजगृहेऽभूत्स्वर्णकारकः । देवदत्तोऽभिधानेन देवदिन्नश्च तत्सुतः ॥४४६॥
गृहिणी दुर्गिला नाम देवदिन्नस्य चाभवत् । एका छेकासु धौरेयी सौभाग्यस्य महानिधिः ॥४४७॥
जगाम साऽन्यदा नद्यां जलमज्जनहेतवे । क्षोभयन्ती मनो यूनां कटाक्षैर्मन्मथेषुभिः ॥४४८॥
सर्वाङ्गहेमाभरणा भान्ती वासोभिरुज्ज्वलैः । नदीतीरमलश्चक्रे सा मूर्तेवाम्बुदेवता ॥४४९॥
दुर्गभूमिं स्मरस्येव दर्शयन्ती स्तनद्वयम् । शनैरुत्तारयामास सा कञ्चुकमुरुस्तनी ॥४५०॥
कञ्चुकं चोत्तरीयं च वयस्यायाः समर्प्य तु । तन्वङ्गी तिरयामास संव्यानार्धेन सा कुचौ ॥४५१॥
विदग्धालीजनालापैर्दग्धोज्जीवितमन्मथा । मन्दं मन्दं मरालीव तीरात्तीरं विवेश सा ॥४५२॥

*ह पया ।

तरङ्गैर्हस्तैरुत्क्षिप्तैर्दूरादपि तरङ्गिणी । तामालिलिङ्ग सर्वाङ्गं चिराद् दृष्टां सखीमिव ॥४५३॥
त्रस्तसारङ्गनयना सा चिक्रीडिषुरम्भसा । नौरिवारित्रदण्डाभ्यां पाणिभ्यां वार्यदारयत् ॥४५४॥
तस्याः स्नान्त्याश्चिरं वारि विकिरन्त्याः कुतूहलात् । शुशुभाते चलौ पाणी नृत्यदम्भोजविभ्रमौ ॥४५५॥
श्लथैकवस्त्राविस्रस्तकेशा धौतरदच्छदा । रतोत्थितेव साऽलक्षि जलक्रीडापरायणा ॥४५६॥
तां क्रीडन्तीं नदीमध्ये वार्धिमध्ये सुरीमिव । ददर्श नागरयुवा दुःशीलः कोऽपि पर्यटन् ॥४५७॥
तां जलक्लिन्नसूक्ष्मैकवसनच्छादितामपि । सुव्यक्तसर्वावयवां दृष्ट्वा क्षोभात्पपाठ सः ॥४५८॥
सुस्नातं ते नदी पृच्छत्यमी पृच्छन्ति चांह्रिपाः । पृच्छाम्यहं च त्वत्पादपद्मयोर्निपतन्नपि ॥४५९॥
साऽप्यपाठीत्स्वस्ति नद्यै चिरं नन्दन्तु चांह्रिपाः । सुस्नातपृच्छकानां च[1] करिष्यामि समीहितम् ॥४६०॥
मनोरथलतोद्भेदे सुधासेकोपमं वचः । तस्याः श्रुत्वा तथैवास्थाद्रुद्धो राजाज्ञयेव सः ॥४६१॥
चिन्तयश्च कथमिति स एकस्य तरोरधः । ददर्शोच्चैर्मुखान्बालान्फलपाताभिकाङ्क्षिणः ॥४६२॥
ततश्च स युवा लोष्टैर्वृक्षशाखाः प्रताडयन् । फलानि पातयामास त्रटत्त्रटिति भूतले ॥४६३॥
यथेष्टं तत्फलप्राप्तिहृष्टान्पप्रच्छ सोऽर्भकान् । नद्यां मज्जनकृत्केयं नारी काऽस्या निकेतनम् ॥४६४॥
तेऽर्भकाः कथयामासुर्देवदत्ताभिधस्य भोः ! । स्नुषा स्वर्णकृत इयमितश्चास्या निकेतनम् ॥४६५॥

[1] तु C 1 ॥

दुर्गिलाऽपि युवानं तं ध्यायन्त्येकेन चेतसा । विहाय मज्जनक्रीडां सद्यः स्वसदनं ययौ ॥४६६॥
कस्यां रात्रौ दिने कस्मिन्क्व प्रदेशे क्व वा क्षणे । आवां मिलिष्याव इति तौ दध्यतुरहर्निशम् ॥४६७॥
वियोगार्त्तौ युवानौ तौ मिथःसङ्गमकाङ्क्षिणौ । चक्रवाकाविव चिरमनुरक्तावतिष्ठताम् ॥४६८॥
स युवा तापसीमेकां पुंश्चलीकुलदेवताम् । भोजनादिभिराराध्यार्थयाञ्चक्रे परेद्यवि ॥४६९॥
देवदत्तस्नुषायाश्च मम चान्योन्यरक्तयोः । साक्षान्नियतिदेवीव शीघ्रं घटय सङ्गमम् ॥४७०॥
स्वयं दूतीभूय पुरा सा सुभ्रूर्भाषिता मया । सङ्गमं मे प्रपन्नाऽस्ति सुकरं तव सम्प्रति ॥४७१॥
प्रतिपद्य करोमीति सद्यः सा तापसी ययौ । सदनं देवदत्तस्य भिक्षादम्भेन धीमती ॥४७२॥
स्थालीतलकदानेन व्यापृतां स्वर्णकृद्वधूम् । सा परिव्राजिकाऽद्राक्षीन्मङ्क्षु तामित्युवाच च ॥४७३॥
मन्मुखेन रिरंसुस्त्वां युवैको मूर्तिमन्मथः । नाथन्नस्ति विशालाक्षि ! मा विलक्षीकृथाः स्म माम् ॥४७४॥
रूपेण वयसा बुद्ध्यां वैदग्ध्यान्यगुणैरपि । आत्मानुरूपमासाद्य तं कृतार्थय यौवनम् ॥४७५॥
नद्यां स्नान्तीं यदा भद्रेऽद्राक्षीत्त्वां स तदाद्यपि । त्वद्गुणोद्गानवातूलोऽन्यस्त्रीनामापि वेत्ति न ॥४७६॥
गोप्तुं हृदयभावं स्वं दुर्गिलाऽपि हि धीमती । तां परिव्राजिकामेव कट्वक्षरमतर्जयत् ॥४७७॥
किं मुण्डे ! पीतशुण्डाऽसि यदेवमभिभाषसे । कुलीनेष्वकुलीनार्हं किमनर्हेऽसि कुट्टिनी ॥४७८॥
आस्त्यजास्मद्दृशोरग्रं भव *लुब्वददर्शना । दर्शनेनापि ते पापं भाषणेन तु का कथा ॥४७९॥

* लुप् लोप तद्वद्दर्शना ।

निर्भर्त्सितायां गच्छन्त्यास्तस्याः पृष्ठे तु दुर्गिला । सौधभित्ताविव ददौ मषीमलिनहस्तकम् ॥४८०॥
तदाशयमजानाना विलक्षा सा तपस्विनी । गत्वा तमूचे दुःशीलं पुरुषं परुषाक्षरैः ॥४८१॥
आस्त्वमेवं मृषावादीः यन्मय्येषाऽनुरागिणी । सा ह्यखर्वसतीगर्वा शुनीमिव ततर्ज माम् ॥४८२॥
मम दूत्यं मुधा मुग्ध ! तत्राभूत्कुलयोषिति । भित्तौ हि चित्ररचना चतुरस्यापि जृम्भते ॥४८३॥
मषीमलिनहस्तेन गृहकर्मविहस्तया । तया कुपितया पृष्ठे चाऽऽहतास्मि चपेटया ॥४८४॥
इत्युक्त्वा दुर्गिलादत्तकज्जलस्थासकाङ्कितम् । धूर्तप्रष्ठाय पृष्ठं स्वं दर्शयामास तापसी ॥४८५॥
स दध्यौ कृष्णपञ्चम्यां सा सङ्केतमदाद् ध्रुवम् । पञ्चाङ्गुलीमषीहस्तः पृष्ठेऽस्या यददीयत ॥४८६॥
वैदग्धी काऽप्यहो तस्या या मे सङ्केतवासरम् । आख्याति स्मानया भङ्ग्या समाश्वसिहि हे मनः ॥४८७॥
सङ्केतस्थानमाचख्यौ न सा केनापि हेतुना । अहो तत्सङ्गमसुखान्तरायोऽद्यापि विद्यते ॥४८८॥
पुनश्च तापसीमूचे न जानासि तदाशयम् । अनुरक्तैव मयि सा भूयोऽपि प्रार्थयस्व ताम् ॥४८९॥
सर्वथा मा कृथा मातर्निर्वेदं मत्प्रयोजने । भूयोऽपि गच्छानिर्वेदः श्रीवल्लेर्मूलमादिमम् ॥४९०॥
साऽप्यूचे तव नामापि कुलीना सहते न सा । स्थले जलारोपणवद् दुष्करं ते समीहितम् ॥४९१॥
त्वदर्थसिद्धौ सन्देहो निःसन्देहं तु भर्त्सनम् । अविलम्बेन यास्यामि मुक्त्वाऽनाशां तथापि हि ॥४९२॥
इत्युक्त्वा त्वरितं गत्वा तापसी स्वर्णकृद्वधूम् । भूयोऽप्युवाच वचनैरमृतद्रवसोदरैः ॥४९३॥

आत्मानुरूपं रूपेण तं युवानं रमस्व हे। गृहाण यौवनफलं यौवनस्योचितं ह्यदः ॥४९४॥
दुर्गिला भर्त्सनापूर्वं गले धृत्वा रुषेव ताम्। अशोकवनिकाप्रत्यग्द्वारेण निरसा[1]रयत् ॥४९५॥
मुण्डाऽपि ह्रीवशाकृष्टनीरङ्गीगोपिताननाा। द्रुतं गत्वा तस्य पुंसः कथयामास खेदभाक् ॥४९६॥
भर्त्सिताऽस्मि तया प्राग्वद् ग्रीवायां विधृता ततः। पश्चाद्द्वाराशोकवनान्तरान्निस्सारिताऽस्मि च ॥४९७॥
दध्यौ च धीमान्स पुमानशोकवनिकान्तरे। आगच्छेरिति सङ्केतो नूनं दत्तस्तया मम ॥४९८॥
ऊचे च तां भगवति! न्यक्कारोऽयं तया कृतः। सोढव्यो मे सा हि दुष्टा वाच्या नातः परं त्वया ॥४९९॥
ततश्च स युवा कृष्णपञ्चम्यां रजनीमुखे। जगाम पश्चिमद्वारेणाशोकवनिकान्तरे ॥५००॥
सोऽद्राक्षीद्वर्त्म पश्यन्तीं तां दूरादपि सापि तम्। तयोरस्खलितस्तारामेलकोऽभूद्विवाहवत् ॥५०१॥
प्रसारयन्तौ नयने इव बाहू परस्परम्। रोमाञ्चोत्फुल्लसर्वाङ्गावुभौ तावभ्यधावताम् ॥५०२॥
तावग्रेऽप्येकमनसौ तदा त्वेकीभवत्तनू। सस्वजाते दृढतरं समुद्रसरिताविव ॥५०३॥
वार्त्ताभिः प्रेमगर्भाभी रतैर्नवनवैरपि। सम्भोगहृदमग्नौ तौ द्वियामीमतिनिन्यतुः ॥५०४॥
ततो रतायासवतोर्भुजगण्डोपधानयोः। सञ्चक्राम तयोर्निद्रा नेत्राम्भोजविभावरी ॥५०५॥
इतश्च देवदत्तोऽपि कायचिन्तार्थमुत्थितः। जगामाशोकवनिकां तौ शयानौ ददर्श च ॥५०६॥

१ °कासय° C. 1 ॥

अचिन्तयच्च धिगियं स्नुषा पापीयसी मम । परपुंसा सह रतश्रान्ता स्वपिति निर्भरम् ॥५०७॥
जार एवायमिति च निश्चेतुं स्थविरः स तु । गृहे गत्वा सुतं सुप्तं दृष्ट्वाऽऽगत्येत्यचिन्तयत् ॥५०८॥
आकर्षाम्यहमेतस्याः शनकैः पादनूपुरम् । यथा प्रत्येति मे सूनुः कथितामसतीमिमाम् ॥५०९॥
इति दस्युरिवाकृष्य सद्यस्तत्पादनूपुरम् । देवदत्तोऽविशद्वेश्म पुनस्तेनैव वर्त्मना ॥५१०॥
नूपुराकर्षणेनाशु प्राबुद्ध स्वर्णकृद्वधूः । प्राय सभयसुप्तानां निद्राऽप्यल्पा भयादिव ॥५११॥
ज्ञात्वा च साऽपि श्वशुरेणाकृष्टं पादनूपुरम् । उत्थाप्य जारपुरुषं बभाषे भीविसंस्थुला ॥५१२॥
प्रयाहि शीघ्रं दृष्टौ स्वः श्वशुरेण दुरात्मना । साहाय्याथ यतेथास्त्वं ममानर्थे समागते ॥५१३॥
आमेत्युक्त्वार्धसंवीतसंव्यानः स भयाद्ययौ । पुंश्चल्यपि द्रुतं गत्वा पार्श्वे पत्युरशेत सा ॥५१४॥
धृष्टत्वं नाट्यन्ती सा धीमतीनां धुरन्धरा । पतिं प्रबोधयामास गाढालिङ्गनपूर्वकम् ॥५१५॥
उवाच चार्यपुत्रेह घमा मामतिबाधते । तदेह्यशोकवनिकामनिलालोलपल्लवाम् ॥५१६॥
उत्थाय देवदिन्नोऽपि स्त्रीप्रधानः स आर्जवात् । जगामाशोकवनिकां तया ग्रीवाविलग्नया ॥५१७॥
तत्रैव गत्वा साऽशेत पतिमालिङ्ग्य निर्भरम् । सजारा यत्र शयिता श्वशुरेण निरीक्षिता ॥५१८॥
तत्रापि तत्पतिर्निद्रां प्रपेदे सरलाशयः । निद्रा ह्यक्षुद्रमनसां प्रायेण सुलभैव हि ॥५१९॥
नटीव गोपिताकारा सा धूर्ताऽथावदत्पतिम् । त्वत्कुले कोऽयमाचारो यो वक्तुमपि नेष्यते ॥५२०॥

त्वामालिङ्ग्य प्रसुप्ताया निरावरणवक्षसः। जग्राह तातो मे पादादस्मादाकृष्य नूपुरम् ॥५२१॥
न युज्यते वधूः स्प्रष्टुं पूज्यानामन्यदाऽपि हि। किं पुनः पतिसहिता शयिता रतवेश्मनि ॥५२२॥
जगाद देवदिन्नोऽपि प्रातः पितरमीदृशम्। सोपालम्भं भणिष्यामि पश्यन्त्यास्ते मनस्विनि ! ॥५२३॥
सोचेऽधुनैव तातं त्वं संवादयितुमर्हसि। प्रातर्मां सोऽन्यपुंसा हि शयितां कथयिष्यति ॥५२४॥
सोऽवोचन्मम सुप्तस्याहार्षीर्नूपुरमित्यहम्। तातमाक्षिप्य वक्ष्यामि तव पक्षेऽस्मि निश्चितम् ॥५२५॥
प्रभातेऽपि तथा वाच्यं वक्षीदानीं यथा प्रिय !। इति तं कारयामास सा धूर्ता शपथान्बहून् ॥५२६॥
प्रभाते देवदिन्नोऽपि कुपितः पितरं निजम्। जगाद किमकार्षीस्त्वं वध्वा नूपुरकर्षणम् ॥५२७॥
स्थविरो व्याहरद्वत्स ! दुःशीला हि वधूरियम्। दृष्टाऽन्यपुंसा शयिता मयाशोकवने निशि ॥५२८॥
दुःशीलेयमिति दृढप्रत्ययोत्पादनाय ते। वध्वाः पादात्समाकृष्य गृहीतं नूपुरं मया ॥५२९॥
पुत्रोऽवददहं सुप्तस्तदाभून्नापरः पुमान्। निर्लज्जेन त्वया तात ! लज्जितोऽस्मि किमीदृशम् ॥५३०॥
अर्प्यतां नूपुरं वध्वा मा तात ! त्वं विगोपय। मयि सुप्ते तदाकृष्टं प्रकृष्टा खल्वियं सती ॥५३१॥
स्थविरोऽवोचदाकृष्टं यदाऽस्या नूपुरं मया। उपेत्य वीक्षितोऽसि त्वं तदा हि शयितो गृहे ॥५३२॥
दुर्गिलोवाच न सहे दोषारोपणमात्मनः। तातं प्रत्याययिष्यामि कृत्वा दैवीमपि क्रियाम् ॥५३३॥
कुलीनायाः कलङ्को मे वाङ्मात्रमपि हीदृशम्। न शोभते मषीबिन्दुरपि धौतसितांशुके ॥५३४॥

इह शोभनयक्षस्य जङ्घान्तर्निस्सराम्यहम् । तज्जङ्घयोर्हि मध्येन नाशुद्धो यातुमीश्वरः ॥५३५॥
पित्राऽथ सविकल्पेन निर्विकल्पेन सूनुना । प्रतिज्ञा प्रतिपेदे सा तस्या धाष्ट्र्यमहानिधेः ॥५३६॥
स्नात्वा धौतांशुकधरा धूपपुष्पोपहारभृत् । सा सर्वबन्धुप्रत्यक्षं यक्षं पूजयितुं ययौ ॥५३७॥
तस्या यक्षं पूजयन्त्या जारः सङ्केतितः स तु । अलगद् ग्रहिलीभूय कण्ठदेशे कवर्गवत् ॥५३८॥
अपास्यत गले धृत्वा जनैर्ग्रहिल इत्यसौ । पुनः स्नात्वा च सा यक्षमर्चित्वैवं व्यजिज्ञपत् ॥५३९॥
कदाऽपि हि मयाऽस्पर्शि पुमान्नान्यः पतिं विना । ग्रहिलोऽयं तु मत्कण्ठे लग्नः प्रत्यक्षमेव च ॥५४०॥
पत्युन्मत्तद्वयान्नान्यो लग्नश्चेन्मत्तनौ पुमान् । तदा मे शुद्धिदो भूयाः सत्याः सत्यप्रियोऽसि हि ॥५४१॥
यक्षोऽपि यावदाविष्टः किं करोमीति चिन्तया । तावत्तज्जङ्घयोरन्तस्त्वरितं निर्जगाम सा ॥५४२॥
शुद्धा शुद्धेति तत्कालं जने तुमुलकारिणि । पुष्पदाम गले तस्या राजाध्यक्षा निचिक्षिपुः ॥५४३॥
वाद्यमानेन तूर्येण हृष्टैर्बन्धुजनैर्वृता । स्वीकृता देवदिन्नेन सा ययौ श्वशुरौकसि ॥५४४॥
नूपुराकर्षणोद्भूतं कलङ्कमुदतारयत् । इति सा तत्प्रभृत्यूचे जनैर्नूपुरपण्डिता ॥५४५॥
वध्वा बुद्धया पराभूतो देवदत्तस्तदाद्यपि । चिन्तया नष्टनिद्रोऽभूद्द्वारिबद्ध इव द्विपः ॥५४६॥
तं योगिनमिवानिद्रं ज्ञात्वा च पृथिवीपतिः । वृत्तिं यथार्थितां दत्त्वा चक्रे शुद्धान्तरक्षकम् ॥५४७॥

१ °होदधे C. 1 ॥ २ °नन्य C 1–2 ॥

एका राज्ञी क्वचिद्रात्रौ तमन्तःपुररक्षकम् । शेते नो वेति विज्ञातुं निरैक्षिष्ट पुनः पुनः ॥५४८॥
सोऽचिन्तयच्च किमपि कारणं ज्ञायते न हि । उत्थाय भूयो भूयोऽपि मामेषा यन्निरीक्षते ॥५४९॥
सुप्ते च मयि किं कुर्यादिति ज्ञातुं स यामिकः । अलीकनिद्रया शिश्ये सा तु भूयोऽपि निर्ययौ ॥५५०॥
साऽपि निर्भरसुप्तं तं ज्ञात्वा हृष्टिमुपेयुषी । गवाक्षाभिमुखं गन्तुमारेभे चौरवच्छनैः ॥५५१॥
गवाक्षस्य हि तस्याधो बद्धोऽभूद्राजवल्लभः । कुञ्जरो निर्जरगजानुजन्मेव सदामदः ॥५५२॥
सा तस्य हस्तिनो मिण्ठे नित्यरक्ता गवाक्षतः । सञ्चारिदारुफलकमपसाय बहिर्ययौ ॥५५३॥
तामादाय करेणेभो नित्याभ्यासात्सुशिक्षितः । मुमोच भूमौ तां दृष्ट्वाऽऽधोरणः स चुकोप च ॥५५४॥
अतिकाले किमायासीरित्युक्त्वा चारुणेक्षणः । हस्तशृङ्खलया राज्ञीं दासीमिव जघान ताम् ॥५५५॥
सोवाच मा ताडय मामद्यान्तपुररक्षकः । राज्ञा मुक्तो नवः कोऽपि जागरुकोऽरुणत्स माम् ॥५५६॥
निद्राच्छिद्रं कथमपि प्राप्य तस्य चिरादहम् । आगताऽस्मीति विज्ञाय मा कोपीर्मयि सुन्दरे ! ॥५५७॥
इत्थं च बोधितो हस्तिपकः कोपं विहाय सः । रमत स्म निराशङ्कस्तया सह यथारुचि ॥५५८॥
रात्रेस्तु पश्चिमे भागे सा साहसमहानिधिः । हस्तिना हस्तमारोप्योदश्चिता स्वाश्रयं ययौ ॥५५९॥
दध्यौ च स्वर्णकारोऽपि चरितं योषितामहो । अश्वानां कुहकारावमिव को वेत्तुमीश्वरः ॥५६०॥

१ दारु° C 3, M ॥ २ °र C 1–2–3 ॥ ३ °रुचि C 1–2 ॥ ४ सा स्तय C 2 ॥ ५ °राभमि° C. 1 ॥

अहो असूर्यम्पश्यानामपि यद्राजयोषिताम् । शीलभङ्गो भवत्येवमन्यनारीषु का कथा ॥५६१॥
पानीयाहरणाद्यर्थं सामान्यगृहयोषिताम् । नगरे सञ्चरन्तीनां शीलत्राणं कियच्चिरम् ॥५६२॥
इति स्नुषाया दौःशील्यामर्षचिन्तां विहाय सः । सुष्वाप दत्तर्ण इवाधमर्णस्तत्र निर्भरम् ॥५६३॥
प्रभातेऽपि जजागार स्थविरः स्वर्णकृन्न सः । चेटाश्च कथयामासुस्तं तथास्थं महीभुजे ॥५६४॥
राजाऽपि व्याजहारैवं भाव्यं केनापि हेतुना । स यदा प्रतिबुध्येत तदा नेयोऽस्मदन्तिके ॥५६५॥
इत्यादिष्टा ययुश्चेटाः स्वर्णकारोऽपि निर्भरम् । निद्रासुखं सप्तरात्रं चिरादनुबभूव सः ॥५६६॥
सप्तरात्रावसाने च स प्रबोधमुपागतः । चेटैर्निन्ये पुरो राज्ञो राज्ञा चैवमपृच्छ्यत ॥५६७॥
निद्रा कदाऽपि ते नागाद् दुर्भगस्येव कामिनी । तत्किं सुप्तः सप्तरात्रं को हेतुर्ब्रूह्यभीस्तव ॥५६८॥
सोऽपि तं रात्रिवृत्तान्तं राज्या हस्तिपकस्य च । हस्तिनश्च यथादृष्टं कथयामास भूभुजे ॥५६९॥
राज्ञा प्रसादं दत्त्वा स विसृष्टः स्वगृहं ययौ । जीर्णदुःखः सुखं चास्थाद्धैर्यं ह्येति जनो जनात् ॥५७०॥
तां च दुश्चारिणीं राज्ञीं परिज्ञातुमिलापतिः । कारयित्वा किलिञ्चेभं* राज्ञीः सर्वाः समादिशत् ॥५७१॥
स्वप्नो दृष्टो मया यत्तत्किंलिञ्चोऽयं मतङ्गजः । आरोढव्यो विवस्त्राभिर्भवतीभिः पुरो मम ॥५७२॥

१ °स्य° C. 1 ॥ २ °स्य C 1 ॥ ३ °त्कै° C 3, M ॥

*काष्ठगजं ।

चक्रिरे च तथा राज्ञ्यो राज्ञः पश्यत एव ताः । राज्ञी सैका त्वदोऽवादीद्बिभेम्यस्मान्मतङ्गजात् ॥५७३॥
तां लीलोत्पलनालेन सामर्षः प्राहरन्नृपः । मूर्च्छानाटितकं कृत्वा न्यपतत्साऽपि भूतले ॥५७४॥
नृपोऽपि बुद्ध्या निश्चिक्ये सैवेयं कुलपांसिनी । पापीयसी दुराचारा कथिता स्थविरेण या ॥५७५॥
निरूपयंश्च तत्पृष्ठं शृङ्खलाघातदर्शनात् । नखाच्छोटनिकापूर्वं कृत्वा स्मितमदोऽवदत् ॥५७६॥
क्रीडसीभेन मत्तेन किलिश्चेभाद्बिभेषि च । मोदसे शृङ्खलाघातान्मूर्च्छस्युत्पलघाततः ॥५७७॥
प्रदीप्तकोपप्राग्भारो गत्वा वैभारपर्वते । राजाऽपि तं हस्तिपकं हस्त्यारूढमजूहवत् ॥५७८॥
तद्द्वितीयां च तां राज्ञीमारोपयदिभासने । आधोरणाधमं चोग्रशासनस्तं समादिशत् ॥५७९॥
विषमाद्रिप्रदेशाधिरूढं कृत्वा मतङ्गजम् । पातयेः पतता तेन युवयोरस्तु निग्रहः ॥५८०॥
आधोरणस्तं करिणमधिरोप्याद्रिमूर्धनि । त्रिपद्या धारयामासोत्क्षिप्तैकचरणं स्थिरम् ॥५८१॥
हाहाकुर्वञ्जनोऽप्यूचे यशोराज्ञाविधायिनः । मारणं करिरत्नस्य राजरत्न ! न युज्यते ॥५८२॥
अनाकर्णितकं कृत्वा पातयेत्येव वादिनि । नृपे द्विपं हस्तिपकः पद्भ्यां द्वाभ्यामधारयत् ॥५८३॥
हहा न वध्यो हस्तीति पुनर्लोके प्रजल्पति । तूष्णीकोऽभून्नृपो मेण्ठोऽप्येकांह्रिस्थं गजं दधौ ॥५८४॥
मारणं हस्तिरत्नस्य लोको द्रष्टुमनीश्वरः । हाहाकुर्वन्महीनाथं जगादोदश्रितैर्भुजैः ॥५८५॥

१ °ताडनात् C 1 ॥

*औपवाह्यो ह्यसावन्यगजासह्यः सुशिक्षितः । क्षितिवल्लभ ! दुःप्रापो दक्षिणावर्तशङ्खवत् ॥५८६॥
प्रभुस्त्वमपराधीनो यदिच्छसि करोषि तत् । निरङ्कुशं स्यादयशस्त्वविवेकभवं तव ॥५८७॥
कार्याकार्ये विचार्ये हि हे स्वामिन्[1]स्वामिना स्वयम् । स्वयं विचार्य तद्रक्ष हस्तिरत्नं प्रसीद नः ॥५८८॥
नृपोऽप्यवोचदस्त्वेवं यूयं सर्वेऽपि मद्गिरा । इमं हस्तिपकं हस्तिरक्षणाय भणन्तु भोः ! ॥५८९॥
लोकाः प्रोचुः किमियतीं भूमिकां प्रापितं द्विपम् । आधोरणधुरीण ! त्वं निवर्तयितुमीशिषे ? ॥५९०॥
स उवाच द्विपममुं क्षेमेणोत्तारयाम्यहम् । ददात्यहो यद्यभयमावयोर्मेदिनीपतिः ॥५९१॥
राजापि लोकैर्विज्ञप्तः प्रददावभयं तयोः । शनैश्च हस्तिनं हस्तिपकस्तमुदतारयत् ॥५९२॥
उत्तीर्णौ वारणस्कन्धाद्राज्ञीहस्तिपकौ तु तौ । पलायिषातां राज्ञोक्तौ मद्देशस्त्यज्यतामिति ॥५९३॥
नश्यन्तौ प्रापतुस्तौ तु ग्राममेकं दिनात्यये । एकस्मिंश्च देवकुले शून्ये सुषुपतुर्युतौ ॥५९४॥
अर्धरात्रसमये च ग्रामादेको मलिम्लुचः । नंष्ट्वा तदाऽऽरक्षकेभ्यस्तत्र देवकुलेऽविशत् ॥५९५॥
तत्तु देवकुलं ग्रामारक्षकैः पर्यवेष्ट्यत । प्रातश्चौरं ग्रहीष्याम इति निर्णयवादिभिः ॥५९६॥
कराभ्यां शोधयन्देवकुलं चौरोऽपि सोऽन्धवत् । शनैस्तत्र ययौ यत्र शयानौ तौ बभूवतुः ॥५९७॥

---

*राजवाह्य ।

१ 'न्प्रमिता वयम् C 2 ॥

निषादी न जजागार स्पृश्यमानोऽपि दस्युना । श्रान्तसुप्तस्य निद्रा हि सज्यते वज्रलेपवत् ॥५९८॥
अपीषत्तत्करस्पृष्टा राजपत्नी त्वजागरीत् । स्पर्शादप्यनुरक्ताऽभूत्तत्र कोऽसीत्युवाच च ॥५९९॥
शनैरुक्तस्तया सोऽपि शनैरूचेऽस्मि तस्करः । धावत्स्वारक्षकेष्वत्र प्राणत्राणाय चाविशम् ॥६००॥
सानुरागा च सा चौरमब्रवीदसतीब्रुवा । रक्षामि त्वां न सन्देहो यदि मां सुभगेच्छसि ॥६०१॥
चौरोऽपि स्माह कनकं मया प्राप्तं सुगन्धि च । मम पत्नी भवसि यज्जीवितव्यं च रक्षसि ॥६०२॥
परं पृच्छामि को नाम प्रकारो वरवर्णिनि ! । येन मां रक्षसि ब्रूहि मामाश्वासय धीमति ! ॥६०३॥
साप्यूचे सुभग ! ग्रामपुरुषेष्वागतेष्वहम् । त्वां भर्तारं भणिष्यामि सोऽवादीदेवमस्त्विति ॥६०४॥
प्रातश्च ग्रामसुभटैः प्रविष्टैः शस्त्रपाणिभिः । पृष्टास्त्रयोऽपि कश्चौर इति भ्रूभङ्गभीषणैः ॥६०५॥
तान्ग्रामपुरुषान्धूर्ता मूतमायेव साऽवदत् । उद्दिश्य चौरपुरुषं मम प्रेयानसाविति ॥६०६॥
कृताञ्जलिः पुनश्चोचे भ्रातरोऽस्मिन्सुरालये । आवां ग्रामान्तरे यान्ताववात्स्व दिवसात्यये ॥६०७॥
ग्रामीणास्ते ऽपि सम्भूय पर्यालोच्यैवमूचिरे । सम्भाव्यते न चौरस्य गृहे स्त्रीपात्रमीदृशम् ॥६०८॥
ब्राह्मणी वाणिजी राजपुत्री काऽपीतराऽस्तु वा । इयं पवित्रा मूर्त्याऽपि चौरो नास्याः पतिर्भवेत् ॥६०९॥
विचित्रवस्त्रालङ्कारा लक्ष्मीरिव वपुष्मती । इयं हि गृहिणी यस्य स किं चौर्येण जीवति ? ॥६१०॥
पारिशेष्यादयं चौर इति हस्तिपकस्य ते । दोषमारोप्य विदधुः सद्यः शूलाधिरोपणम् ॥६११॥

शूलाधिरोपितो मार्गे यं यं यान्तं ददर्श सः । तं तं प्रोवाच दीनं मां वारि पायय पायय ॥६१२॥
तं च राजभयात्कोऽपि न पानीयमपाययत् । सर्वोऽपि कुरुते धर्ममात्मरक्षापुरःसरम् ॥६१३॥
श्रावको जिनदासाख्यस्तेन तेनाध्वना व्रजन् । दृष्टश्च याचितश्चाम्भः सोऽपि चैवमुवाच तम् ॥६१४॥
उदन्यां ते हरिष्यामि कुरुष्वेकं तु मद्वचः । घोषेर्नमोऽर्हद्भ्य इति यावद्वार्यानयाम्यहम् ॥६१५॥
मेण्ठो ऽपि तद् घोषयितुं प्रारेभे ऽम्भःपिपासया । श्रावको ऽप्यानयन्नीरं राजपुंसामनुज्ञया ॥६१६॥
आनीयमानं दृष्ट्वाऽम्बु समाश्वस्य निषाद्यपि । नमोऽर्हद्भ्य इति भृशं पठन्प्राणैरमुच्यत ॥६१७॥
स त्वसंस्तुतशीलो ऽपि शीलिताकामनिर्जरः । नमस्कारप्रभावेण बभूव व्यन्तरामरः ॥६१८॥
प्रतस्थे पुंश्चली साऽपि चौरेण सह वर्त्मनि । आससाद नदीमेकां वारिपूरेण दुस्तराम् ॥६१९॥
चौरोऽपि पुंश्चलीमूचे प्रिये ! त्वामेकवेलया । नोत्तारयितुमीशोऽस्मि वस्त्राभरणभारिणीम् ॥६२०॥
वस्त्राभरणसम्भारं त्वं समार्पय वर्णिनि ! । तमादौ परतो नेष्ये ततस्त्वामपि लीलया ॥६२१॥
यावदायाम्यहं तावच्छरस्तम्बे तिरोभव । एकाकिन्यपि मा भैषीरेष्यामि न चिरेण हि ॥६२२॥
आरोप्य पृष्ठदेशे त्वां तरन्पोत इवाम्भसि । तटे परस्मिन्नेष्यामि मा भैषीः कुरु मद्वचः ॥६२३॥
पुंश्चल्यपि तथा चक्रे शरस्तम्बे प्रविश्य च । वस्त्राभरणभृत्सोऽपि पारं गत्वेत्यचिन्तयत् ॥६२४॥
भर्तारं मारयामास येयं मय्यनुरागिणी । क्षणरागा हरिद्रेव विपदे स्यान्ममाप्यसौ ॥६२५॥

इत्युपादाय तद्वस्त्राभरणानि स तस्करः । तां वलत्कन्धरः पश्यन्नश्यति स्म कुरङ्गवत् ॥६२६॥
करिणीवोद्धृतकरा यथा जातेव नग्निका । ऊचे तं यान्तमालोक्य मां विहाय प्रयासि किम् ॥६२७॥
चौरो ऽब्रवीद्विवसनामेकां शरवणस्थिताम् । राक्षसीमिव दृष्ट्वा त्वां बिभेम्येव कृतं त्वया ॥६२८॥
एवं वदन्खग इवोड्डीनः सो ऽगाददर्शनम् । तत्रैव तस्थौ त्वासित्वा *धर्षणी पतिघर्षणी ॥६२९॥
स हस्तिपकजीवो ऽपि देवभूयमुपयिवान् । प्रयुक्तावधिरद्राक्षीत्तां तथास्थां तपस्विनीम् ॥६३०॥
सम्बुबोधयिषुस्तां तु प्राग्जन्मगृहमेधिनीम् । मुखात्तमांसपेशीकं शृगालं विचकार सः ॥६३१॥
इतश्च सरितस्तस्यास्तीरे नीराद्बहिःस्थितम् । मीनं भोक्तुमधाविष्ट मांसपेशीं विहाय सः ॥६३२॥
तदा मीनः पुनरपि प्रविवेश नदीजलम् । उपाददे तद्विकृतशकुन्या मांसपेश्यपि ॥६३३॥
नदीतीरे शरवणनिषण्णा सा तु नग्निका । जगाद दुःखदीनाऽपि जम्बुकं दृष्टकौतुका ॥६३४॥
मांसपेशीं परित्यज्य मीनमिच्छसि दुर्मते !। भ्रष्टो मीनाच्च मांसाच्च किं जम्बुकः ! निरीक्षसे ॥६३५॥
फेरुः स्माहोढभर्तारं हित्वोपपतिमिच्छसि । भ्रष्टा पत्युश्च जाराच्च नग्निके ! किं निरीक्षसे ॥६३६॥
तच्छ्रुत्वा सुष्ठु बिभ्यत्यास्तस्याः स व्यन्तरामरः । महर्धिकं निजं रूपं दर्शयित्वैवमब्रवीत् ॥६३७॥
पापमेवाकृथाः पापे ! यद्यपि त्वं तथाऽपि हि । जिनधर्मं प्रपद्येथाः पापपङ्कजलप्लवम् ॥६३८॥

---

[1] कुलटा ।

मुग्धे ! हस्तिपकः सोऽहं यस्त्वया मृत्युमापितः । जिनधर्मप्रभावाच्च देवीभूतोऽस्मि पश्य माम् ॥६३९॥
जिनधर्मं प्रपत्स्ये ऽहमपीति कृतनिश्चयाम् । तां साध्वीसन्निधौ नीत्वा स प्रव्रज्यामजिग्रहत् ॥६४०॥

तदस्माद्गुरुजनानर्हान्प्रवर्तकनिवर्तकान् । दृष्टान्तांस्त्वमनादृत्य भुंक्ष्व वैषयिकं सुखम् ॥६४१॥
जगाद जम्बूनामाऽपि विद्युन्मालीव खेचरः । न ह्यस्मि रागग्रहिलश्चरितं तस्य तच्छृणु ॥६४२॥

अस्तीह भरतक्षेत्रे वैताढ्यो नाम पर्वतः । सम्पृक्तो भरतार्धाभ्यां पक्षाभ्यामिव नीडजः ॥६४३॥
तत्र चास्ति पुरवरमुत्तरश्रेणिभूषणम् । गगनवल्लभमिति द्युसदामतिवल्लभम् ॥६४४॥
द्वौ विद्याधरतरुणौ प्रीतिमन्तौ सहोदरौ । तत्राभूतां मेघरथो विद्युन्माली च नामतः ॥६४५॥
मन्त्रयामासतुस्तौ च विद्यासाधनहेतवे । यामो भूगोचराभ्यर्णे विद्या तत्रैव सेत्स्यति ॥६४६॥
विद्यासिद्धौ विधिश्चायमतिनीचकुलोद्भवाम् । कन्यां परिणयेद्वर्षावधि ब्रह्म च पालयेत् ॥६४७॥
ततो गुरूननुज्ञाप्य भरतार्धेऽत्र दक्षिणे । आजग्मतुर्द्वावपि तौ वसन्तपुरपत्तनम् ॥६४८॥
ततश्चण्डालवेषेण गत्वा चण्डालपाटकम् । प्रचक्रमाते चण्डालाराधनं धीमहाधनौ ॥६४९॥
आराधितास्तु मातङ्गाः प्रोचुरायातमत्र किम् । आख्यातं चिरकालो ऽभूद्युवयोरिह तिष्ठतोः ॥६५०॥
सद्भावगोपनं कृत्वा कथयामासतुश्च तौ । क्षितिप्रतिष्ठान्नगरादागतांविह हे हिताः ! ॥६५१॥

१ °मात्रेह C. 3 ॥

मातापितृभिरावां हि कुटुम्बस्य बहिष्कृतौ । इति रोषेण निर्यान्तौ भ्रमन्तौ चागताविह ॥६५२॥
मातङ्गाः प्रोचिरे चास्मानाश्रित्यातिष्ठतं युवाम् । युवाभ्यां तत्प्रयच्छामः स्वे द्वे कन्ये यदीच्छथः ॥६५३॥
किं त्वस्मत्कन्यके पाणिगृहीत्यौ चेत्करिष्यथः । अस्मज्जात्युचितं सर्वं तदनुष्ठास्यथो युवाम् ॥६५४॥
तावप्यूचतुरामेति मातङ्गैरपि कन्यके । तयोः प्रदत्ते उद्वाहपूर्वकं काणदन्तुरे ॥६५५॥
विद्युन्माली तु मातङ्गकन्यायामतिरागवान् । अभूदपि कुरुपायां न विद्यासाधनं व्यधात् ॥६५६॥
क्रमेण गृहिणी विद्युन्मालिनो गर्भवत्यभूत् । पूर्णे च वत्सरे सिद्धविद्यो मेघरथोऽभवत् ॥६५७॥
ततो मेघरथः प्रीत्या विद्युन्मालिनमब्रवीत् । हे भ्रातः ! सिद्धविद्याः स्मश्चण्डालकुलमुज्झ्यताम् ॥६५८॥
पात्रीभवावो वैताढ्यविहारसुखसम्पदाम् । मातङ्गीं त्यज भाविन्यः खेचर्यो नौ स्वयंवराः ॥६५९॥
विद्युन्माल्यपि तं लज्जावनम्रवदनो ऽवदत् । याहि विद्याढ्य ! वैताढ्यं कृतकृत्योऽसि सुव्रत ! ॥६६०॥
मया त्वधमसत्त्वेन भग्नो नियमपादपः । ततश्च मे तत्प्रभवं विद्यासिद्धिफलं कुतः ॥६६१॥
वराकीं त्यक्तुमर्हामि जातगर्भामिमां न हि । त्वया सविद्येनाविद्यो गच्छञ्जिह्रेमि चानघ ! ॥६६२॥
याहि साधितविद्यस्त्वं तुभ्यं स्वस्त्यस्त्वहं पुनः । असिद्धविद्यो बन्धूनां दर्शयामि कथं मुखम् ? ॥६६३॥
वञ्चितो ह्यात्मनैवात्मा प्रमत्तेन मयाऽमुना । इदानीं साधयिष्यामि विद्यामुद्योगवानहम् ॥६६४॥

१ °र्यातौ C 1 ॥

वर्षान्ते पुनरागच्छेर्विभ्राणो भ्रातरं हृदि । तदा सावतविद्यो ऽहं यथा यामि त्वया सह ॥६६५॥
चण्डालीप्रेमपाशेन बद्धं तं नेतुमक्षमः । एकाक्यपि ययौ मेघरथो वैताढ्यपर्वतम् ॥६६६॥
आगतोऽसि किमेकाकी क्व ते भ्रातेति बन्धुभिः । पृष्टः स कथयामास विद्युन्मालिकथां तथा ॥६६७॥
कुरूपा तत्प्रिया सापि म्लेच्छी सुतमजीजनत् । विद्यासिद्धिमिव प्राप्य विद्युन्माल्यप्यमोदत ॥६६८॥
म्लेच्छ्यामत्यन्तमासक्त्या पुत्रप्रेम्णा विशेषतः । दुःस्वप्नवद्विसस्मार स खेचरसुखं कुधीः ॥६६९॥
सा विद्युन्मालिना सार्धं रममाणा यथासुखम् । भूयोऽप्यधारयद्गर्भं चण्डाली काणदन्तुरा ॥६७०॥
इतश्च विद्यासम्पन्नस्तत्र मेघरथो ऽभ्यगात् । वर्षमेकं कथमपि स्वभ्रातृविरहातुरः ॥६७१॥
अहं हि स्वर्वधूकल्पविद्याधरवधूवृतः । स काणदन्तुरम्लेच्छीगार्हस्थ्यनरकोषितः ॥६७२॥
प्रासादे सप्तभूमे ऽहं वसाम्युद्यानबन्धुरे । श्मशानकीकसाकीर्णे स चण्डालकुटीरके ॥६७३॥
अहं विविधविद्यर्द्धिसिध्यमानसमीहितः । जीर्णकर्पटसंव्यानः कदन्नप्राशनश्च सः ॥६७४॥
विद्युन्मालिनि सौभ्रात्रानुरूपमिति चिन्तयन् । आगात्पुनर्मेघरथो वसन्तपुरपत्तनम् (चतुर्भिः कलापकम्)
ऊचे च भ्रातरं भ्रातर्गत्वा वैताढ्यपर्वते । विद्याधरसुखैश्वर्यं वयं किं नानुभूयते ॥६७६॥
विलक्षहसितं कृत्वा विद्युन्माल्यप्यदो ऽवदत् । पत्नीयं बालवत्सा मे पुनर्गुर्वी च वर्तते ॥६७७॥

१ 'भुज्य' C ।॥

अनन्यशरणां भक्तां सपुत्रां गुर्विणीमिमाम् । न ह्यहं वज्रहृदयस्त्वमिवोज्झितुमुत्सहे ॥६७८॥
तद्भ्रातर्गच्छ दया मे दर्शनं समयान्तरे । अमुं समयमत्रैवातिनेष्यामि स्म मा रुषः ॥६७९॥
तं प्रबोध्य प्रबोध्यातिखिन्नो मेघरथो ऽपि हि । पुनर्जगाम कुर्यात्किं हितो ऽप्यतिजडे नरे ॥६८०॥
विद्युन्माल्यपि सञ्जाते द्वितीये तनुजन्मनि । अमंस्त मातङ्गकुलं स्वर्गादप्यधिकं मुदा ॥६८१॥
वस्त्रभोज्यादिदौःस्थ्ये ऽपि दुःखं न हि विवेद सः । तौ म्लेच्छीकुक्षिजौ बालौ सलीलमुपलालयन् ॥६८२॥
ताभ्यामङ्काधिरूढाभ्यां प्रस्रवद्भ्यां मुहुर्मुहुः । गन्धोदकस्नाननिभं मूत्रस्नानममन्यत ॥६८३॥
ततर्ज सुभगंमन्या तं म्लेच्छ्यपि पदे पदे । चण्डालकुलदासो ऽभूत्तदासक्तस्तथापि सः ॥६८४॥
भ्रातृस्नेहानुबन्धेनागत्य मेघरथः पुनः । विद्युन्मालिनमालिङ्ग्याऽगदद्गद्गदया गिरा ॥६८५॥
कुलीन ! चण्डालकुले मा स्थाः काऽऽस्था तवेह भोः ! । किं हंसो मानसोत्पन्नो गृहस्रोतसि खेलति ? ॥६८६॥
यत्रोत्पन्नो ऽसि तन्मा स्म स्वकुलं मलिनीकुरु । धूमेनेव गृहं वह्निस्त्वमनेन कुकर्मणा ॥६८७॥
एवं प्रबोध्यमानो ऽपि न ह्यागन्तुमियेष सः । न भूयो ऽप्यहमेष्यामीत्युक्त्वा मेघरथस्त्वगात् ॥६८८॥
अपालयच्चिरं राज्यं पित्र्यं मेघरथो ऽप्यथ । समये चार्पयत्सूनोर्न्यासे धृतमिवाखिलम् ॥६८९॥
सुस्थितस्यानगारस्य सन्निधाने स धीधनः । परिव्रज्यामुपादाय तपस्तप्त्वा च देव्यभूत् ॥६९०॥

एवं मेघरथः प्राप धीमान्सुखपरम्पराम् । विद्युन्माली तु जडधीर्बभ्राम भवसागरे ॥६९१॥

विद्युन्मालीव रागान्धो न भविष्याम्यहं ततः । उत्तरोत्तरसौख्यानां पद्मसेने ! ऽतिलम्पटः ॥६९२॥

ततः कनकसेनोचे मनाग्मानय मामपि । मा शङ्खधमक इव स्वामिन्नतिशयं कृथाः ॥६९३॥

तथा हि शालिग्रामे ऽभूत्कश्चिदेकः कृषीवलः । नित्यं ररक्ष स क्षेत्रमाविभातं दिनात्ययात् ॥६९४॥
स क्षेत्रसागरे सत्त्वान्दूरादप्युपसर्पतः । शङ्खमापूरयन्मञ्चपोतारूढः पलाययत् ॥६९५॥
अन्यदा गोधनं हृत्वा चौरास्तत्क्षेत्रसन्निधौ । आगुस्तच्छङ्खनादं च ते श्रुत्वैवमचिन्तयन् ॥६९६॥
अहो ग्रामपुमांसो ऽमी विवालयिषवो धनम् । आगुरग्रे ऽपि यदय नेदीयाञ्शङ्खनिःस्वनः ॥६९७॥
इति ते गोधनं हित्वा पलायिषत दस्यवः । दिशो दिशं च प्रययुः प्रातर्वृक्षोत्थपक्षिवत् ॥६९८॥
क्षुधितं गोधनं तच्च शनकैः शनकैश्चरत् । अरुणोदयवेलायां तत्क्षेत्राभ्यर्णमाययौ ॥६९९॥
गोधनाभिमुखं यावद्दधावे स कृषीवलः । तावन्निर्मानुषं सर्वं तद् दृष्ट्वैमचिन्तयत् ॥७००॥
श्रुत्वा मच्छङ्खनिःस्वानं गोधनं तस्करा जहुः । तत्राभिशङ्कया नूनं पापाः सर्वत्र शङ्किताः ॥७०१॥
नीत्वा तद्गोधनं ग्रामे ग्रामायादादशङ्कितः । वदन्मे देवतादत्तमिदं भो गृह्यतामिति ॥७०२॥
ग्रामो गोमी कृतस्तेन तं साक्षाद् ग्रामयक्षवत् । भक्तिपात्रीचकारोचैर्यो हि दत्ते स देवता ॥७०३॥

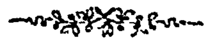
तथैव लब्धप्रसरः स द्वितीये ऽपि वत्सरे। क्षेत्रे गत्वा प्रतिनिशं प्रारेभे शङ्खवादनम् ॥७०४॥
चौरास्त एव ह्यन्येद्युस्तत्क्षेत्रस्यादवीयसि। आययुर्गोधनं हृत्वाऽन्यस्माद् ग्रामान्महानिशि ॥७०५॥
तस्य शङ्खधमस्योच्चैस्ते श्रुत्वा शङ्खनिःस्वनम्। सुष्ठु सौष्ठवमालम्ब्य जल्पन्ति स्म परस्परम् ॥७०६॥
अत्र प्रदेशे क्षेत्रे ऽत्र पुरा शङ्खध्वनिः श्रुतः। श्रूयते चाधुनाप्येष ते दरास्ते च मेढकाः ॥७०७॥
सत्त्वेभ्यः क्षेत्ररक्षार्थं को ऽप्येष क्षेत्ररक्षकः। नूनं वादयति शङ्खं धिग्वयं वञ्चिताः पुरा ॥७०८॥
घर्षन्त इति ते हस्तांस्तूलवर्तिकरा इव। पीडयन्तो रदैरोष्ठान्गोस्तनानिव तर्णकाः ॥७०९॥
उत्पाटयन्तो लकुटाञ्शुण्डादण्डानिव द्विपाः। आन्दोलयन्तः शस्यानि क्षेत्रान्तर्गोवृषा इव ॥७१०॥
शङ्खशब्दानुसारेण यान्तस्ते चौरकुञ्जराः। मञ्चाधिरूढं ददृशुस्तं नरं शङ्खवादकम् (त्रिभिर्विशेषकम्)
आन्दोल्य मञ्चदारूणि ते मञ्चं भुव्यपातयन्। पपात सो ऽप्यनाधारं नाधेयमवतिष्ठते ॥७१२॥
कणमूटकवच्चौरा लकुटैस्तमताडयन्। भुञ्जान इव सो ऽक्षैसीन्मुखे पञ्चाप्यथाङ्गुलीः ॥७१३॥
अस्थिनिर्मग्नबन्धं तैर्बद्ध्वा चायोज्य तत्करौ। बद्धाञ्जलिरिवालक्षि सो ऽथ चौराऽनतीच्छया ॥७१४॥
धनं गवादि वस्त्रान्तं जगृहुस्तस्य दस्यवः। क्षेत्रपालः क्षेत्रपालस्तदा नग्नीकृतो ऽभवत् ॥७१५॥
तत्रैव शङ्खधमकं मुक्त्वा ते दस्यवो ययुः। गोपाः प्रातः पप्रच्छुस्तं कथयामास सो ऽप्यदः ॥७१६॥
धमेद्धमेन्नातिधमेदतिध्मातं न शोभते। ध्मातेनोपार्जितं यत्तदतिध्मातेन हारितम् ॥७१७॥

नाथ ! नातिशयः कर्तुं तत्तवापि हि युज्यते । अस्मानप्यश्मकठिन ! न ह्यवज्ञातुमर्हसि ॥७१८॥
निजगाद ततो जम्बूरम्बुशीतलया गिरा । न बन्धनानभिज्ञोऽहं यथा शैलेयवानरः ॥७१९॥
तथा हि विन्ध्यो नामाद्रिरस्त्यवन्ध्यो वनश्रिया । तत्रैको वानरश्चाभून्महान् वानरयूथराट् ॥७२०॥
कुमार इव विन्ध्याद्रेर्विन्ध्याद्रिवनगह्वरे । क्रीडन्सोऽपास्यदखिलान्वानरान्यूथसम्भवान् ॥७२१॥
वानरीभिः समं रेमे स एवैको महाबलः । प्राज्यस्त्रीराज्यसाम्राज्यसुखलीलां प्रपञ्चयन् ॥७२२॥
अन्यदा वानरयुवा कश्चिदेको मदोद्धतः । वृषस्यन्वानरीरागात्तमवज्ञाय वानरम् ॥७२३॥
कस्याश्चिद्रक्तमाताम्रं वलक्षरदनाङ्कुरम् । चुचुम्ब पाकारुणितस्फुटद्दाडिमसन्निभम् ॥७२४॥
छुरयामास कस्याश्चित्केतकीरजसा मुखम् । गुंजाहारं स्वयं कृत्वा कण्ठे कस्याश्चिदादधौ ॥७२५॥
कृत्वा कृत्वा बिल्वपत्रैः कस्यैचिद्वीटिकां ददौ । प्रालम्बदोलामध्यास्त कामप्यालिङ्ग्य निर्भरम् ॥७२६॥
एवं वानरनारीभिरपशङ्कमरंस्त स । अग्रेतनं यूथपतिमविदन्निव दोर्मदात् ॥७२७॥ (चतुर्भिः कलापकम्)
कण्डूय्यमानलाङ्गूलः कयाऽपि हि नखाङ्कुरैः । प्रमृज्यमानसर्वाङ्गरोमराजिः कयाऽपि हि ॥७२८॥
कदलीतालवृन्तेन वीज्यमानः कयाचन । कयाऽपि नलिनीनालैः क्रियमाणावतंसकः ॥७२९॥
उच्चैःशृङ्गस्थितो दूरात्स जरन्यूथनायकः । द्राग्वानरयुवानं तं दृष्ट्वा कोपादधावत ॥७३०॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)
गोलाङ्गूलयुवानं तं लाङ्गूलं नर्तयन्रुषा । जघान ग्रावगोलेन स गोलाङ्गूलयूथपः ॥७३१॥

लोष्टाहतः सिंह इव कपिसिंहयुवाऽपि सः । क्रुद्धो घुरुघुरारावघोरस्तं प्रत्यधावत ॥७३२॥
तौ क्रोडीकृतसर्वाङ्गौ मिथोभूतावुभावपि । दुर्हृदावपि सुचिरान्मिलितौ सुहृदाविव ॥७३३॥
त्रटत्त्रटिति दन्ताग्रैश्चटच्चटिति पाणिजैः । व्यापप्रतुर्वपुषि तौ युध्यमानौ परस्परम् ॥७३४॥
परस्परं दन्तनखक्षतक्षतजचर्चितौ । तदा परिहिताताम्रचोलकाविव रेजतुः ॥७३५॥
क्षणाद्बन्धं क्षणान्मोक्षं प्रयुञ्जाते स्म तावुभौ । युध्यमानौ नियुद्धेन क्रीडन्तावाक्षिकाविव ॥७३६॥
भग्नास्थिर्मुष्टिघातेन कपियूना जरत्कपिः । शीघ्रं शीघ्रमपासार्षीन्मन्दं मन्दमढौकत ॥७३७॥
तं वृद्धवानरं चापसर्पन्तं युववानरः । जघान लोष्टघातेन तेन चास्फोटि तच्छिरः ॥७३८॥
प्रहारवेदनाक्रान्तः स जरन्यूथनायकः । नंष्ट्वा दूरं ययौ दूरापातिमुक्तपतत्रिवत् ॥७३९॥
प्रहारवेदनादीनस्तृषार्त्तश्च परिभ्रमन् । एकस्मिन्प्रक्षरच्छैले शिलाजतु ददर्श सः ॥७४०॥
सोऽम्बुबुद्ध्या न्यधाद्वक्त्रं शिलाजतुनि वानरः । विलग्य तत्तु तत्रैव तस्थौ भूमेरिवोत्थितम् ॥७४१॥
आकर्षामि मुखमिति बाहू तेनाल्पमेधसा । शिलाजतुनि निक्षिप्तौ लगित्वैव हि तस्थतुः ॥७४२॥
तेन क्षिप्तौ विलग्नौ च पादावप्यास्यहस्तवत् । सोऽथ कीलितपञ्चाङ्ग इव मृत्युमवाप च ॥७४३॥
स वानरः पाणिपादाऽबद्धः कर्षन्मुखं यदि । तदा मुच्येत शैलेयसलिलान्नात्र संशयः ॥७४४॥

एवं च जिह्वेन्द्रियमात्रलुब्धो
नारीषु शैलेयनिभासु मुग्धः ।
मज्जन्हृषीकैरपि पञ्चसङ्ख्यै-
र्देही विनश्येन्न तथाऽस्म्यहं तु ॥७४५॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते महाकाव्ये जम्बूस्वामिजन्म-विवाह-प्रभवचौरागम-मधुबिन्दुपुरुषकथा-कुबेरदत्तकथा—महेश्वरदत्तकथा--कर्षककथा--काककथा—वानरवानरीकथा—अङ्गार-कारककथा—नूपुरपण्डिता—शृगालकथा—विद्युन्मालिकथा—शङ्खधमकथा-शिलाजतुवानरकथावर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥



तृतीयः सर्गः



अथोवाच नभःसेना रचिताञ्जलिरार्षभिम् । मा स्म भूः स्थविरेव त्वं स्थविरायाः कथा यथा ॥१॥

अभूतां ग्राम एकस्मिन्बुद्धिः सिद्धिश्च नामतः । स्थविरे द्वे मिथःसख्यौ नित्यमत्यन्तदुःस्थिते ॥२॥

तस्य ग्रामस्य च बहिः साधिष्ठानोऽस्ति सर्वदा । प्रसिद्धो भोलको नाम यक्षः काङ्क्षितवित्तदः ॥३॥

स्थविरा बुद्धिनाम्नी च दारिद्र्यद्रुमवाटिका । सम्यगाराधयामास तं यक्षं प्रतिवासरम् ॥४॥

त्रिसन्ध्यमपि तद्देवकुलं मार्जयति स्म सा । पूजापूर्वं च नैवेद्यं तस्मै नित्यमढौकयत् ॥५॥

ददामि किं तुभ्यमिति यक्षस्तुष्टो ऽन्यदाऽवदत् । आराध्यमानो नितरां कपोतो ऽपि हि तुष्यति ॥६॥

जगाद साऽथ स्थविरा यदि तुष्टो ऽसि देव ! मे । तद्देहि येन जीवामि सुखसन्तोषभागहम्[1] ॥७॥

यक्षः प्रोवाच हे बुद्धिस्थविरे ! सुस्थिता भव । मत्पादमूले दीनारं लप्स्यसे त्वं दिने दिने ॥८॥

---

१ 'सन्तानभा' C. 2 ॥

दिने दिने च दीनारं लभमाना नदादि सा। स्वजनाज्जनपदाच्चाधिकार्द्धिः स्थविराऽभवत् ॥९॥
दिव्यनेपथ्यसम्भारं स्वप्ने ऽपि न ददर्श या। क्षणे क्षणे पर्यधात्तं सा राज्ञीव नवं नवम् ॥१०॥
यस्याश्च काञ्जिकश्रद्धाऽप्यपूर्यत कदापि न। कुण्डोध्न्यो धेनवस्तस्या गृहे ऽभूवन् सहस्रशः ॥११॥
आजन्मापि हि या तस्थौ जीर्णे तार्णे कुटीरके। सौधं साकारयद्रुदीमत्तवारणबन्धुरम् ॥१२॥
जिजीव या परगृहगोमयत्यागकर्मणा। पाञ्चाल्य इव तां दास्यः स्तम्भलग्नाः सिपेविरे ॥१३॥
स्वग्रासचिन्तया दीना सर्वदाऽपि बभूव या। सा दीनोद्धारमारेभे सम्पदा यक्षदत्तया ॥१४॥
तां बुद्धिसम्पदं दृष्ट्वा सिद्धिः सञ्जातमत्सरा। अचिन्तयत्कुतो ऽमुष्याः सम्पन्ना सम्पदीदृशी ॥१५॥
भवत्वस्याः सखीत्वेन सदा विश्वासभागहम्। प्रक्ष्यामि नदिसामेव कृत्वा चाटुशतान्यपि ॥१६॥
इति बुद्धिमती सिद्धिः प्रययौ बुद्धिसन्निधौ। बुद्ध्या प्रियसखीत्युच्चैः सत्कृतैवमुवाच सा ॥१७॥
विभवस्ते भगिन्येष कुत आगादचिन्तितः ?। चिन्तामणिरिव प्राप्तो वैभवेनानुमीयते ॥१८॥
किं ते राजप्रसादो ऽभूत्तुष्टा वा कापि देवता ?। लब्धं किञ्चिन्निधानं वा ? रसो वा साधितस्त्वया ? ॥१९॥
सम्पद्वत्या त्वयाऽभूवमहं सम्पद्वती सखि !। अद्य दारिद्र्यदुःखाय मया दत्तो जलाञ्जलिः ॥२०॥
अहं त्वं त्वमहं प्रीत्या भेदो देहे ऽपि नावयोः। आवयोर्न मिथो ऽकथ्यं कथयर्द्धिरियं कुतः ? ॥२१॥
अबुध्यमाना तद्भावं बुद्धिराख्यद्यथातथम्। यथा ह्याराधितो यक्षो यथा च स ददौ श्रियम् ॥२२॥

सिद्धिर्दध्यौ च तत् श्रुत्वा साधु साधु ममापि हि । विभवोपार्जनोपायो निरपायो भविष्यति ॥२३॥
सविशेषममुष्या हि यक्षमाराधयाम्यहम् । सविशेषा यथा सम्पदपि सम्पद्यते मम ॥२४॥
अथार्थसिद्धये सिद्धिर्बुद्धिदर्शितया दिशा । आराधयितुमारेभे यक्षमेवमहर्निशम् ॥२५॥
खटिकाधातुभिर्देवकुलसोपानमालिकाम् । यक्षस्य मण्डयामास भक्त्या विविधभक्तिभिः ॥२६॥
नित्यं स्वस्तिकरेखाभिर्यक्षाङ्गणमभूषयत् । भक्तिप्रकारान्कर्तव्यान्गणयन्तीव तन्निभान् ॥२७॥
स्वयं पानीयमानीय स्नपयामास सा स्वयम् । यक्षं कक्षीकृतोपास्तिनियमा प्रतिवासरम् ॥२८॥
बिल्वपत्रकरवीरतुलसी* कुब्जकादिभिः । सा यक्षं पूजयामास त्रिसन्ध्यं स्वयमाहृतैः ॥२९॥
एकभक्तोपवासादितत्परा यक्षवेश्मनि । उवासाहर्निशं यक्षाभियोग्यव्यन्तरीव सा ॥३०॥
एवमाराधि[1]तोऽत्यन्तं स यक्षः सिद्धिमभ्यधात् । तुष्टोऽस्मि ते महाभागे ! प्रार्थयस्व यदिच्छसि ॥३१॥
साऽथ वि[2]ज्ञापयामास यक्षमक्षीणसम्पदम् । मत्सख्या यत्त्वया दत्त देहि तद् द्विगुणं मम ॥३२॥
एवं भविष्यतीत्युक्त्वा भोलयक्षस्तिरोदधे । सिद्धिरप्यभवद् वृद्धेरधिकर्द्धिः क्रमेण तु ॥३३॥
वृद्धिर्दृष्ट्वाधिकर्द्धिं तां यक्षमाराधयत्पुनः । यक्षो ऽपि प्रत्यहं तस्यै ददौ तद्द्विगुणं धनम् ॥३४॥

* कुब्जकः अपामार्गः–(अघडो इति भाषायाम्)

१ °तो नित्यं स C. 1 ॥ २ °ज्ञप° C. 2–3 ॥

सिद्धिराराधयद्यक्षं तस्याश्च स्पर्धया पुनः । यक्षे तुष्टेऽतिदुष्टात्मा चिन्तयामास [1]चेतसा ॥३५॥
यत्किञ्चित्प्रार्थयिष्येऽहं द्रव्यं यक्षात्प्रसेदुषः । यक्षमाराध्य तद्बुद्धिर्द्विगुणं प्रार्थयिष्यति ॥३६॥
तस्मात्किमपि तद्याचे यत्तु द्विगुणमर्थितम् । अपकाराय जायेत बुद्धेर्बुद्धिस्तदा हि मे ॥३७॥
इत्ययाचत सा यक्षमक्ष्येकं मम काणय । एवमस्त्विति यक्षोक्ते सद्यः काणा बभूव च ॥३८॥
यक्षोऽधिकं किमप्यस्या भूयोऽपि प्रददाविति । तमेवाराधयामास बुद्धिस्तद्द्विगुणार्थिनी ॥३९॥
प्रसन्नात्प्रार्थयाञ्चक्रे यक्षाद् बुद्धिरपीदृशम् । सिद्धेर्यद्भवता दत्तं देहि तद्द्विगुण मम ॥४०॥
एवमस्त्विति यक्षोऽपि प्रणिगद्य तिरोदधे । साऽपि तत्कालमन्धाऽभून्न मुधा दैवतं वचः ॥४१॥
एवं हि बुद्धिस्थविरा पूर्वाप्तयाऽपि सम्पदा । अतृप्ताऽनिलोभपरा स्वं स्वेनैव व्यनाशयत् ॥४२॥
मानुषश्रियमासाद्य त्वमपीच्छन्नतिश्रियम् । तस्या अन्धस्थविरायाः प्रतिरूपो भविष्यसि ॥४३॥
जम्बूनामाऽप्यभिदधे नाहमुत्पथगाम्यहो । जात्याश्व इव देवानांप्रिये ! तस्य कथां शृणु ॥४४॥
जितशत्रुः प्रतापेन वसन्तपुरपत्तने । जितशत्रुरभूद्राजा राजमानोऽद्भुतश्रिया ॥४५॥
तस्य चोर्वीपतेः श्रेष्ठी श्रेष्ठो धीधनशालिनाम् । जिनदास इति ख्यातोऽभवद्विश्वासभाजनम् ॥४६॥
अन्यदा लक्षणधरान्नवन्तस्यात्मजानिव । राज्ञः प्रादर्शयन्नश्वकिशोरानश्वपालकाः ॥४७॥

---

१ सा तदा C । ॥

तदाऽश्वलक्षणविदामादिदेश विशाम्पतिः । के केऽश्वा लक्षणैः कैः कैः सम्पूर्णा इति शंसत ॥४८॥
एकमश्वकिशोरं ते शास्त्रोक्तैरश्वलक्षणैः । लक्षितं क्षितिनाथाय कथयामासुरित्यथ ॥४९॥
असौ वृत्तखुरः स्तब्धसन्धिर्जङ्घाखुरान्तरे । निर्मांसजानुजङ्घास्यः कुञ्चितोन्नतकन्धरः ॥५०॥
पङ्कजामोदिनिःश्वासः स्निग्धरोमा पिकस्वनः । मल्लिकाक्षो लघुस्तब्धश्रवणो लम्बकेसरः ॥५१॥
पञ्चभद्रो गूढवंशः पृथुः स्कन्धादिसप्तके । उरस्यादिध्रुवावर्तदशकेनोपशोभितः ॥५२॥
बुद्मावर्तादिभिर्दुष्टैरावर्तैः परिवर्जितः । स्निग्धदन्तः किशोरोऽयं पुष्णाति स्वामिनः श्रियम् ॥५३॥

(चतुर्भिः कलापकम्)

राजाऽपि हि स्वयं विज्ञो विज्ञायाश्वं तथैव तम् । स्वयमानर्च सर्वाङ्गं घुसृणाविलवारिणा ॥५४॥
पुष्पपूजां वस्त्रपूजां कृत्वा तस्याऽथ वाजिनः । नृपतिः कारयामास लवणोत्तारणादिकम् ॥५५॥
अचिन्तयच्च को ह्येनं तुरङ्गं रक्षितुं क्षमः । प्रायेणापायबहुलान्येव रत्नानि भूतले ॥५६॥
यद्वा ममानुरक्तोऽस्ति सदा विश्रम्भभाजनम् । श्रावको जिनदासाख्यः प्रख्यातः श्रावकव्रतः ॥५७॥
बुद्धिमान्स्वामिभक्तश्च प्रमादपरिवर्जितः । स एवेदृशरत्नस्य न्यासपात्रत्वमर्हति ॥५८॥
जिनदासमथाहूय सप्रसादं समादिशत् । रक्षणीयो ममात्मेवाश्वकिशोरस्त्वया ह्ययम् ॥५९॥
प्रमाणमादेश इति जिनदासोऽभिधाय च । निन्ये तमश्वं स्वगृहे पदातिपरिवारितम् ॥६०॥

स्थानमश्वकिशोरस्य क्षिप्तकोमलवालुकम् । सुखदं कारयामास स गङ्गापुलिनोपमम् ॥६१॥
पत्रलान्यरजस्कानि स्वादूनि हरितानि च । तृणानि चारयामास तमश्वं स्वयमेव सः ॥६२॥
भूप्रदेशे सिकतिले लोष्टकण्टकवर्जिते । मुखरज्जौ स्वयं धृत्वा वेल्लयामास तं हयम् ॥६३॥
सुगन्धिभिश्च स्नानीयैः पानीयैरेकतश्चकैः । तं स्वयं स्नपयामास स्वयं सस्नौ यदा [१]यदा ॥६४॥
नीरुग् न वेत्यनुदिनं तमश्वं स परीक्षितुम् । स्वयं पर्यस्य पर्यस्यापश्यत्तन्नेत्रपक्ष्मणी ॥६५॥
स्वयमारुह्य गमयन्सुखं प्रथमधारया । निन्ये पयः पाययितुं तं सरस्यनुवासरम् ॥६६॥
सरोगृहान्तरे चाभूज्जिनायतनमुच्चकैः । संसाराब्धेरन्तरीपमिवाक्रान्तं [२]नतेन यत् ॥६७॥
मा भूदर्हद्गृहावज्ञेत्यश्वारूढोऽपि तत्सुधीः । त्रिः प्रदक्षिणयामास यानायानपि सोऽन्वहम् ॥६८॥
अश्वारूढोऽप्यवन्दिष्ट स देवं देवतत्त्ववित् । प्रमादो मा स्म भूदस्येत्युत्तीर्य प्राविशन्न तु ॥६९॥
एवं च जिनदासस्तं तथा हयमशिक्षयत् । यथा सरोगृहं चैत्यं विना नान्यत्र सोऽगमत् ॥७०॥
यथा यथा स ववृधेऽश्वकिशोरः शनैः शनैः । तथा तथा ववृधिरे सम्पदो नृपवेश्मनि ॥७१॥
तस्य चाश्वकिशोरस्य प्रभावेण स भूप्रभुः । उत्कृष्टो ऽभूदशेषाणां राज्ञामाज्ञाशतक्रतुः ॥७२॥
ते त्वाज्ञाकरणोद्विग्ना दध्युरेवं महीभुजः । हार्यो मार्यो ऽथवाश्वो ऽयं यत्प्रभावाद्वयं जिताः ॥७३॥

१ तदा C 3 M ॥ २ नयेन C ।॥

तस्याश्वस्य तथा कर्तुमशक्तेषु तु राजसु । एकस्य मन्त्री सामन्तस्योचे धीगर्वपर्वतः ॥७४॥
अहं केनाप्युपायेन तं हरिष्यामि वाजिनम् । दुष्करं किमुपायस्योपायशक्तेर्हि नो मितिः ॥७५॥
एवं कुर्विति सामन्तेनाप्यादिष्टः स धीनिधिः । मायया श्रावकीभूयागाद्वसन्तपुरे पुरे ॥७६॥
तत्र चैत्यानि वन्दित्वा मुनीन्सुविहितानपि । जिनदासगृहे गत्वा गृहचैत्यमवन्दत ॥७७॥
श्रावकवन्दनेनाथ जिनदासमवन्दत । मयूरव्यंसकत्वेन श्रावकत्वं स दर्शयन् ॥७८॥
अभ्युत्थायाथ वन्दित्वा तं साधर्म्मिकवत्सलः । जिनदासः पर्यपृच्छत्कुतो ऽभ्यागान्महाशय ! ॥७९॥
कपटश्रावको ऽप्यूचे संसारेऽहं विरक्तिभाक् । न चिरात्प्रव्रजिष्यामि गार्हस्थ्येन कृतं मम ॥८०॥
तीर्थयात्रां तु निर्माय निर्मायो धर्मबान्धवः । आदास्ये सुगुरोः पार्श्वे प्रभवत्पुंव्रतं व्रतम् ॥८१॥
जगाद जिनदासो ऽपि महात्मन्स्वागतं तव । समानशीलयोः सन्तु धर्मगोष्ठीसुखानि नौ ॥८२॥
तथेति प्रतिपेदानं दानशौण्डः सधर्मिषु । तं प्रीत्याऽस्नपयन्मायाश्रावकं निजबन्धुवत् ॥८३॥
अपि स्नानप्रयत्नेन निर्मलीकृतकुन्तलान् । कस्तूरीपङ्कमलिनांस्तस्य मूर्धन्यकारयत् ॥८४॥
सामन्तमन्त्रिणस्तस्याऽऽलेख्यालिखितसन्निभम् । सुमनोदामगर्भं च धम्मिल्लं मूर्ध्न्यबन्धयत् ॥८५॥
तदङ्गमङ्गरागेण ज्योत्स्नासब्रह्मचारिणा । अचर्चयत्सुरभिणा चान्दनेन तनीयसा ॥८६॥

१ °शय C. 1–2 ॥

निर्दग्धागुरुकर्पूरकस्तूरीवासितान्यथ । वस्त्राणि धर्मबन्धुं तं धर्मधीः पर्यधापयत् ॥८७॥
लेह्यचोष्यपेयास्वाद्यहृद्यां रसवतीमथ । जिनदासस्तन्निमित्तं क्षणेन निरपीपदत् ॥८८॥
आसितो जिनदासेन हंसरोमासने ऽथ सः । अभोजि विविधैर्भोज्यैर्विलुलद्वथजनानिलम् ॥८९॥
भोजनानन्तरं छद्मश्रावकेण दुरात्मना । महात्मा जिनदासो ऽथ प्रारेभे धर्मसङ्कथाम् ॥९०॥
स्वजनो जिनदासस्य तदैको ऽभ्येत्य चावदत् । कल्ये कल्याणकार्येणोपेहि बन्धो ! मदोकसि ॥९१॥
अहोरात्रं च सकलं स्थातव्यं तत्र हि त्वया । कल्याणकुशलोऽसि त्वं कल्याणं किं त्वया विना ॥९२॥
आमेत्युदित्वा स्वजनं जिनदासो विसृज्य तम् । तं मायाश्रावकमृजुर्व्याजहारातिहारिगीः ॥९३॥
अवश्यमेव गन्तव्यं मया स्वजनवेश्मनि । मद्गृहं त्वद्गृहमिदं त्वया रक्ष्यं गते मयि ॥९४॥
आमेति प्रतिपेदे च स कूटश्रावको हसन् । जगाम जिनदासस्तु विश्वस्तस्तत्र दुर्मतौ ॥९५॥
तस्मिंश्च दिवसे कौमुद्युत्सवो ऽभून्महान्पुरे । हल्लीसपूर्वकं पौरवधूरासकलासकः ॥९६॥
रजन्यां च जनपदे कौमुदीमहदुर्मदे । स मायाश्रावको ऽशङ्कं तमादायाश्वमश्वयीत् ॥९७॥
अश्वो ऽपि सो ऽर्हच्चैत्यस्य विधाय त्रिः प्रदक्षिणाम् । जगाम वार्यमाणोऽपि तस्मिन्सरसि नान्यतः ॥९८॥
व्यावृत्तः सरसश्चागात्तदेवायतनं पुनः । ततो ऽपि च ययौ गेहे सो ऽश्वो नान्यत्र कुत्रचित् ॥९९॥
स दुःसामन्तसचिवो ऽन्यत्राश्वं नेतुमीश्वरः । न यावदभवत्तावद्विभाति स्म विभावरी ॥१००॥

पलायिष्ट स दुष्टात्मा ऽभ्युदितश्च दिवाकरः । तदा च जिनदासोऽपि न्यवर्तत गृहं प्रति ॥१०१॥
आगच्छन्जिनदासश्चाश्रौषीज्जनमुखादिदम् । वाहितः सकलां रात्रिं तवाश्वः कौमुदीमहे ॥१०२॥
किमेतदिति सम्भ्रान्तो जिनदासो ऽप्यगाद् गृहम् । ददर्श चाश्वं तं श्रान्तं क्षामं स्वेदमलीमसम् ॥१०३॥
दिष्ट्याऽश्वो ऽस्त्येष हा धर्मच्छलेन छलितो ऽस्म्यहम् । इति हर्षविषादाभ्यां सद्यः स परिषस्वजे ॥१०४॥
ररक्ष जिनदासो ऽश्वं सविशेषं तदादि तम् । उत्पथं न जगामेति स हि प्रियतरोऽभवत् ॥१०५॥
तमश्वमिव मां कोऽपि नोत्पथं नेतुमीश्वरः । तत्पन्थानं न हास्यामि परलोकसुखावहम् ॥१०६॥

कनकश्रीरथोवाच सहासं प्रेमबन्धुरम् । ग्रामकूटसुत इव मा त्वं स्वामिन्! जडो भव ॥१०७॥

तथा हि ग्राम एकस्मिन् ग्रामकूटसुतो ऽवसत्[1] । एको विपन्नपितृको ऽत्यन्तदुःखितमातृकः ॥१०८॥
तमूचे रुदती माता त्वं हि कापुरुषाग्रणीः । विना परकथां नान्यत्कर्म ते प्रतिवासरम् ॥१०९॥
अजीवद्व्यवसायेन पिता ते व्यवसायवान् । आरब्धं च व्यवसायं सर्वदा निरवाहयत् ॥११०॥
त्वं जातु नोपक्रमसे व्यवसायं युवाऽपि हि । आरब्धव्यवसायस्य निर्वाहे तु कथैव का ॥१११॥
समानवयसस्ते हि जीवन्ति स्वेन कर्मणा । पद्रशण्ड इव भ्राम्यन्निष्कर्मा त्वं न लज्जसे ॥११२॥
दारिद्र्येण मदीयेन बिभर्ष्युदरमप्यदः । उदरे च भृते कोशो भृत इत्येव मन्यसे ॥११३॥

[1] °कुंढ° C 1–2 ॥

पुत्रः प्रोवाच हे मातर्नान: परमनर्गलः । भविष्यामि करिष्यामि खल्वर्थोपार्जनोद्यमम् ॥११४॥
व्यवसायमुपक्रान्तमर्थोपार्जनहेतवे । निर्वाहयिष्ये हे मातरनिर्विण्णः पिता यथा ॥११५॥
तस्यान्यदा ग्रामपर्षदुपविष्टस्य पश्यतः । अनश्यद्[1]ग्रामहखर स्त्रोटयित्वांऽह्रिबन्धनम् ॥११६॥
खरमुल्ल[2]लयन्तं तमन्वधावच्च भामहः । धारयितुमसमर्थश्चोर्ध्वबाहुरदो ऽवदत् ॥११७॥
भो! भो! ग्रामसभासीनाः सर्वे ऽपि ग्रामदारकाः । यः कोऽपि शक्तो वो मध्ये स मे धरतु रासभम् ॥
ग्रामकूटसुतो ऽर्थस्य लाभं तस्माद्विचिन्तयन् । धावित्वा तं खरं पुच्छे वृन्ते फलमिवाग्रहीत् ॥११९॥
लोकैः स वार्यमाणो ऽपि यावत्त नामुचत्खरम् । तावत्तच्चरणाघातभग्नदन्तो ऽपतद् भुवि ॥१२०॥
तस्मान्नाथ ! त्वमप्येवमसद्ग्रहमनुत्सृजन् । न ज्ञायते किमपि यत्फलमासादयिष्यसि ॥१२१॥
जगाद जम्बूनामाऽथ स्मितविच्छुरिताधरः । स्वकीयकार्यग्रहिलः सोल्लक इव नास्म्यहम् ॥१२२॥
तथा हि भुक्तिपालस्यैकस्याभूद् घोटिकोत्तमा । स्वयं स पुत्रीमिव तामलालयदपालयत् ॥१२३॥
प्रत्यजागरयत्तां तु घृततैलौदनादिभिः । पुमांसं सोल्लकं नाम समादिश्याश्वहृद्विदम् ॥१२४॥
स्वादु स्वादु यदर्वत्यै भोज्यं स्माप्नोति सोल्लकः । किञ्चिदेव ददौ तस्यै शेषं तु बुभुजे स्वयम् ॥१२५॥

---

१ 'ह्रीमह' C. 1–2 ॥ २ 'ल्लगय' C 1 । 'ल्लुमय' C. 2 ॥
* भामहः कुम्भकार ।

सोल्लको ऽप्यर्जयामास चिरं वञ्चनया तया । वडवाजीवविषयं कर्मोच्चैराभियोगिकम् ॥१२६॥
प्रपद्य कालधर्मं स तेन वञ्चनकर्मणा । मूढः पान्थ इवारण्ये ऽभ्राम्यत्तिर्यग्गतौ चिरम् ॥१२७॥
क्षितिप्रतिष्ठे नगरे सोमदत्तद्विजन्मनः । सूनुः सोल्लकजीवो ऽभूत्सोमश्रीकुक्षिजो ऽन्यदा ॥१२८॥
मृत्वाऽर्वती भवं भ्रान्त्वा तस्मिन्नेव पुरोत्तमे । पुत्री कामपताकाया गणिकाया अजायत ॥१२९॥
मातरपितराभ्यां च पोष्यमाणः स माणवः । क्रमेण यौवनं प्रापाप्रमत्तः कणभिक्षया ॥१३०॥
धार्यमाणा हृदयाग्रे धात्रीभिर्हरियष्टिवत् । गणिकादुहिता साऽपि क्रमेण प्राप यौवनम् ॥१३१॥
वपुःपावनयोस्तस्या रूपयौवनयोरभूत् । भूष्यभूषणताऽत्यन्तं तुल्यैव हि परस्परम् ॥१३२॥
मिथश्च ग्रामतरुणाः स्पर्धमाना महर्द्धयः । आसज्यन्त भृशं तस्यां मालत्यामिव षट्पदाः ॥१३३॥
तस्यामन्त्यतमासक्तः सो ऽपि ब्राह्मणदारकः । सिषेवे श्वेव तद्द्वारं कामः सर्वङ्कषः खलु ॥१३४॥
राजामात्यश्रेष्ठिपुत्रादिभिः सह महर्द्धिभिः । क्रीडन्ती तमवज्ञासीत्तां दृष्ट्वैव जिजीव सः ॥१३५॥
सा तु सम्भावयामास दरिद्रं न दृशाऽपि तम् । गणिकानां स्वभावोऽयं रागो धनिनि नाधने ॥१३६॥
स ब्राह्मणकुमारो ऽपि मारमार्गणदारितः । तत्कर्मकरतां भेजे तत्पार्श्वं हातुमक्षमः ॥१३७॥
स चक्रे कृषिकर्माणि सारथ्यं वार्युदञ्चनम् । कणपेषणमन्यच्च तस्याऽकृत्यमभून्न हि ॥१३८॥
स तु निःसार्यमाणो ऽपि निरसार्षीन्न तद्गृहात् । तृषं बुभुक्षां न्यक्कारं संसेहे ताडनाद्यपि ॥१३९॥

नत्युष्मास्वर्वतीप्रायास्त्वहं कर्माभियोगिकम् । नार्जयिष्यामि स इव कृतं वो युक्तिकल्पनैः ॥१४०॥

ततः कमलवत्यूचे हे नाथ ! कमलानन ! । मासाहसशकुनिवन्मा त्वं साहसिको भव ॥१४१॥

तथा ह्येकः पुमान्देशान्तरे दुर्भिक्षपीडितः । चचाल स्वजनं हित्वा सार्थेन महता सह ॥१४२॥
एकस्यां च महाटव्यां सार्थ आवासिते सति । आहर्तु तृणकाष्ठादि स एको ऽपि विनिर्ययौ ॥१४३॥
तदा च सुप्तव्याघ्रास्यात्पक्ष्येको वनगह्वरे । दन्तलग्नामिषखण्डान्यादायारोहदंह्रिपम् ॥१४४॥
मा साहसमिति मुहुः स भणन् मांसखादकः । शकुनिस्तेन जगदे पुरुषेण सविस्मयम् ॥१४५॥
रौषि मा साहसमिति व्याघ्रास्यान्मांसमत्सिं च । मुग्धस्त्वं दृश्यसे वाचो ऽनुरूपं कुरुषे न च ॥१४६॥
हित्वा साक्षाद्भवसुखं तददृष्टसुखेच्छया । तपश्चिकीर्षुस्त्वमसि मासाहसखगोपमः ॥१४७॥
जम्बूरभिदधे स्मित्वा न मुह्यामि भवद्गिरा । न हि भ्रश्याम्यहं स्वार्थाज्ज्ञानस्त्रिसुहृत्कथाम् ॥१४८॥

क्षितिप्रतिष्ठे नगरे जितशत्रोर्महीपतेः । पुरोधाः सोमदत्तो ऽभूत्सर्वत्राप्यधिकारकृत् ॥१४९॥
तस्य मित्रमभूदेकं सहमित्रो ऽभिधानतः । सर्वत्र मिलितः पानखादनादिभिरैक्यवान् ॥१५०॥
पर्वमित्रो ऽभिधानेन तस्याभूदपरः सुहृत् । आगतेषूत्सवेष्वेव सन्मान्यो नाऽन्यदा पुनः ॥१५१॥
प्रणाममित्रनामाऽभूत्सुहृत्तस्य तृतीयकः । यथादर्शनमालापमात्रोपकृतिभाजनम् ॥१५२॥

१ कवन् C. 1 । रुवन् C. 2 ॥ २ 'स्वा' C 1 ॥

पुरोधसो ऽन्यदा तस्य काप्यागसि समागते । कुपितस्तं न्यजिघृक्षद् भूपतिश्चण्डशासनः ॥१५३॥
विज्ञाय तदभिप्रायं रात्रावेव पुरोहितः । मित्रस्य सहमित्रस्य सदनं दैन्यभाग्ययौ ॥१५४॥
ममाद्य रुष्टो राजेति कथयित्वा पुरोहितः । तमूचे त्वद्गृहे! मित्र ! गमयाम्यशुभां दशाम् ॥१५५॥
हे मित्र! ज्ञायते मित्रमापत्काले ह्युपस्थिते । स्वगृहे गोपयित्वा मां तन्मैत्रीं चरितार्थय ॥१५६॥
सहमित्रो जगादैवं मैत्री सम्प्रति नावयोः । तावदेवावयोर्मैत्री यावद्राजभयं न हि ॥१५७॥
त्वं ममाप्यापदे राजदूषितो मद्गृहे वसन् । ऊर्णायुं ज्वलदूर्णं हि क्षिपेत्को ऽपि न वेश्मनि ॥१५८॥
तवैकस्य कृते नाहमात्मानं सकुटुम्बकम् । अनर्थे पातयिष्यामि व्रजान्यत्रास्तु ते शिवम् ॥१५९॥
एवं च सहमित्रेण सोमदत्तो ऽपमानितः । पर्वमित्रस्य मित्रस्य त्वरितं सदनं ययौ ॥१६०॥
राजाऽप्रसादवृत्तान्तं पर्वमित्रस्य स द्विजः । तथैव कथयामास तदाश्रयकृताशयः[1] ॥१६१॥
पर्वमित्रो ऽपि तत्पर्वमैत्र्या निष्क्रयकाम्यया । महत्या प्रतिपत्त्या तं ददर्शैवमुवाच च ॥१६२॥
त्वया पर्वस्वनेकेषु तैस्तैः सम्भाषणादिभिः । स्नेहप्रकारैर्मत्प्राणा अपि क्रीताः सखे ! ध्रुवम् ॥१६३॥
न भवामि तव भ्रातर्यदि व्यसनभागभाक् । कौलीनं मे कुलीनस्य तदानीमुपतिष्ठते ॥१६४॥
किं तु त्वत्प्रीतिविवशोऽनर्थमप्यात्मनः सहे । कुटुम्बमपि मेऽनर्थं गच्छेदिति तु दुस्सहम् ॥१६५॥

१ °श्रयः C 1–2॥

कुटुम्बमपि मे प्रेयः प्रेयांस्त्वमपि हे सखे ! । किं करोमि द्विधाचित्त इतो व्याघ्र इतस्तटी ॥१६६॥
डिम्भरूपैरहं ह्यस्मि सकीटिकपलाशवत्[1] । तस्मात्तेभ्योऽनुकम्पस्व स्वस्ति तेऽन्यत्र गम्यताम् ॥१६७॥
सत्कृत्यापि हि तेनैवं पुरोधाः स निराकृतः । निर्ययौ तद्गृहाद्दैवे दुष्टे पुत्रोऽपि दुष्यति ॥१६८॥
आचत्वरं चानुगम्य पर्वमित्रे गते सति । दध्यौ पुरोधा दुःप्रापरोधा व्यसनवारिधेः ॥१६९॥
मया ययोरुपकृतं परिणामस्तयोरयम् । तद्भवाम्यधुना दीनः कस्याहं पारिपार्श्वकः ॥१७०॥
अद्य[2] प्रणाममित्रस्य यामि मित्रस्य सन्निधौ । तत्रापि नास्ति प्रत्याशा प्रीतिस्तस्मिंश्च वाङ्मयी ॥१७१॥
यद्वा विकल्पैः पर्याप्तमाप्तः सोऽप्यस्ति मे मनाक् । प्रेक्षे तमपि कस्यापि कोऽपि स्यादुपकारकृत् ॥१७२॥
इति प्रणाममित्रस्य मित्रस्य सदनं ययौ । सोऽभ्याग[3]तमात्रं तमभ्युदस्थात्कृताञ्जलिः ॥१७३॥
उवाच च स्वागतं वः किमवस्था व ईदृशी । प्रयोजनं मया किं वो ब्रूत यत्करवाण्यहम् ॥१७४॥
पुरोधा राजवृत्तान्तमाख्याय तमदोऽवदत् । त्यक्ष्यामि सीमां राज्ञोऽस्य साहाय्यं कुरु मे सखे ! ॥१७५॥
सोऽप्युवाच प्रियालापैरधमर्णोऽस्मि ते सखे ! । कृत्वा साहाय्यमधुना भविष्याम्यनृणस्तव ॥१७६॥
मा भैषीरेष ते पृष्ठरक्षोऽहं मयि जीवति । न कश्चिदीश्वरः कर्तुं त्वद्रोम्णोऽपि हि विप्रियम् ॥१७७॥
पृष्ठोत्तंसिततूणीरोऽधिज्यीकृतशरासनः । प्रणाममित्रोऽग्रे चक्रे निशङ्कस्तं पुरोधसम् ॥१७८॥

१ °टक° C 3 M. ॥ २ अथ C 1 ॥ 3 °ष्याभ्यागतमित्रं C 1 ॥

ययौ पुरोहितस्तेन सह स्थानं समीहितम् । अन्वभूच्च निराशङ्कस्तत्र वैषयिकं सुखम् ॥१७९॥
अत्र चोपनयो जीवः सोमदत्तस्य सन्निभः । सहमित्रस्य मित्रस्य तुल्यो भवति विग्रहः ॥१८०॥
विग्रहोऽयं कर्मराजकृतायां मरणापदि । सत्कृतो ऽपि हि जीवेन सह नैति मनागपि ॥१८१॥
पर्वमित्रसमानाश्च सर्वे स्वजनबन्धवः । श्मशानचत्वरं गत्वा निवर्तन्ते हि तेऽखिलाः ॥१८२॥
प्रणाममित्रसदृशो धर्मः शर्मनिबन्धनम् । यः परत्रापि जीवेन गच्छता सह गच्छति ॥१८३॥
तदैहलौकिकसुखास्वादमूढो मनस्विनि ! । परलोकसुखं[1] धर्मं नोपेक्षिष्ये मनागपि ॥१८४॥

जयश्रीश्चाभ्यधान्नाथ ! तुण्डताण्डवधीनिधे ! । नागश्रीवन्मोहयसि परं कूटकथानकैः ॥१८५॥

तथा हि रमणीयाख्ये पुरे राजा कथाप्रियः । वारं वारेण पौरेभ्योऽचीकथत्प्रत्यहं कथाम् ॥१८६॥
तत्र चासीत्पुरे विप्र एको दारिद्र्यविद्रुतः । भ्रान्त्वा भ्रान्त्वाऽखिलदिन सोऽजीवत्कणभिक्षया ॥१८७॥
अन्यदा तस्य विप्रस्य निरक्षरशिरोमणेः । कथाकथनवारोऽभूच्चिन्तयामास चेतसि ॥१८८॥
सन्निपातवती चेयं स्वनामकथनेऽपि हि । जिह्वा स्खलति मे नित्यं का कथाकथने कथा ॥१८९॥
कथां कथयितुं नाहं जानामीति यदि ब्रुवे । तत्कारामन्दिरं नीये का गतिर्मे भविष्यति ? ॥१९०॥
कुमारी दुहिता तस्य तं चिन्ताग्लपिताननम् । दृष्ट्वा पप्रच्छ का चिन्ता ? तस्या हेतुं जगौ च सः ॥१९१॥

१ °सुखं C 2. ॥

दुहितोवाच मा तात ! चिन्तासन्तानभाग्भव । त्वदीये वारके गत्वा कथयिष्याम्यहं कथाम् ॥१९२॥
इति स्नात्वा परिहितश्वेतवस्त्रा नृपान्तिके । गत्वा जयाशिषं दत्त्वा नृपं सोचे कथां शृणु ॥१९३॥
राजाऽपि तस्यास्ताहक्षनिक्षोभत्वेन विस्मितः । उत्कर्णो ऽभूत्कथां श्रोतुं गीतिं मृग इवोच्चकैः ॥१९४॥
साऽप्यारेभे कथयितुमिहैव नगरे द्विजः । नागशर्माऽग्निहोत्र्यस्ति कणभिक्षैकजीविकः ॥१९५॥
सोमश्रीरस्ति तद्भार्या तस्या उदरभूरहम् । नागश्रीर्नाम दुहिता क्रमेणाऽऽप्तास्मि यौवनम् ॥१९६॥
पितृभ्यां च प्रदत्ताऽहं चट्टाय द्विजसूनवे । सम्पदामनुरुपो हि स्त्रीणां सम्पद्यते वरः ॥१९७॥
प्रयोजनेन केनाप्यौद्वाहिकेनान्यदा मम । अयातां पितरौ ग्रामं मां मुक्त्वैकाकिनीं गृहे ॥१९८॥
ग्रामान्तरं च पितरौ यस्मिन्नेव दिने गतौ । तस्मिन्नेव दिनेऽभ्यागाद्विप्रचट्टः स मद्गृहे ॥१९९॥
स्वसम्पदनुसारेण विनाऽपि पितरौ तदा । तस्याकार्षमहं स्नानभोजनादिभिरौचितीम् ॥२००॥
खट्वाप्रस्तरणं चैकं गृहसर्वस्वमात्मनः । शयनायार्पयामि स्म तस्याहं दिवसात्यये ॥२०१॥
ततो मया चिन्तितं च पर्यङ्कोऽस्य समर्पितः । गृहोर्वी च लुलदर्वीकरा तस्यां शये कथम् ? ॥२०२॥
तद्बिभ्यती भूशयनाच्छयेऽस्य शयनीयके । निशि नीरन्ध्रतमसि न हि द्रक्ष्यति कोऽपि माम् ॥२०३॥
अस्वाप्समिति तत्रैव निर्विकारेण चेतसा । मदङ्गस्पर्शमासाद्य स त्वभून्मदनातुरः ॥२०४॥
ह्रिया क्षोभेण विषयनिरोधेन च तस्य तु । सद्यः शूलं समुत्पन्नं विपन्नस्तद्रुजा च सः ॥२०५॥

अचिन्तयं च भीताऽहं परासुमवलोक्य तम् । मम दोषेण पापायाः प्रापदेष मृतिं द्विजः ॥२०६॥
कस्याद्य कथयाम्येवं क उपायः करोमि किम् । एकाकिनी कथं चामुं गृहान्निसारयाम्यहम् ॥२०७॥
इत्यहं खण्डशोऽकार्षं कूष्माण्डमिव तद्वपुः । गर्त खनित्वा तत्रैव न्यधामथ निधानवत् ॥२०८॥
पूरयित्वा च तं गर्तं सुषमीकृत्य चोपरि । अमार्जयमलिम्पं च ज्ञायते न यथा हि तत् ॥२०९॥
पुष्पैर्गन्धैश्च धूपैश्च स्थानं तद्वासितं मया । ग्रामान्तराच्च पितरावागतौ स्तो ममाधुना ॥२१०॥
राजाऽप्युवाच यदिदं कुमारि ! कथितं त्वया । तत्सर्वमपि किं सत्यं ? ततः सा पुनरब्रवीत् ॥२११॥
कथानकानि यानि त्वं शृणोष्यन्यानि पार्थिव ! । तानि सत्यानि चेदेतदपि सत्यं तदाऽखिलम् ॥२१२॥
एवं नागश्रिया राजा यथा विस्मापितस्तथा । नाथ प्रतारयस्यस्मान्किं कल्पितकथानकैः ॥२१३॥
जम्बूरूचे प्रियाः सर्वा नाहं विषयलोलुपः । ललिताङ्गवत्तथा चास्ति श्रीवसन्तपुरं पुरम् ॥२१४॥
तत्राभूद् भूर्विभूतीनां वज्रायुध इवाज्ञया । राजा शतायुधो नाम रूपेण कुसुमायुधः ॥२१५॥
तस्याभूल्ललिता देवी देवीव ललिताकृतिः । कलानां सकलानामप्येकं विश्रामधाम या ॥२१६॥
मत्तवारणमारुह्य स्वे विनोदयितुं दृशौ । साऽन्यदा द्रष्टुमारेभे सञ्चरन्तमधो जनम् ॥२१७॥
धम्मिल्लेन द्विमूर्धानमिव स्फारेण हारिणा । कस्तूरीपङ्किलश्मश्रुं सदानमिव दन्तिनम् ॥२१८॥
वृषस्कन्धं पृथूरस्कं पद्मोपमकरक्रमम् । ग्रीवाकरक्रमामुक्तजात्यकाञ्चनभूषणम् ॥२१९॥

कर्पूरपूर्णताम्बूलप्रवृद्धमुखसौरभम् । स्मरजैत्रपताकाभतिलकालङ्कृतालिकम् ॥२२०॥
अङ्गरागच्छलान्मूर्तं लावण्यमिव बिभ्रतम् । धूपायितांशुकामोदमेदुरीकृतवर्त्मकम् ॥२२१॥
वपुःश्रिया श्रियो देव्या द्वितीयमिव नन्दनम् । पुमांसं सा ददर्शैकं युवानं यान्तमध्वनि (पंचभिः कुलकम्)
तद्रूपालोकनोन्मत्तलोचना सा सुलोचना । स्तम्भभाक्तद्गतमनाः शालभञ्जीनिभाऽभवत् ॥२२३॥
दध्यौ च सैवमन्योन्यदोर्लताबन्धबन्धुरम् । यद्येष परिरभ्येत स्त्रीजन्म सफलं तदा ॥२२४॥
अहं मनोरममम्ुं स्वयं दूतीत्वपूर्वकम् । उड्डीय गत्वाऽशु भजे भवामि यदि पक्षिणी ॥२२५॥
अचिन्तयच्च तत्पार्श्वस्थिता चतुरचेटिका । नूनं यून्यत्र रमते स्वामिन्या दृष्टिरुच्चकैः ॥२२६॥
ऊचे च स्वामिनि ! तव यून्यस्मिन्रमते मनः । न चित्रमत्र कस्येन्दुर्नानन्दयति लोचने ? ॥२२७॥
ललितोचे मनोज्ञाऽसि साधु साधु मनीषिणि ! । जीवामि तद्यदि भजे मनोरममम्ुं नरम् ॥२२८॥
को ऽसाविति ज्ञापय मां ज्ञापयित्वा तथा कुरु । यथा हि सङ्गमय्यामुं निर्वापयसि मे वपुः ॥२२९॥
गत्वा ज्ञात्वा च सा चेटी पुनरागत्य सत्वरम् । राज्ञ्यै व्यज्ञपयद्धैर्यनाटकैकमहानटी ॥२३०॥
वास्तव्यः पत्तने ऽत्रैव ललिताङ्गो ऽयमाख्यया । समुद्रप्रियसंज्ञस्य सार्थवाहस्य नन्दनः ॥२३१॥
सौभाग्यमन्मथश्चायं द्वासप्ततिकलानिधिः । कुलीनश्च युवा चेत्ति स्थाने स्वामिनि ते मनः ॥२३२॥
अस्याऽऽकृत्यनुसारेण गुणानपि हि निश्चिनु । यत्राऽऽकृतिस्तत्र गुणा इति लोकेऽपि गीयते ॥२३३॥

नारीष्वेकासि गुणिनी त्वं यथैष तथा नृषु । तद् द्वयोर्गुणिनोर्योगं घटयामि समादिश ॥२३४॥
एवं कुर्विति राज्यूचे तस्या हस्ते च तत्कृते । लेखं प्रेमाङ्कुराम्भोदपयःश्लोकाङ्कमार्पयत् ॥२३५॥
सद्यो दास्यपि सा गत्वा दूतीकर्मैककोविदा । जगाद ललिताङ्गाय ललितोपज्ञवाचिकम् ॥२३६॥
प्रवर्त्य तद्रिरंसायां ललिताङ्गं चटूक्तिभिः । अर्पयामास तं लेखं तस्य प्रीणयितुं मनः ॥२३७॥
स सद्य उद्यत्पुलकः कदम्ब इव पुष्पितः । तं प्रेमव्यञ्जकं लेखं वाचयामास तद्यथा ॥२३८॥
यदा दृष्टो ऽसि सुभग ! तदाद्यपि वराक्यहम् । पश्यामि त्वन्मयं सर्वं योगेनानुगृहाण माम् ॥२३९॥
वाचयित्वेति तं लेखं सो ऽवादीदयि कोविदे ! । क्व च सान्तःपुरेवासा वणिग्मात्रः क्व चास्म्यहम् ॥२४०॥
न ह्येतच्छक्यते धर्तुं हृदये ध्रियतेऽथवा । न वक्तुं शक्यते तर्हि यद्रंस्ये नृपयोषिता ॥२४१॥
शक्यते यदि हि स्प्रष्टुं भूस्थेन शशिनः कला । तदाऽन्यपुंसां सम्भोगविषयो राजपत्न्यपि ॥२४२॥
दास्युवाचासहायस्य समस्तमपि दुष्करम् । तव त्वहं सहायाऽस्मि चिन्तां सुंदर ! मा कृथाः ॥२४३॥
अन्तरन्त पुरमापि मद्बुद्ध्या त्वमलक्षितः । पुष्पमध्ये स्थित इव सचरिष्यस्यलं भिया ॥२४४॥
आह्वयेः समये मां सा तेनेत्युक्ता च चेटिका । सद्यो गत्वा तदाचख्यौ राज्यै हर्षोच्छ्वसद्भुवे ॥२४५॥
तत्सङ्गमं चिन्तयन्त्या ललितायास्तदाद्यपि । अन्यदा पत्तने कौमुद्युत्सवो ऽभून्मनोहरः ॥२४६॥
सस्यप्रशस्यक्षेत्रायां दुग्धशुद्धसरोऽम्भसि । बहिर्भूमौ ययौ राजा तदाऽऽखेटकलीलया ॥२४७॥

तदा च विजनीभूते परितो राजवेश्मनि । तयैव चेट्या ललिता ललिताङ्गं समाह्वयत् ॥२४८॥
देव्या विनोदमुद्दिश्य सा दास्यन्तःपुरे नरम् । नवीनयक्षप्रतिमाव्याजेन तमविविशत् ॥२४९॥
ललिता ललिताङ्गश्च तौ चिराज्जातसङ्गमौ । सस्वजाते मिथो गाढं वल्लीविटपिनाविव ॥२५०॥
विविदुः सौविदाश्चैवमनुमानादिकोविदाः । निश्चितं परपुरुषप्रवेशोऽन्तःपुरेऽभवत् ॥२५१॥
मुषिताः स्मो वयमिति तेषां चिन्तयतामपि । समाप्याऽऽखेटकक्रीडामाययौ मेदिनीपतिः ॥२५२॥
ते च राज्ञे व्यज्ञपयन्नच्छलादानपूर्वकम् । आशङ्काऽस्माकमस्त्यन्तःपुरे परपुमानिति ॥२५३॥
शब्दायमाने पटहे विहाय निभृतक्रमम् । प्रविवेश विशां नाथः शुद्धान्ते परिमोषिवत् ॥२५४॥
सा चेटी चतुरा द्वारदत्तदृग्मेदिनीपतिम् । ददर्श दूरादायान्तं राज्ञ्यै ज्ञापयति स्म च ॥२५५॥
राज्ञी दास्यपि तं जारमुत्पाट्योपरिवर्त्मना । बहिश्चिक्षिपतुस्तूर्णं गृहावकरराशिवत् ॥२५६॥
स पपातौकसः पश्चात्प्रदेशस्थे महावटे । निलीय चास्थात्तत्रैव गुहायामिव कौशिकः ॥२५७॥
कूपे तत्राशुचिस्थाने दुर्गन्धानुभवप्रदे । स तस्थौ नरकावास इव पूर्वसुखं स्मरन् ॥२५८॥
अचिन्तयच्च यद्यस्मात्कथञ्चिदवटादहम् । निर्यास्यामि तदीदृक्षोदर्कैर्भोगैरलं मम ॥२५९॥
राज्ञी दासी च तस्यानुकम्पया तत्र चावटे । नित्यं चिक्षिपतुः फेलां* तया श्वेव जिजीव सः ॥२६०॥

* उच्छिष्टम् ।

प्रावृष्युपस्थितायां च गृहप्रस्रवणाम्भसा । स कूपो बिभराञ्चक्रे पातकेनेव दुष्टधीः ॥२६१॥
शबवत्सोऽम्भसा तेन वाहयित्वाऽतिरंहसा । वप्रद्वारिकया बाह्यपरिखायामपात्यत ॥२६२॥
उल्लाल्य वारिपूरेणालाबुफलमिवोच्चकैः । सो ऽक्षेपि परिखातीरे नीरेणार्तो मुमूर्च्छ च ॥२६३॥
दैवादागतया तत्र कुलदेवतयेव सः । धात्र्या दृष्टश्च नीतश्च सङ्गोप्य निजसद्मनि ॥२६४॥
पाल्यमानः कुटुम्बेनाभ्यङ्गस्नानाशनादिभिः । छिन्नप्ररूढशाखीव स बभूव पुनर्नवः ॥२६५॥
अत्र चायमुपनयो यथा हि ललिताङ्गकः । कामभोगेष्वनिर्विण्णस्तथा जीवः शरीरिणाम् ॥२६६॥
यथा देवीपरिभोगस्तथा वैषयिकं सुखम् । आपातमात्रमधुरं परिणामे ऽतिदारुणम् ॥२६७॥
कूपवासनिभो गर्भः फेलाहारसमं हि तत् । मात्रा जग्धान्नपानाद्यैर्यद्गर्भपरिपोषणम् ॥२६८॥
यो ऽन्दाम्बुपूरिताद्विष्ठाकूपात् खालेन निर्गमः । पुद्गलोपचिताद्गर्भाद्योन्या निर्गमनं हि तत् ॥२६९॥
पतनं परिखोत्सङ्गे यत्प्राकाराद्बहिःस्थिते । गर्भवासान्निपतनं सूतिकाभवने हि तत् ॥२७०॥
या मूर्च्छा सलिलापूर्णपरिखातीरतस्थुषः । जराय्वसृग्मयात्कोशात्तद्बहिःस्थस्य मूर्च्छनम् ॥२७१॥
या धात्रिका यथा चाभूद्देहोपग्रहकारिणी । सा हि कर्मपरीणामसन्ततिर्ज्ञायतामयि ! ॥२७२॥
भूयो राज्ञी ललिताङ्गं यदि तद्रूपमोहिता । चेटया प्रवेशयेदन्तःपुरान्तः प्रविशेत्स किम् ? ॥२७३॥
पत्न्यः प्रोचुः कथं नाम प्रविशेत्सो ऽल्पधी[1]रपि । अनुभूतं स्मरन्दुःखं विष्टाऽवटनिपातजम् ॥२७४॥

१ °भीरिति C. 1–2 ॥

जम्बूरुवाच सो ऽज्ञानवशेन प्रविशेदपि । अहं तु नानुतिष्ठामि गर्भसंक्रान्तिकारणम् ॥२७५॥
जम्बूनाम्नो ऽथ नाः पत्न्यो विज्ञातदृढनिश्चयाः । प्रतिबोधमुपेयुष्यः क्षमयित्वैवमूचिरे ॥२७६॥
निस्तारयास्मानपि त्वं यथा निस्तरसि स्वयम् । नात्मकुक्षिम्भरित्वेन सन्तुष्यन्ति महाशयाः ॥२७७॥
जम्बूनाम्नो ऽथ पितरो श्वशुरा बन्धवो ऽपि च । ऊचुः साधूक्तधर्मोऽसि प्रव्रज्या नोऽप्यतः परम् ॥२७८॥
प्रभवो ऽप्यभ्यधान्मित्र ! पितॄनापृच्छ्य सत्वरम् । परिव्रज्यासहायस्ते भविष्यामि न संशयः ॥२७९॥
अविघ्नमस्तु ते मा स्म प्रतिबन्धं कृथाः सखे ! । इति जम्बूकुमारो ऽपि प्रभवं प्रत्यभाषत ॥२८०॥
विभातायां विभावर्यां जम्बूनामा महामनाः । स्वयं संवहति स्मोच्चैरधिनिष्क्रमणोत्सवम् ॥२८१॥
स्नात्वा कृत्वाऽङ्गरागं च सर्वाङ्गीणं च पर्यधात् । अलङ्कारान्रत्नमयान्कल्पोऽयमिति कल्पवित् ॥२८२॥
जम्बूरनादृतेनाथ देवेन कृतसन्निधिः । उद्वाह्यां नृसहस्रेण शिबिकामारुरोह च ॥२८३॥
[1]निनदन्मंगलातोद्यः पठन्मङ्गलपाठकः । उत्तार्यमाणलवणः [2]गीयमानगुणोत्करः ॥२८४॥
दानं विश्वजनीनं स ददानः कल्पवृक्षवत् । प्रशस्यमानो लोकेन जम्बूः काश्यपगोत्रभूः ॥२८५॥
सुधर्मस्वामिगणभृत्पादपद्मपवित्रितम् । जगाम तं वनोद्देशं धाम कल्याणसम्पदाम् ॥२८६॥
गणभृद्भूषितोद्यानद्वारदेशे स ईयिवान् । याप्ययानादुदतारीत्संसारादिव निर्ममः ॥२८७॥

---

१ नास्ति अयं C. 1–3. प्रतौ । २ स्वकीयनानमङ्गल M. ॥

सुधर्मस्वामिनः पादानापदम्भोधितारकान् । पञ्चाङ्गस्पृष्टभूपीठः स प्रणम्य व्यजिज्ञपत् ॥२८८॥
संसारसागरतरीं प्रव्रज्यां परमेश्वर ! । मम सस्वजनस्यापि देहि धेहि कृपां मयि ॥२८९॥
पञ्चमः श्रीगणधरो ऽप्येवमभ्यर्थितस्तदा । तस्मै सपरिवाराय ददौ दीक्षां यथाविधि ॥२९०॥
पितॄनापृच्छ्य चान्येद्युः प्रभवो ऽपि समागतः । जम्बूकुमारमनुयान्परिव्रज्यामुपाददे ॥२९१॥
श्रीजम्बूस्वामिपादाब्जमरालः प्रभवो ऽभवत् । शिष्यभावेन तस्यैव दत्तः स गुरुणा यतः ॥२९२॥
श्रीसुधर्मगणभृत्पदाम्बुजोपासनभ्रमरतां समुद्वहन् ॥
दुःसहानगणयन्परीषहानार्षभिर्विहरति स्म मेदिनीम् ॥२९३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते महाकाव्ये सिद्धिबुद्धिकथा–जात्याश्वकिशोरकथा–ग्रामकूटसुतकथा–सोल्लककथा–मासाहसशकुनिकथा–त्रिसुहृत्कथा–विप्रदुहितृनागश्रीकथा–ललिताङ्गकथा–सपरिवारजम्बूप्रव्रज्या--प्रभवप्रव्रज्यावर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ॥

चतुर्थः सर्गः

अन्यदा श्रीगणधरः सुधर्मा विहरन्भुवि । जगाम चम्पानगरीं जम्बूस्वाम्यादिशिष्ययुक् ॥१॥
पुरीपरिसरोद्याने गणभृत्परमेश्वरः । समवासरदुद्भूतधर्मकल्पद्रुमोपमः ॥२॥
सुधर्मस्वामिपादाब्जवन्दनाय पुरीजनः । गन्तुं प्रववृते भक्त्या हृल्लेखोत्कर्षभाग्मनाः ॥३॥
नागर्यः पादचारेण झणज्झणितनूपुराः । काश्चिज्जग्मुः श्लथीभूतधम्मिल्लभ्रंशिगर्भकाः ॥४॥
काश्चिच्च रथमारुह्य नागर्यः पतिभिः सह । तैस्ततः प्राजयामासुस्त्वरितत्वरितं रथान् ॥५॥
काश्चित्त्यक्तान्यकर्माणः श्राविका निर्ययुर्गृहात् । कट्यारोपितशिशवः कपिमत्पादपोपमाः ॥६॥
अश्वारूढा ययुः के ऽपि महेभ्याश्चलकुण्डलाः । श्वेतातपत्रैः कुर्वन्तो दिवमुत्पुण्डरीकिणीम् ॥७॥
श्रीमतां गच्छतां तूर्णं मिथःसङ्घर्षताडनात् । हारमुक्ताफलैर्भ्रष्टैर्दन्तुरा मार्गभूरभूत् ॥८॥

तदा तस्यां नगर्यां च कूणिकः पृथिवीपतिः । दृष्ट्वा यान्तं तथा लोकमिति पप्रच्छ वेत्रिणम् ॥९॥
किं यात्राऽद्य पुरोपान्तदेव्याः कस्याश्चिदुद्यता ? । कस्यापि हि महेभ्यस्य किमुद्यापनिकोत्सवः ? ॥१०॥
किं महान्कौमुदीप्रायो महो वा कश्चिदागतः ? । पूजाविशेषो यदि वोद्यानचैत्ये प्रवर्तते ? ॥११॥
किं वा जैनमुनिः को ऽपि महात्मा समवासरत् ? । यदेवमखिलो याति त्वरितं नगरीजनः ॥१२॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

वेत्री तदैव विज्ञाय नरेन्द्राय व्यजिज्ञपत् । इतो ऽस्ति समवसृतः सुधर्मा गणभृद्वरः ॥१३॥
वन्दितुं गणभृत्पादान्सर्वोऽयं याति पूर्जनः । एकातपत्रार्हद्धर्म राज्यं विजयते तव ॥१४॥
राजा प्रोवाच हे वेत्रिन्धन्यो ऽयं नगरीजनः । य एवं त्वरते हन्त सुधर्मस्वामिवन्दने ॥१५॥
अहो जाग्रदवस्थोऽपि सुषुप्तावस्थतामगाम् । यदद्य गणभृद्देवमपि न ज्ञातवानहम् ॥१६॥
तद्गत्वा गणभृत्पादान्वन्दे ऽहमपि सत्वरम् । तिष्ठन्ति ते हि नैकत्राप्रतिबद्धाः समीरवत् ॥१७॥
इत्युत्थायासनाद्राजा स्मेरराजीवलोचनः । चन्द्रांशुभिरिव व्यूते पर्यधात् श्वेतवाससी ॥१८॥
आमुचत्कर्णतलयोरथ मौक्तिककुण्डले । सुधाकुण्डे इव स्वच्छमुक्तांशुचयपूरिते ॥१९॥
हृदि चालम्बयामास हारं विमलमौक्तिकम् । लावण्यसरितः फेनरेखामिव तटस्थिताम् [1] ॥२०॥

१ °तम् C. 1–2 ॥

अन्यान्यपि हि सर्वाङ्गं रत्नालङ्करणानि सः । बभार भूभारधरः कल्पद्रुम इवापरः ॥२१॥
आकाशस्फटिकस्वच्छं पर्यधादथ चोलकम् । नृत्यन्तमिव तत्स्पर्शात्समीरतरलाञ्चलम् ॥२२॥
सुगन्धिसुमनोदामगर्भिते कज्जलच्छविम् । ग्रस्तेन्दुप्रावृडभ्राभं धम्मिल्लं मूर्ध्न्यबन्धयत् ॥२३॥
भद्राणां कारणं भद्रवारणं सो ऽरिवारणः । आरोहदारोहकरात्पश्चास्य इव पर्वतम् ॥२४॥
विद्युल्लेखामिव व्योम्नि पाणिभ्यां नर्तयन्सृणिम् । पादाभ्यां प्रेरयामास रिणं भूमिवासवः ॥२५॥
निर्भरैः पादपातैर्मे मा भूद् भूर्भङ्गुरेति सः । मन्थरं मन्थरं गन्तुं कृपयेव प्रचक्रमे ॥२६॥
गर्जन्नत्यूर्जितं वर्षन्मदवारि निरन्तरम् । जनेनालक्षि स गजः पर्जन्य इव भूगतः ॥२७॥
नृत्यन्त इव वल्गन्तो मुखाग्रस्पर्शिजानवः । प्रावर्त्तुर्लक्षशो ऽश्वास्तं गजमारुढसादिनः ॥२८॥
पुरो विजयशंसीनि तूर्यवर्याण्यनेकशः । अवाद्यन्त तदायुक्तैर्मिथःसंवलितस्वनम् ॥२९॥
शब्दायमानमभितस्तूर्याणां प्रतिशब्दितैः । अपौरुषेयमुद्दामं वाद्यान्तरमभून्नभः ॥३०॥
सुधर्मस्वामिगणभृत्पादपद्मैरधिष्ठितम् । आससाद वनोद्देशं नृपो ऽथ सपरिच्छदः ॥३१॥
कुम्भोपरि सृणिदण्डाघातेन स्थापितादथ । कक्षां गृहीत्वाऽवातारीत्कुञ्जराद्राजकुञ्जरः ॥३२॥
सन्त्यक्तपादुको दूरीकारितच्छत्रचामरः । वेत्रिबाहुमपि त्यक्त्वा महाबाहुर्महीपतिः ॥३३॥
भक्त्या स्वमपि मन्वानः सामान्यजनसन्निभम् । वन्दारूञ्श्रावकान्पश्यन्नुद्यद्रोमाञ्चकञ्चुकः ॥३४॥

आबद्धाञ्जलिना कुर्वन्मुकुटं मुकुटोपरि । सुधर्मस्वामिनं दृष्ट्वा दूरादपि नमो ऽकरोत् ॥३५॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

नत्वा च निषसादाग्रे ऽग्रेसरो भक्तिशालिनाम् । तद्वक्त्रदत्तदृग्राजा तच्छिष्यपरमाणुवत् ॥३६॥

ततश्च गणभृद्देवः सुधर्मा धर्मदेशनाम् । प्राणिकारुणिकश्चक्रे श्रोतृश्रोत्रसुधाप्रपाम् ॥३७॥

देशनान्ते च गणभृच्छिष्यान्पश्यन्नरेश्वरः । जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य पप्रच्छ परमेश्वरम् ॥३८॥

भगवन्नद्भुतं रूपमिदं सौभाग्यमद्भुतम् । तेजो ऽप्यद्भुतमेतस्य महर्षेः सर्वमद्भुतम् ॥३९॥

तथा हि यमुनावीचिकुटिलाः श्यामलाः कचाः । नेत्रे कर्णान्तविश्रान्ते नासानालाम्बुजे इव ॥४०॥

श्रवसी नेत्रसरसीतीरस्थे इव शुक्तिके । कण्ठः कम्बुविडम्ब्येष वक्षो ऽररिसहोदरम्* ॥४१॥

आयतौ सरलौ बाहुदण्डावाजानुलम्बिनौ । छिग्राह्यो मध्यदेशः सक्थनी चालानसन्निभे ॥४२॥

एणीजङ्घोपमे जङ्घे करांह्रि कमलोपमम् । रूपसम्पदमेतस्य कियद्वा वक्तु मादृशः ॥ (चतुर्भिः कलापकम्)

महाभाग्यस्य सौभाग्यमप्यस्य न गिरां पथि । यदेनं बन्धुमिव मे पश्यतः प्रीयते मनः ॥४४॥

महातेजाश्च को ऽप्येष तथा ह्यनस्य तेजसा । न सम्यक् पार्यते द्रष्टुं रूपमप्यस्ति यादृशम् ॥४५॥

अधृष्यं चाभिगम्यं च तेजो ऽमुष्य महामुनेः । किमहस्करशीतांशोरेकत्राकृष्य पिण्डितम् ॥४६॥

---

* कपाटसदृगम् ।

१ 'शोरे' C 1–2 ॥

कियान्वा कथ्यते तेजोराशिरस्य तपोनिधेः । यत्पादनखरश्मीनामपि दासीनिभा तडित् ॥४७॥
जम्बूप्राग्भववृत्तान्तमथाख्यद्गणभृद्गुरः । श्रेणिकाय यथाऽऽचख्यौ पुरा श्रीज्ञातनन्दनः ॥४८॥
आख्याय चावोचदिदं प्राग्जन्मतपसा नृप ! । रूपसौभाग्यतेजांसीदृशान्यस्य महात्मनः ॥४९॥
अयं चरमदेहश्च चरमश्चैव केवली । भवे ऽस्मिन्सेत्स्यतीत्याख्यत्स एव परमेश्वरः ॥५०॥
स्वामिना [1]चेदमाख्यातं जम्बूनाम्नि शिवं गते । न मनःपर्ययो भावी न चापि परमावधिः ॥५१॥
नाहारकवपुर्लब्धिर्जिनकल्पस्तथा न हि । पुलाकलब्धिर्नो नो वा क्षपकश्रेणिरोहणम् ॥५२॥
न च स्यादुपशमनं संयमत्रितयं क्वचित् । एवं भविष्यत्यग्रे ऽपि हीनहीननरार्द्धिता ॥५३॥
एव वचनमाकर्ण्य सुधर्मस्वामिनो गुरो । तत्पादपद्मं नत्वा च राजा चम्पापुरीं ययौ ॥५४॥
सुधर्माऽपि ततः स्थानाज्जगाम सपरिच्छदः । श्रीमहावीरपादान्ते तत्समं विजहार च ॥५५॥
आत्तं पञ्चाशदब्देन सुधर्मस्वामिना व्रतम् । त्रिंशदब्दीमथाऽकारि शुश्रूषा परमार्हतः ॥५६॥
मोक्षं गते महावीरे सुधर्मा गणभृद्गुरः । छद्मस्थो द्वादशाब्दानि तस्थौ तीर्थं प्रवर्तयन् ॥५७॥
ततश्च द्वानवत्यब्दीप्रान्ते सम्प्राप्तकेवलः । अष्टाब्दीं विजहारोर्वीं भ[2]व्यसत्त्वान्प्रबोधयन् ॥५८॥

[1] 'चेवमा' C 1 ॥ [2] 'मध्यका' C 2 ॥

प्राप्ते निर्वाणसमये पूर्णवर्षशतायुषा । सुधर्मस्वामिनाऽस्यापि जम्बूस्वामी गणाधिपः ॥५९॥

तप्यमानस्तपस्तीव्रं जम्बूस्वाम्यपि केवलम् । आसाद्य सदयो भव्यभविकान्प्रत्यबूबुधत् ॥६०॥

श्रीवीरमोक्षदिवसादपि हायनानि
चत्वारि षष्टिमपि च व्यतिगम्य जम्बूः ॥
कात्यायनं प्रभवमात्मपदे निवेश्य
कर्मक्षयेण पदमव्ययमाससाद ॥६१॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते
महाकाव्ये जम्बूस्वामिनिर्वाणवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥



पञ्चमः सर्गः

ततश्च प्रभवस्वामी कात्यायनकुलोद्भवः । तीर्थप्रभावनां कुर्वन्नुर्वीतलमपावयत् ॥१॥
अन्यदाऽऽवश्यकश्रान्तसुप्तायां शिष्टपर्षदि । निशीथे योगनिद्रास्थः प्रभवस्वाम्यचिन्तयत् ॥२॥
भावी को मे गणधरोऽर्हद्धर्माम्भोजभास्करः । संघस्य यः स्यात्संसारसागरे पोतसन्निभः ॥३॥
अनया चिन्तयाऽऽलीढो गणे सङ्घे ऽपि च स्वके । उपयोगं चकारेष्टज्ञेयालोकप्रदीपकम् ॥४॥
स ज्ञानभानुनाऽऽदित्यतेजसेव प्रसारिणा । नाद्राक्षीत्तादृशं कञ्चिदव्युच्छित्तिकरं नरम् ॥५॥
उपयोगं ततश्चादात्परेषामपि दर्शने । तादृग्नरार्थी पङ्कादप्युपादेयं हि पङ्कजम् ॥६॥
ददर्श च पुरे राजगृहे शय्यम्भवं द्विजम् । यज्ञं यजन्तमासन्नभव्यं वत्सकुलोद्भवम् ॥७॥
अन्यत्रापि विहर्तव्यं श्रमणैरनवस्थितैः । इत्यगात्प्रभवस्वामी तत्रैव नगरोत्तमे ॥८॥

आदिशच्च द्वयोर्मुन्योर्गम्यतां यज्ञवाटके । तत्र भिक्षार्थिनौ ब्रूतं धर्मलाभाशिषं युवाम् ॥९॥
अदित्सावादिभिस्तत्र यज्ञवाटद्विजातिभिः । अपि प्रस्थाप्यमानाभ्यां युवाभ्यां वाच्यमीदृशम् ॥१०॥
अहो कष्टमहो कष्टं तत्त्वं विज्ञायते न हि । अहो कष्टमहो कष्टं तत्त्वं विज्ञायते न हि ॥११॥
अथ वन्दनमालाङ्कद्वारमुत्तम्भितध्वजम् । द्वार्मुक्ताचामनाहावं समिद्धयापूतमाणवम् ॥१२॥
*चषालबद्धच्छगलं वेदिमध्येद्धपावकम् । होमद्रव्यभृतानेकपात्रमृत्विग्भिराकुलम् ॥१३॥
सामिधेन्यर्पणव्यग्राध्वर्युमध्वरवाटकम् । तौ मुनी जग्मतुर्भिक्षासमये गुर्वनुज्ञया ॥१४॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)
भिक्षामदित्सुभिर्विप्रैर्विसृष्टावथ तौ मुनी । गुर्वादिष्टमहो कष्टमित्याद्यूचतुरुच्चकैः ॥१५॥
अध्वरे दीक्षितस्तस्मिन्नाम्ना शय्यम्भवो द्विजः । यज्ञवाटद्वारदेशस्थितो ऽश्रौषीद्वचस्तयोः ॥१६॥
अचिन्तयच्चोपशमप्रधानाः साधवो ह्यमी । न मृषावादिन इति तत्त्वे सन्देग्धि मे मनः ॥१७॥
इति सन्देहदोलाधिरूढेन मनसा स तु । किं तत्त्वमिति पप्रच्छोपाध्यायं सुधियां वरः ॥१८॥
उपाध्यायो ऽवदत्तत्त्वं वेदाः स्वर्गापवर्गदाः । न वेदेभ्यो ऽपरं तत्त्वमिति [1]तत्त्वविदो विदुः ॥१९॥
शय्यम्भवो ऽभ्यधान्नूनं प्रतारयसि मादृशान् । यज्ञादिदक्षिणालोभाद्वदास्तत्त्वमिति ब्रुवन् ॥२०॥

---

*चषालो यूपस्तंभः ।

१ वेदवि° C । ।

वीतद्वेषा वीतरागा निर्ममा निष्परिग्रहाः । शान्ता महर्षयो नैते वदन्ति वितथं क्वचित् ॥२१॥
न गुरुस्त्वं त्वया ह्येतद्विश्वमाजन्म वञ्चितम् । नितान्तं शिक्षणीयो ऽसि प्रत्युताद्य दुराशय ! ॥२२॥
यथावस्थितमाख्याहि तत्त्वमेवं स्थितेऽपि भोः ! । नो चेच्छेत्स्यामि ते मौलिं न हत्या दुष्टनिग्रहे ॥२३॥
इति कोशाच्चकर्षासिमाकृष्टासिरलक्षि सः । तन्मृत्युवाचनायात्तपत्रः साक्षादिवान्तकः ॥२४॥
उपाध्यायो ऽप्यदो दध्यौ मिमारयिषुरेष माम् । यथास्थतत्त्वकथने समयो ऽयमुपागतः ॥२५॥
इदं च पठ्यते वेदेष्वाम्नायो ऽप्येष नः सदा । कथ्यं यथातथं तत्त्वं शिरश्छेदे हि नान्यथा ॥२६॥
तस्मात्प्रकाशयाम्याशु तत्त्वमस्मै यथातथम् । यथा जीवामि जीवन्हि नरो भद्राणि पश्यति ॥२७॥
इत्याचख्यावुपाध्यायो ध्यायन्कुशलमात्मनः । अमुष्य यूपस्याधस्तान्न्यस्ताऽस्ति प्रतिमाऽर्हतः ॥२८॥
पूज्यते ऽधस्थितैवात्र प्रच्छन्न प्रतिमाऽऽर्हती । तत्प्रभावेन निर्विघ्नमिदं यज्ञादि कर्म नः ॥२९॥
महातपाः सिद्धपुत्रो नारदः परमार्हतः । अवश्यमध्वरं हन्ति प्रतिमामार्हतीं विना ॥३०॥
ततो यूपमुपाध्यायस्तमुत्पाट्य तथास्थिताम् । तामर्हत्प्रतिमां रात्नीं दर्शयित्वैवमब्रवीत् ॥३१॥
इयं हि प्रतिमा यस्य देवस्य श्रीमदर्हतः। तत्त्वं तदुदितो धर्मो यज्ञादि तु विडम्बना ॥३२॥
श्रीमदर्हत्प्रणीतो हि धर्मो जीवदयात्मकः । पशुहिंसात्मके यज्ञे धर्मसम्भावनाऽपि का॥३३॥
जीवामो वयमेव तु हन्त दम्भेन भूयसा । तत्त्वं जानीहि मां मुञ्च भव त्वं परमार्हतः ॥३४॥

चिरं प्रतारितो ऽसि त्वं मया स्वोदरपूर्तये । नातः परमुपाध्यायस्तवास्मि स्वस्ति ते ऽनघ ! ॥३५॥
शय्यम्भवो ऽपि तं नत्वा यज्ञोपाध्यायमब्रवीत् । त्वमुपाध्याय एवासि सत्यतत्त्वप्रकाशनात् ॥३६॥
इति शय्यम्भवस्तस्मै सर्वमत्यन्ततोषभाक् । सुवर्णताम्रपात्रादि यज्ञोपकरणं ददौ ॥३७॥
स्वयं तु निर्जगामाशु महर्षी तौ गवेषयन् । ययौ च तत्पदैरेव प्रभवस्वामिसन्निधौ ॥३८॥
ववन्दे प्रभवस्वामिपादान्सर्वान्मुनींश्च सः । धर्मलाभाशिषा तैश्चाभिनन्दित उपाविशत् ॥३९॥
कृताञ्जलिश्च प्रभवाचार्यपादान्व्यजिज्ञपत् । भगवन्तो धर्मतत्त्वं ब्रूथ मे मोक्षकारणम् ॥४०॥
प्रभवस्वाम्यथाचख्यावहिंसा धर्म आदिमः । चिन्तनीयः शुभोदर्को यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥४१॥
वाच्यं प्रियं मितं तथ्यं परस्याबाधकं च यत् । तत्तथ्यमपि नो वाच्यं परबाधा भवेद्यतः ॥४२॥
अदत्तं माददीतार्थं नित्यं सन्तोषभाग्भवेत् । इहापि मोक्षसुखभागिव सन्तोषाभाग् जनः ॥४३॥
ऊर्ध्वरेता भवेत्प्राज्ञः सर्वतो मैथुनं त्यजन् । मैथुनं खलु संसारविषपादपदोहदः ॥४४॥
मुक्त्वा परिग्रहं सर्वं स्वशरीरे ऽपि निःस्पृहः । आत्मारामो भवेद्विद्वान्यदीच्छेदपुनर्भवम् ॥४५॥
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्माकिञ्चन्यलक्षणैः । व्रतैः पञ्चभिरप्येवं भवादात्मानमुद्धरेत् ॥४६॥
ज्ञात्वा शय्यम्भवस्तत्त्वं भवोद्विग्नः क्षणादभूत् । प्रभवस्वामिनः पादान्नत्वा चैवं व्यजिज्ञपत् ॥४७॥
असद्गुरुगिरा मे ऽभूदतत्त्वे तत्त्वधीश्चिरम् । मृत्पिण्डमपि हेमैव पीतोन्मत्तो हि पश्यति ॥४८॥

तदद्य ज्ञाततत्त्वस्य प्रव्रज्या दीयतां मम । भवकूपे निपततो हस्तालम्बनसन्निभा ॥४९॥
ततश्च प्रभवस्वामी शय्यम्भवमहाद्विजम् । संसारवैरिणो भीतं परिव्राजयति स्म तम् ॥५०॥
परिषहेभ्यो नाभैषीत्स तपस्यन्महाशयः । दिष्टया कर्म क्षिपामीति प्रत्युतोद्धुषितो*ऽभवत् ॥५१॥
तुर्यषष्ठाष्टमादीनि दुस्तपानि तपांसि सः । तेपेतरां तपनवत्तेजोभिरंतिभासुरः ॥५२॥
कुर्वाणो गुरुशुश्रूषां गुरुपादप्रसादतः । महाप्राज्ञः क्रमेणाभूत्स चतुर्दशपूर्वभृत् ॥५३॥
श्रुतज्ञानादिना तुल्यं रूपान्तरमिवात्मनः । प्रभवस्तं पदे न्यस्य परलोकमसाधयत् ॥५४॥

शय्यम्भवो यदा पर्यव्राजील्लोकस्तदाऽखिलः । तद्भार्यां युवतिं दृष्ट्वाऽनुशोचन्निदमभ्यधात् ॥५५॥
अहो शय्यम्भवो भट्टो निष्ठुरेभ्योऽपि निष्ठुरः । स्वां प्रियां यौवनवतीं सुशीलामपि यो ऽत्यजत् ॥५६॥
पुत्राशयैव जीवन्ति योषितो हि पतिं विना । पुत्रो ऽपि नाभूदेतस्याः कथमेषा भविष्यति ? ॥५७॥
पृच्छति स्म च लोकस्तामयि शय्यम्भवप्रिये ! । गर्भसम्भावना काऽपि किं नामास्ति तवोदरे ? ॥५८॥
मनागित्यभिधातव्ये सापि प्राकृतभाषया । उवाच 'मणय' मिति ह्रस्वगर्भा ह्यभूत्तदा ॥५९॥
तस्याश्च ववृधे गर्भः प्रत्याशेव शनैः शनैः । समये च सुतो जज्ञे तन्मनोऽम्भोधिचन्द्रमाः ॥६०॥

*उत्साहित ॥

१ °रिव भा° C 1 । °रभिभा° C. 3 ॥

ब्राह्मण्या 'मणय'मिति तदानीं कृतमुत्तरम् । इति तस्यापि बालस्याभिधा 'मणक' इत्यभूत् ॥६१॥
स्वयं मात्रा स्वयं धात्र्या ब्राह्मण्या सोऽर्भकस्तया । पाल्यमानः क्रमेणाभूत्पादचङ्क्रमणक्षमः ॥६२॥
अतीते चाष्टमे वर्षे पप्रच्छेति स मातरम् । क्व नाम मे पिता मातर्वेषेणाविधवा ह्यसि ॥६३॥
माताऽपि कथयामास प्रवव्राज पिता तव । तदा त्वमुदरस्थोऽभूः पालितोऽसि मयाऽर्भकः ॥६४॥
अदृष्टपूर्वी पितरं त्वमायुष्मन्यथा ह्यसि । त्वामप्यदृष्टपूर्व्येव तथा जनयिता तव ॥६५॥
तव शय्यम्भवो नाम पिता यज्ञरतोऽभवत् । प्रतार्य धूर्तश्रमणैः पर्यव्राज्यत कैरपि ॥६६॥
पितुः शय्यम्भवस्यैवं दर्शनायोत्सुकः सुतः । निरियाय गृहाद्बालो वञ्चयित्वा स्वमातरम् ॥६७॥
तदा शय्यम्भवाचार्यश्चम्पायां विहरन्नभूत् । बालोऽपि तत्रैव ययावाकृष्टः पुण्यराशिना ॥६८॥
कायचिन्तादिना सूरिः पुरीपरिसरे व्रजन् । ददर्श दूरादायान्तं तं बालं कमलेक्षणम् ॥६९॥
शय्यम्भवस्य तं बालं पश्यतोऽब्धेरिवोडुपम् । स्नेहातिरेकादुल्लासस्तदाऽभूदधिकाधिकः ॥७०॥
मुनिचन्द्रमसं दूरात्तं दृष्ट्वा बालकोऽपि हि । विकसद्वदनः सोऽभूत्सद्यः कुमुदकोषवत् ॥७१॥
आचार्योऽपि हि तं बालं पप्रच्छातुच्छहर्षभाक् । कोऽसि त्वं ? कुत आयासीः? पुत्रः पौत्रोऽसि कस्य वा? ॥७२॥
सोऽर्भकोऽभिदधे राजगृहादत्राहमागतः । सूनुः शय्यम्भवस्यास्मि वत्सगोत्रद्विजन्मनः ॥७३॥
मम गर्भस्थितस्यापि प्रव्रज्यामाददे पिता । तं गवेषयितुमहं बम्भ्रमीमि पुरात्पुरम् ॥७४॥

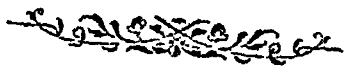
शय्यम्भवं मे पितरं जानते यदि तन्मम । पूज्यपादाः प्रसीदन्तु क्व सो ऽस्तीति वदन्तु च ॥७५॥
पितरं यदि पश्यामि तदा तत्पादसन्निधौ । परिव्रजाम्यहमपि या गतिस्तस्य सैव मे ॥७६॥
सूरिः प्रोवाच तातं ते जानामि स सुहृन्मम । शरीरेणाप्यभिन्नश्चायुष्मंस्तमिव विद्धि माम् ॥७७॥
तन्ममैव सकाशे त्वं परिव्रज्यां शुभाशय ! । प्रतिपद्यस्व को नाम भेदः पितृपितृव्ययोः ॥७८॥
सूरिस्तं बालमादाय जगामाथ प्रतिश्रयम् । अद्य लाभः सचित्तो ऽभूदिति चालोचयत्स्वयम् ॥७९॥
सर्वसावद्यविरतिप्रतिपादनपूर्वकम् । तमबालधियं बालं सूरिर्व्रतमजिग्रहत् ॥८०॥
उपयोगं ददौ सूरिः कियदस्यायुरित्यथ । षण्मासान्यावदस्तीति तच्च सद्यो विवेद सः ॥८१॥
एवं च चिन्तयामास शय्यम्भवमहामुनिः । अत्यल्पायुरयं बालो भावी श्रुतधरः कथम् ? ॥८२॥
अपश्चिमो दशपूर्वी श्रुतसारं समुद्धरेत् । चतुर्दशपूर्वधरः पुनः केनापि हेतुना ॥८३॥
मणकप्रतिबोधे हि कारणे ऽस्मिन्नुपस्थिते । तदुद्धराम्यहमपि सिद्धान्तार्थसमुच्चयम् ॥८४॥
सिद्धान्तसारमुद्धृत्याचार्यः शय्यम्भवस्तदा । दशवैकालिकं नाम श्रुतस्कन्धमुदाहरत् ॥८५॥
कृतं विकालवेलायां दशाध्ययनगर्भितम् । दशवैकालिकमिति नाम्ना शास्त्रं बभूव तत् ॥८६॥
अपाठयन्मणकं तं ग्रन्थं निर्ग्रन्थपुङ्गवः । श्रीमान् शय्यम्भवाचार्यवर्यो धुर्यः कृपावताम् ॥८७॥
आराधनादिकं कृत्यं कारितः सूरिभिः स्वयम् । षण्मासान्ते तु मणकः कालं कृत्वा दिवं ययौ ॥८८॥

विपेदाने तु मणके श्रीशय्यम्भवसूरयः । अवर्षन्नयनैरश्रुजलं शारदमेघवत् ॥८९॥
यशोभद्रादिभिः शिष्यैरथ दुःखितविस्मितैः । सूरिर्व्यज्ञप्यनर्हं वः किमिदं हेतुरत्र कः ? ॥९०॥
ततो मणकवृत्तान्तं सुतसम्बन्धबन्धुरम् । शिष्येभ्यो ऽकथयत्सूरिस्तज्जन्म मरणावधि ॥९१॥
उवाच चैष बालो ऽपि कालेनाल्पीयसापि हि । पालितामलचारित्रो ऽकार्षीत्कालं समाधिना ॥९२॥
बालो ऽप्ययमबालो ऽभूच्चरित्रेणेति सम्मदात् । अस्माकमश्रुसम्पातः पुत्रस्नेहो हि दुस्त्यजः ॥९३॥
ऊचुः शिष्या नमद्ग्रीवा यशोभद्रादयस्ततः । पूज्यैरपत्यसम्बन्धः किमादौ ज्ञापितो न नः ? ॥९४॥
मणकक्षुल्लको ऽस्माकमयं हि तनुभूरिति । अज्ञापयिष्यन्यद्यस्मान्गुरुपादा मनागपि ॥९५॥
गुरुवद्गुरुपुत्रे ऽपि वर्तेतेति वचो वयम् । अकरिष्यामहि तदा सत्यं तत्पर्युपासनात् ॥९६॥ (युग्मम्)
सूरिर्भूरिमुदित्यूचे तस्याऽभूत्सुगतिप्रदम् । तपोवृद्धेषु युष्मासु वैयावृत्त्योत्तमं तपः ॥९७॥
ज्ञातास्मत्पुत्रसम्बन्धा यूयं हि मणकान्मुनेः । नाकारयिष्यतोपास्तिं स्वार्थं सो ऽथ व्यमोक्षत ॥९८॥
अमुमल्पायुषं ज्ञात्वा कर्तुं श्रुतधरं मया । सिद्धान्तसारमुद्धृत्य दशवैकालिकं कृतम् ॥९९॥
मणकार्थं कृतो ग्रन्थस्तेन निस्तारितश्च सः । तदेनं संवृणोम्यद्य यथास्थाने निवेशनात् ॥१००॥
यशोभद्रादिमुनयः सङ्घायाख्यन्निदं तदा । दशवैकालिकं ग्रन्थं संवरिष्यन्ति सूरयः ॥१०१॥
सङ्घो ऽप्यभ्यर्थयाञ्चक्रे सूरिमानन्दपूरितः । मणकार्थो ऽप्ययं ग्रन्थो ऽनुगृह्णात्वखिलं जगत् ॥१०२॥

अतः परं भविष्यन्ति प्राणिनो ह्यल्पमेधसः । कृतार्थास्ते मणकवद्भवन्तु त्वत्प्रसादतः ॥१०३॥
श्रुताम्भोजस्य किञ्जल्कं दशवैकालिकं ह्यदः । आचम्याचम्य मोदन्तामनगारमधुव्रताः ॥१०४॥
इति सङ्घोपरोधेन श्रीशय्यम्भवसूरिभिः । दशवैकालिकग्रन्थो न संवव्रे महात्मभिः ॥१०५॥
श्रीमाञ्शय्यम्भवः सूरिर्यशोभद्रं महामुनिम् । श्रुतसागरपारीणं पदे स्वस्मिन्नतिष्ठिपत् ॥१०६॥

कृत्वा मरणं समाधिनाऽगा-
दथ शयम्भवसूरिरूर्ध्वलोकम् ।
श्रुतकेवलिनो निजे ऽपि कार्ये
किं मुह्यन्ति ? जगत्प्रदीपकल्पाः ॥१०७॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते
प्रभवदेवत्व--शय्यम्भवचरितवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥



१ 'व श' C. 1.

षष्ठः सर्गः



अथ श्रीमान्यशोभद्रसूरिः पूरितदिग्यशाः । तुर्यादिभिः कृताहारो विजहार वसुन्धराम् ॥१॥
धर्मेणार्हदुपज्ञेन स चतुर्दशपूर्वभृत् । विश्वमप्रीणयद्विश्वं जीमूत इव वारिणा ॥२॥
मेधाविनौ भद्रबाहुसम्भूतविजयौ मुनी । चतुर्दशपूर्वधरौ तस्य शिष्यौ बभूवतुः ॥३॥
सूरिः श्रीमान्यशोभद्रः श्रुतनिध्योस्तयोर्द्वयोः । स्वमाचार्यकमारोप्य परलोकमसाधयत् ॥४॥

भद्रबाहुर्जगद्भद्रङ्करो ऽथ विहरन्भुवि । क्षमाश्रमणसघेन राजन्राजगृहं ययौ ॥५॥
चत्वारो वणिजस्तस्मिन्पुरे सवयसो ऽभवन् । उद्यानद्रुमवद् वृद्धिं जगन्वांसः सहैव हि ॥६॥
सन्निधौ भद्रबाहोस्ते धर्मं शुश्रुवुरार्हतम् । कषायाग्निजलासारं प्रतिबोधं च लेभिरे ॥७॥
श्रीभद्रबाहुपादान्ते दान्तात्मानः सहैव ते । प्रव्रज्यामाशु जगृहुर्गृहवासपराङ्मुखाः ॥८॥

१ र्थत्वमा *M*. ॥

तप्यमानास्तपस्तीव्रमुपार्जितबहुश्रुताः । युगमात्रदत्तदृशो विहरन्तो महीतले ॥९॥
प्रियां तथ्यां मितां वाचं वदन्तः कुक्षिशम्बलाः । निरीहा निर्ममाः साम्यवन्तः सन्तोषशालिनः ॥१०॥
धर्मोपदेशप्रवणाः करुणारससागराः । ते गुरोर्हृदये ऽविक्षन्सरसीव सितच्छदा ॥११॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)
गुरोरनुज्ञयैकाकिविहारप्रतिमाधराः । ते विहृत्य विहृत्यागुः पुना राजगृहं पुरम् ॥१२॥
तदा दरिद्रडिम्भानां दन्तवीणाप्रवादकः । पद्मिनीपद्मकोशेषु हिममग्निमिव क्षिपन् ॥१३॥
शीतार्त्याऽऽलिङ्गनजुषां यूनां प्रणयकोपहृत् । ज्वलदङ्गारशकटीनिकटीभवदीश्वरः ॥१४॥
द्रुमाधिरूढैर्लीढार्कतापः कपिभिरुन्मुखैः । मर्तुकामीकृताध्वन्यो हिमर्तुरभवद् भृशम् (त्रिभिर्विशेषकम्) ॥
भिक्षां कृत्वा निवृत्तास्ते दिवा यामे तृतीयके । उपचक्रमिरे गन्तुमुपवैभारपर्वतम् ॥१६॥
तेषां गिरिगुहाद्वारे पुरोद्याने तदन्तिके । पुराभ्यर्णे च तुर्यो ऽभूद्गच्छतां प्रहरः क्रमात् ॥१७॥
तृतीययामे कुर्वीत भिक्षां गमनमेव वा । इति ते तुर्ययामे ऽस्थुस्तत्रैव प्रतिमाधराः ॥१८॥
यो ऽभूदद्रिगुहाद्वारे शीतं तस्याभवद् भृशम् । किञ्चिन्मन्दमभूत्तस्य य उद्याने तु तस्थिवान् ॥१९॥
य उद्यानसमीपे ऽस्थात्तस्य मन्दतरं त्वभूत् । यस्तु तस्थौ पुराभ्यर्णे तस्यात्यल्पं पुरोष्मणा ॥२०॥
चत्वारो ऽपि हि शीतेन विपद्य त्रिदिवं ययुः । आद्यद्वितीयतृतीयतुर्ययामेषु ते क्रमात् ॥२१॥

इतश्च पुर्यां चम्पायां कूणिके श्रेणिकात्मजे । आलेख्यशेषे भूपो ऽभूदुदायी नाम तत्सुतः ॥२२॥

पितृव्ययशुचाऽऽक्रान्तो दुर्दिनेनेव चन्द्रमाः। निगूढतेजा राज्ये ऽपि प्रमदं न बभार सः ॥२३॥
उवाच च कुलामात्यानमुष्मिन्नगरे ऽखिले। पश्यतो मे पितुः क्रीडास्थानानि व्यथते मनः ॥२४॥
इयं हि सैव परिषद्यस्यां तातः क्षणे क्षणे। सिंहासनमसेविष्ट मामङ्कादपरित्यजन् ॥२५॥
अभुक्तेहाक्रीडदिहारंस्तेहाशेत चेह यत्। पिता ममेति पश्यामि तं सर्वत्र जलेन्दुवत् ॥२६॥
पश्यतस्तातपादान्मे दृशोरग्रे स्थितानिव। राज्यलिङ्गभृतः सातिचारं स्याद्विनयव्रतम् ॥२७॥
पिता हृदि स्थितो नित्यमिहस्थस्येति मे सुखम्। सदा शल्यमिवास्तोकः शोको दुःखाकरोति च ॥२८॥
अमात्या अपि ते ऽत्याप्ता बहुदृष्टा बहुश्रुताः। शोकशङ्कुच्छिदा प्रोचुर्वाचा वाचंयमा इव ॥२९॥
कस्य नेष्टवियोगेन शोकः स्याद्भवता पुनः। भुक्तान्नवत् स जार्यो हि लज्जा स्यादन्यथा तव ॥३०॥
यद्वा स्याच्छोक एवेह नगरे वसतस्तव। तदन्यन्नगरं क्वापि निवेशय विशांपते ! ॥३१॥
पुरा पुरं राजगृहं कूणिकोऽपि पिता तव। हित्वा पितृशुचाऽकार्षीदिमां चम्पाभिधां पुरीम् ॥३२॥
उदाय्यपि समाहूय नैमित्तिकवरानथ। स्थानं पुरनिवेशार्हं गवेषयितुमादिशत् ॥३३॥
तेऽपि सर्वत्र पश्यन्तः प्रदेशानुत्तरोत्तरान्। ययुर्गङ्गातटे रम्ये दृशां विश्रामधामनि ॥३४॥
ते तत्र ददृशुः पुष्पपाटलं पाटलिद्रुमम्। पत्रलं बहुलच्छायमातपत्रमिवावनेः ॥३५॥
अहो उद्यानबाह्यो ऽपि सकलापोऽयमंह्रिपः। इत्थं चमत्कृतास्तत्र ते ऽद्राक्षुश्चाषपक्षिणम् ॥३६॥

शाखानिषण्णः स खगो व्याददौ वदनं मुहुः । कवलीभवितुं तत्र निपेतुः कीटका स्वयम् ॥३७॥
ते ऽचिन्तयन्निहोद्देशे पक्षिणो ऽस्य यथा मुखे । कीटकाः स्वयमागत्य निपतन्ति निरन्तरम् ॥३८॥
तथाऽस्मिन्नुत्तमे स्थाने नगरे ऽपि निवेशिते । राज्ञः पुण्यात्मनोऽमुष्य स्वयमेष्यन्ति सम्पदः ॥३९॥
इति निर्णीय तत्स्थानं नगरार्हं महीपतेः । आख्यान्ति स्म विवृण्वन्तो निमित्तं चाषलक्षणम् ॥४०॥
जरन्नैमित्तिकश्चैको जगाद वदतां वरः । पाटलेयं न सामान्या ज्ञानिना कथिता पुरा ॥४१॥

तथाहि स्तो नगर्यौ द्वे मथुरे दक्षिणोत्तरे । समानसौन्दर्यगुणे स्वसारौ युग्मजे इव ॥४२॥
अभूदुदग्मथुरायां देवदत्तो वणिक्सुतः । दक्षिणस्यां मथुरायां दिग्यात्रार्थमियाय सः ॥४३॥
वणिक्पुत्रजयसिंहेनाभवत्तस्य सौहृदम् । तावन्योन्यं प्रपेदाते रहस्यैकनिधानताम् ॥४४॥
स्वसा च जयसिंहस्यान्निका नाम कुमारिका । बभूव भूगतेव स्वर्ललना रूपसम्पदा ॥४५॥
जयसिंहो ऽन्यदा जामिमन्निकामादिशन्निजाम् । समित्रो ऽप्यद्य भोक्ष्ये ऽहं दिव्यां रसवतीं कुरु ॥४६॥
इत्युक्त्वा जयसिंहेन देवदत्तो निमन्त्रितः । आगाच्च तद्गृहे भोक्तुं तौ द्वावपि निपेदतुः ॥४७॥
अष्टादश भक्ष्यभेदान्षड्रसास्वादसुन्दरान् । द्वयोरप्यन्निका सा तु सुवेषा पर्यवेषयत् ॥४८॥
तौ मरुता प्रीणयितुमपाकर्तुं च मक्षिकाः । धुन्वती व्यजनं चक्रे कमेकं द्व्यर्थकारि सा ॥४९॥

१-२ कुमयः C 2 ॥ ३. °तं C. 2 ॥ ४. °सोद° C 1 ॥

प्रक्वणद्बाहुवलयां व्यजनान्दोलनेन ताम् । पश्यन्निन्दुमुखीं देवदत्तः कामवशो ऽभवत् ॥५०॥
स वीक्षमाणस्तां बालां लावण्यजलदीर्घिकाम् । तद्रिरंसापरवशो भोज्यास्वादं विवेद न ॥५१॥
तस्य दृग्विदधे तस्यामापादतलमस्तकम् । आरोहमवरोहं च लतायामिव वानरी ॥५२॥
मा नेत्रमैत्रीप्रत्यूहो भूदस्यामिति बुद्धिमान् । स स्थिरो ऽपि स्थिरतरं बुभुजे गजलीलया ॥५३॥
देवदत्तो द्वितीये ऽह्नि जयसिंहस्य सन्निधौ । प्रेषयामास[१] वरकानन्निकायाचनाकृते ॥५४॥
ते गत्वा प्रोचुरन्यस्मै कस्मैचिदप्यमूं ननु । यदि दास्यसि तदस्मै देहि वेत्स्येष यादृशः ॥५५॥
स उवाच कुलीनो ऽयं कलाज्ञो ऽयं सुधीरयम् । युवा ऽयं किं बहूक्तेन सर्वे वरगुणा इह ॥५६॥
किं तु जामिं प्रदास्यामि तस्मै यो मद्गृहात् क्वचित् । न यास्यति स्थितं चात्र तं द्रक्ष्याम्यात्मनः समम् ॥५७॥
एष सम्भाव्यते यास्यन्नद्य श्वो वाऽपि सुन्दरः । किं नाश्रौषुर्विदेशस्थः प्रायेण हि गमिष्यति ॥५८॥
प्राणप्रियेयं भगिनी मम लक्ष्मीरिवौकसि । तदिमां न प्रहेष्यामि विवोढुरपि वेश्मनि ॥५९॥
अपत्यजन्मावधि भोः यद्येवं कर्तुमीश्वरः । तदुद्वहतु मे जामिं देवदत्तो ऽन्निकामिमाम् ॥६०॥
देवदत्तानुज्ञया ते ऽप्योमिति प्रतिपेदिरे । देवदत्तो ऽपि तां कन्यां परिणिन्ये शुभे ऽहनि ॥६१॥
तत्र तस्यान्निकाप्रेमतन्तुबद्धस्य तस्थुषः[२] । प्रैष्युदग्मथुरास्थाभ्यां पितृभ्यां लेख ईदृशः ॥६२॥

१ °क्ष्य° C 1-2-3 ॥ २. तिष्ठतः C. 2–3. M. ॥

आवां हि चक्षुर्विकलौ चतुरिन्द्रियतां गतौ। जराजर्जरसर्वाङ्गावासन्नयमशासनौ ॥६३॥
आयुष्मन्यदि जीवन्तौ कुलीनस्त्वं दिदृक्षसे। तदेह्युद्रापय दृशावावयो रुदतोः सतोः ॥६४॥ (युग्मम्)
सो ऽवाचयच्च तं लेखं स्नेहाम्भोधिनिशाकरम्। निरन्तरक्षरन्नेत्रनीरपात्रीचकार च ॥६५॥
अचिन्तयच्च धिग्धिग्मां पितरौ विस्मृतौ हि मे। अहं विषयमग्नो ऽस्मि पित्रोः पुनरियं दशा ॥६६॥
किं करोमि? कथं यामि? पत्नी नापत्यहृश्वरी। निजवाक्पाशबद्धस्य का गतिर्मे भविष्यति ॥६७॥
अग्निकाऽपि हि तन्नेत्रमार्जनेन स्वमंशुकम्। क्लेदयन्ती जगादैवं सद्यस्तद्दुःखदुःखिता ॥६८॥
केनैष प्रहितो लेखो धत्ते चान्द्रमसीं कलाम्। द्रावयन्वारि दुर्वारं त्वन्नेत्रशशिकान्तयोः ॥६९॥
दिवेन्दुनिभमालोक्य निष्कलापं मुखं तव। निश्चिनोम्यश्रुपूरो ऽयं दुःखजो न तु हर्षजः ॥७०॥
दुःखाऽऽख्यानप्रसादेन तत्सम्भावय मामपि। ममाप्यस्तु भवद्दुःखसंविभागधुरीणता ॥७१॥
नाऽदात्प्रत्युत्तरं किञ्चिद् दुःखभागग्निकापतिः। तस्थौ तु स्नपयन्नेव तं लेखं नयनोदकैः ॥७२॥
अग्निकाऽपि हि तं लेखमादायावाचयत्स्वयम्। तद्दुःखकारणं सद्यो विवेद च जगाद च ॥७३॥
सर्वथा मा कृथा दुःखमार्यपुत्राचिरादहम्। भ्रातरं बोधयिष्यामि कारयिष्ये त्वदीप्सितम् ॥७४॥
गत्वा चोचे भ्रातरं स्वं नितरां कुपितेव सा। इदं विवेकिन्हे भ्रातर्भवता किमनुष्ठितम्? ॥७५॥

स्वकुटुम्बवियोगेन क्लिश्यते तव *भावुकः । श्वश्रूश्वशुरपादानामहमुत्कण्ठिताऽस्मि च ॥७६॥
अनुमन्यस्व मे नाथं स्वस्थानगमनं प्रति । तमन्वेष्याम्यहमपि तस्यायत्ता यतो[1] ऽसवः ॥७७॥
स्थास्यत्येवैष वाग्बद्धः प्रणन्तुं श्वशुरौ त्वहम् । एकाकिन्यपि यास्यामि किं कार्यं तदनेन ते ॥७८॥
इति साग्रहमुक्तस्तु जयसिंहो मुहुर्मुहुः । प्रयातुमनुमेने च तमुदग्मथुरां प्रति ॥७९॥
नगर्या निर्ययौ तस्यास्ततश्च स वणिक्सुतः । तमन्वगादन्निकाऽपि यामिनीव निशाकरम् ॥८०॥
अन्निकाऽभूत्तदा गुर्वी नेदीयःप्रसवाऽपि च । इति मार्गे ऽपि साऽसूत सुतं लक्षणधारिणम् ॥८१॥
स्थविरौ पितरौ नामकृतिं सूनोः करिष्यतः । इति तौ दम्पती नैव चक्रतुः स्वमनीषया ॥८२॥
तयोरन्वङ्†परिजनस्तं बालं लालयन्मुदा । अन्निकापुत्र इत्येवोल्लापनेन जगौ पथि ॥८३॥
उतरामन्निकानाथो जगाम मथुरामथ । तौ ववन्दे च पितरौ ताभ्यां मूर्धन्यचुम्बि च ॥८४॥
देशान्तरोपार्जनेयं ममोपादीयतामिनि । ब्रुवाणः सो ऽर्भकं पित्रोरर्पयामास हृष्टयोः ॥८५॥
इयं वधूर्वः पुत्रो ऽयं ममैतत्कुक्षिसम्भवः । इत्याचख्यौच्च सम्बन्धं भक्तिबन्धुरया गिरा ॥८६॥
पितरौ चक्रतुस्तस्य शिशोः सन्धीरणाभिधाम् । अन्निकापुत्र इति तु लोकनाम्ना स पप्रथे ॥८७॥

---

* भगिनीपति ॥ † अनुगच्छन् ।

१. °तो नव *C*. 1 । °तो नका. *C* 2. । °तो भवं *C* 3 ॥

लाल्यमानः कुटुम्बेन वर्धमानोऽन्निकासुतः। चतुर्वर्गार्जनसुखं प्रपेदे मध्यमं वयः ॥८८॥
भोगानपास्य तृणवद्यौवनेऽपि स धीधनः। जयसिंहाचार्यपार्श्वे परिव्रज्यामुपाददे ॥८९॥
स खड्गधारातीक्ष्णेन व्रतेन व्रतिनां वरः। आत्मनो दारयामास दारुणान्कर्मकण्टकान् ॥९०॥
तपोऽग्निनाऽतिदीप्रेण दग्ध्वा कर्ममहामलम्। अग्निशौचांशुकमिव स आत्मानमशोधयत् ॥९१॥
स क्रमेण परिणतचरित्रज्ञानदर्शनः। आचार्यवर्यधुर्योऽभूत्स्वगच्छाम्भोजभास्करः ॥९२॥
स मुनिः सपरीवारो वृद्धत्वे विहरन्ययौ। नगरं पुष्पभद्राख्यं गङ्गातटविभूषणम् ॥९३॥
तत्राभूद् भूपतिः पुष्पकेतुस्तस्य तु वल्लभा। मीनकेतोरिव रतिः पुष्पवत्यभिधानतः ॥९४॥
पुष्पवत्या अभूतां च पुत्रः पुत्री च युग्मजौ। पुष्पचूलः पुष्पचूला चेति नाम तयोरभूत् ॥९५॥
सहैव वर्धमानौ तौ रममाणौ सहैव च। परस्परं प्रीतिमन्तावुभावपि बभूवतुः ॥९६॥
दध्यौ च राजा यद्येतौ दारकौ स्नेहलौ मिथः। वियुज्येते तदा नूनं मनागपि न जीवतः ॥९७॥
वियोगमनयोश्चाहमपि सोढुमनीश्वरः। मिथस्तदनयोरेव युक्तं वीवाहमङ्गलम् ॥९८॥
मित्राणि मन्त्रिणः पौरानथ पप्रच्छ भूपतिः। अन्तःपुरे यदुत्पन्नं रत्नं तस्य क ईश्वरः ? ॥९९॥
ते प्रोचुर्देशमध्येऽपि रत्नमुत्पद्यते हि यत्। तस्येश्वरो नरपतिः का कथाऽन्तःपुरे पुनः ॥१००॥
यद्यदुत्पद्यते रत्नं स्वदेशे तदिलापतिः। यथेच्छं विनियुञ्जीत को हि तस्यास्तु बाधकः ॥१०१॥

तेषां भावानभिज्ञानामालम्ब्य वचनं नृपः। सम्बन्धं घटयामास निजदारकयोस्तयोः ॥१०२॥
तस्य राज्ञी पुष्पवती श्राविकाऽभूत्तया नृपः। अवार्यत तथा कुर्वन्न तु तामप्यजीगणत् ॥१०३॥
ततश्च पुष्पचूलश्च पुष्पचूला च दम्पती। गृहिधर्मं सिषेवाते नितान्तमनुरागिणौ ॥१०४॥
क्रमेण पुष्पकेतौ तु कथाशेषत्वमीयुषि। पुष्पचूलो ऽभवद्राजा राजमानो ऽमलैर्गुणैः ॥१०५॥
तदकृत्यं वारयन्ती तदा पत्याऽपमानिता। राज्ञी पुष्पवती जातनिर्वेदा व्रतमाददे ॥१०६॥
सा विपद्य सुरो जज्ञे प्रव्रज्यायाः प्रभावतः। प्रव्रज्या चेन्न मोक्षाय तत्स्वर्गाय न संशयः ॥१०७॥
स देवो ऽवधिनाऽद्राक्षीत्तामकृत्यनियोजिताम्। निजां दुहितरं स्नेहादिति चाचिन्तयत्तराम् ॥१०८॥
मम प्राग्जन्मनि प्राणप्रियेयं दुहिताऽभवत्। तत्तथा करवै घोरे नरके न पतेद्यथा ॥१०९॥
इति तस्याः स्वप्नमध्ये नरकावासदारुणान्। च्छेदभेदादिदुःखार्त्तारटन्नारकिकाकुलान् ॥११०॥
पातकेनेव संरुद्धानन्धकारापदेशतः। दुर्दर्शान्दर्शयामास नरकान्स सुरो ऽखिलान् ॥१११॥ (युग्मम्)
वर्तिकेव श्येनमुक्ता मृगीव दवनिर्गता। सतीव परपुरुषकरस्पर्शपलायिता ॥११२॥
सुसाध्वीवाऽऽयातनपोऽनीचारविधुरीकृता। सा दृष्टनरका भीत्या प्रबुद्धाऽपि त्वकम्पत ॥११३॥ (युग्मम्)
बिभ्यती सा तु नरकं गतेव नरकक्षणात्। अखिलं कथयामास तं स्वप्नं पत्युरग्रतः ॥११४॥
क्षेमेच्छुः पुष्पचूलायाः पुष्पचूलनृपो ऽपि हि। निपुणं कारयामास शान्तिकं शान्तिकोविदैः ॥११५॥

स तु पुष्पवतीजीवदेवस्तद्बोधनकाम्यया । तादृशानेव नरकान्रात्रौ रात्रावदर्शयत् ॥११६॥
अथ पाषण्डिनः सर्वानाजुहाव महीपतिः । परिपप्रच्छ च ब्रूध्वं कीदृशा नरका ? इति ॥११७॥
गर्भवासो गुप्तिवासो दारिद्र्यं परतन्त्रता । एते हि नरकाः साक्षादित्याख्यंस्ते ऽल्पमेधसः ॥११८॥
सा दुर्गन्धमिवाघ्राय कुर्वती मुखमोटनम् । निजस्वप्नविसंवादिवचनांस्तान्व्यसर्जयत् ॥११९॥
आहूय चान्निकापुत्रं राजाऽपृच्छत्तदेव हि । नरकान्स तथैवाख्यद् दृष्टाः स्वप्ने यथा तया ॥१२०॥
राज्यप्युवाच भगवन्किं भवद्भिरपीदृशः । मयेव वीक्षितः स्वप्नो वित्थेत्थं कथमन्यथा ? ॥१२१॥
सूरिः प्रोवाच हे भद्रे ! विनापि स्वप्नदर्शनम् । संसारे नास्ति तद्यद्धि न ज्ञायेत जिनागमात् ॥१२२॥
पुष्पचूलाऽपि पप्रच्छ भगवन्केन कर्मणा । ईदृशान्नरकान्घोरानाप्नुवन्ति शरीरिणः ॥१२३॥
आख्याति स्मान्निकापुत्रो महारम्भपरिग्रहैः । गुरुप्रत्यनीकतया पञ्चेन्द्रियवधादपि ॥१२४॥
पिशिताहारतश्चापि पापं कृत्वा शरीरिणः । गच्छन्ति नरकेष्वेषु दुःखान्यनुभवन्ति च ॥१२५॥
ततश्च जननीजीवदेवस्तस्यास्तदादि तु । स्वप्ने नरकवत्स्वर्गान्प्राज्यसौख्यानदर्शयत् ॥१२६॥
प्रबुद्धा कथयामास सा पत्ये स्वर्गदर्शनम् । सो ऽथ पाषण्डिनो ऽपृच्छद् ब्रूथ किं स्वर्गलक्षणम् ? ॥१२७॥
तेष्वेके प्रोचिरे स्वर्गस्वरूपं प्रियसङ्गमः । अन्ये त्वाहुः स्म स स्वर्गो यद्यद्धि सुखकारणम् ॥१२८॥
एवं स्वर्गस्वरूपं च तदुक्तं पुष्पचूलिका । नामन्यत स्वप्नदृष्टस्वःस्वरूपा हि साऽभवत् ॥१२९॥

राज्ञा पृष्टो ऽन्निकासूनुः स्थितिमाख्यद्दिवौकसाम् । मनश्चिन्तितकार्याणि सिद्धान्येव भवन्ति च ॥१३०॥
सकल्पवृक्षाश्चारामा वापयः स्वर्णपङ्कजाः । देव्यश्चित्तानुवर्तिन्यो रूपवत्यः कलाविदः ॥१३१॥
यथाऽऽदिष्टविधातारस्त्रिदशाश्चाभियोगिकाः । इच्छया दिव्यसङ्गीतनाटकाभिनयोत्सवाः॥१३२॥
शाश्वतेषु विमानेषु रम्यरत्नगृहाणि च । सर्वशक्तिभृतो नित्यं परिवारे च नाकिनः ॥१३३॥

(चतुर्भिः कलापकम्)

आनुत्तरविमानं यद्यद्व्यन्तरपुरावधि । सुखं किमपि देवानां तत्कियत्कथ्यते गिरा ॥१३४॥
तच्छ्रुत्वा पुष्पचूलोचे यूयं वित्थ यदीदृशम्। स्वर्गा युष्माभिरपि किं स्वप्ने दद्दशिरे ऽखिलाः ? ॥१३५॥
मुनिर्जगाद कल्याणि ! जिनागमसुधापिबाः । स्वःसुखानि वयं विद्मो विद्मो ज्ञेयान्तराण्यपि ॥१३६॥
प्रमाणं वचनं जैनमिति निश्चित्य राज्यथ। ऋषिं पप्रच्छ भगवन्स्वर्गाप्तिः केन कर्मणा ? ॥१३७॥
सूरिरुचे ऽर्हति देवे गुरौ साधौ च निश्चयः । यस्य संसारिणस्तस्य स्वर्गाप्तिर्न दवीयसी ॥१३८॥
पुनश्चारित्रधर्मे च मुनिना कथिते सति । सा राज्ञी लघुकर्मत्वाद्भवोद्विग्नैवमभ्यधात् ॥१३९॥
भगवन्पतिमापृच्छ्य पादमूले तवैव हि । उपादास्ये परिव्रज्यां मानुष्यकतरोः फलम् ॥१४०॥
इत्युक्त्वा तमृषिं नत्वा पुष्पचूला विसृज्य च । आपप्रच्छे महीनाथं महीनाथो ऽप्यदोऽवदत् ॥१४१॥
तदा त्वामनुमन्ये ऽहं व्रतार्थं वरवर्णिनि ! । ममैवौकसि चेद्भिक्षामादत्से व्रतिनी सती ॥१४२॥

तथेति प्रतिपेदाना दानं कल्पलतेव सा । अर्थिभ्यो ददती राज्ञा कृतनिष्क्रमणोत्सवा ॥१४३॥
स्त्रीचूलामणितां प्राप्ता पुष्पचूला महाशया । अन्निकापुत्रपादान्ते गत्वा दीक्षामुपाददे ॥१४४॥ (युग्मम्)
गुर्वादेशाध्वपथिकी सा शिक्षामाददेऽखिलाम् । सामाचारीप्रधानं हि तपः शुद्धात्मनामपि ॥१४५॥
ज्ञात्वा भविष्यद्दुर्भिक्षमन्निकासूनुनाऽन्यदा । गच्छो देशान्तरे प्रैषि स देशो यत्र जीव्यते ॥१४६॥
द्वादशाब्दकमशिवं भावीति श्रुतसम्पदा । ज्ञात्वा गुरूपदेशाच्च गच्छोऽगच्छदथान्यतः ॥१४७॥
जङ्घाबलपरिक्षीणास्तत्रैवास्थुस्तु सूरयः । विनाऽपि हि परीवारमूरीकृतपरीषहाः ॥१४८॥
आनीयान्तःपुराद्भक्तपानादि प्रतिवासरम् । गुरवे पुष्पचूलाऽदात्पित्रे पुत्रीव भक्तिभाक् ॥१४९॥
अनन्यमनसस्तस्या गुरूणां पर्युपासनात् । भावयन्त्याश्च संसारासारतामेव सर्वदा ॥१५०॥
अन्येद्युः पुष्पचूलाया अपूर्वकरणक्रमात् । केवलज्ञानमुत्पेदे निदानं मुक्तिसम्पदः ॥१५१॥ (युग्मम्)
पुष्पचूला तु सञ्जातकेवलाऽपि विशेषतः । वैयावृत्यं गुरोश्चक्रे प्रोक्तो ह्यर्थोऽयमागमे ॥१५२॥
पुरा ह्यभूत्प्रयुञ्जानः कृत्यं यो यस्य तस्य सः । केवल्यपि च कुर्वीत स यावद्वेत्ति तं न हि ॥१५३॥
पुष्पचूला तु विज्ञाय केवलज्ञानसम्पदा । सर्वं सम्पादयाञ्चक्रे सूरिर्यद्यदचिन्तयत् ॥१५४॥
सूरिः पप्रच्छ तां साध्वीं वत्से ! वेत्सि कथं ननु । ममाभिप्रायमेवं यत्सम्पादयसि चिन्तितम् ? ॥१५५॥
उवाच पुष्पचूलाऽपि प्रकृतिं वेद्मि वः खलु । यो यस्य नित्यमासन्नः प्रकृतिज्ञो हि तस्य सः ॥१५६॥

साऽर्यिका पिण्डमानिन्ये ऽन्यदा वर्षति वारिदे । सूरिरूचे श्रुतज्ञाऽसि वृष्टयां किमिदमर्हति ? ॥१५७॥
साऽब्रवीद्यत्र मार्गे ऽभूदप्कायो ऽचित्त एव हि । तेनैवायासिषमहं प्रायश्चित्तागमोऽत्र न ॥१५८॥
अचित्ताप्कायमध्वानं कथं वेत्सीति सूरिणा । उदिते पुष्पचूलाऽऽख्यदुत्पन्नं मे ऽस्ति केवलम् ॥१५९॥
मिथ्या मे दुष्कृतं केवल्याशातित इति ब्रुवन् । इत्यचिन्तयदाचार्यः सेत्स्यामि किमहं न वा ? ॥१६०॥
केवल्यूचे मा कृषीढ्वमधृतिं मुनिपुङ्गवाः ! । गङ्गामुत्तरतां वो ऽपि भविष्यत्येव केवलम् ॥१६१॥
ततो गङ्गामुत्तरीतुं लोकेन सह सूरयः । तदैवारुरुहुर्नावं को हि स्वार्थमुपेक्षते ? ॥१६२॥
निषसाद स आचार्यो यत्र यत्रापि नौतटे । तत्र तत्र तटे सद्यः सा नौर्मङ्क्तुं प्रचक्रमे ॥१६३॥
नौमध्यदेशासीने च तस्मिन्नाचार्यपुङ्गवे । समन्तान्मङ्क्तुमारेभे सा नौरय इवाम्भसि ॥१६४॥
ततो नौस्थितलोकेन सूरिः सोऽक्षेपि वारिणि । शूले न्यधात्प्रवचनप्रत्यनीकामरी च तम् ॥१६५॥
शूलप्रोतो ऽपि गङ्गान्तः सूरिरेवमचिन्तयत् । अहो वपुर्ममानेकप्राण्युपद्रवकारणम् ॥१६६॥
अप्कायादिदयासारं स सूरिर्भावयन्भृशम् । क्षपकश्रेणिमारूढो ऽन्तकृत्केवल्यजायत ॥१६७॥
तुरीयशुक्लध्यानस्थः सद्यो निर्वाणमाप सः । निर्वाणमहिमानं च तस्यासन्नाः सुरा व्यधुः ॥१६८॥
निर्वाणमहिमा तत्र देवैर्निर्मित इत्यभूत् । 'प्रयाग' इति तत्तीर्थं प्रथितं त्रिजगत्यपि ॥१६९॥

करोटिरन्निकासूनोर्यादोभिर्मकरादिभिः । त्रोट्यमाना नदीतीरमनीयत जलोर्मिभिः ॥१७०॥
इतस्ततो लुलन्ती च शुक्तिकेव नदीतटे । प्रदेशे गुप्तविषमे तस्थौ क्वापि विलग्य सा ॥१७१॥
करोटिकर्पर स्यान्तस्तस्यान्यस्मिंश्च वासरे । न्यपतत्पाटलाबीजं दैवयोगेन केनचित् ॥१७२॥
करोटिकर्परंभिन्दंसनदीयाद्दक्षिणाद्धनोः । उद्गतः पाटलिनरुर्विशालोऽयमभूत्क्रमात् ॥१७३॥
पाटलाद्रुः पवित्रो ऽयं महामुनिकरोटिभूः । एकावतारोऽस्य मूलजीवश्चेति विशेषतः ॥१७४॥

तदत्र पाटलितरोः प्रभावमवलम्ब्य च । दृष्ट्वा चाषनिमित्तं च नगरं सन्निवेश्यताम् ॥१७५॥
एको नैमित्तिकश्चोचे सर्वनैमित्तिकाज्ञया । दातव्यमाशिवाशब्दं सूत्रं पुरनिवेशने ॥१७६॥
प्रमाणं यूयमित्युक्त्वा तान्निमित्तविदो नृपः । अथिनगरनिवेशं सूत्रपातार्थमादिशत् ॥१७७॥
पाटलीं पूर्वतः कृत्वा पश्चिमां नत उत्तराम् । ततो ऽपि च पुनः पूर्वां ततश्चापि हि दक्षिणाम् ॥१७८॥
शिवाशब्दावधिं गत्वा ते ऽथ सूत्रमपातयन् । चतुरस्रः सन्निवेशः पुरस्यैवमभूत्तदा ॥१७९॥ (युग्मम्)
तत्राङ्किते भूप्रदेशे नृपः पुरमकारयत् । तदभूत्पाटलीनाम्ना पाटलीपुत्रनामकम् ॥१८०॥
पुरस्य तस्य मध्ये तु जिनायतनमुत्तमम् । नृपतिः कारयामास शाश्वतायतनोपमम् ॥१८१॥
गजाश्वशालाबहुलं नृपप्रासादसुन्दरम् । विशालशालमुद्दामगोपुरं सौधबन्धुरम् ॥१८२॥

---

१ °रो मूलेऽस्य जी° C 1

पण्यशालासत्रशालापौषधागारभूषितम् । भूभुजा तदलश्चक्रे शुभे ऽह्न्युत्सवपूर्वकम् ॥१८३॥ (युग्मम्)
राजा तत्राकरोद्राज्यमुदाय्युदयभाक् श्रिया । स्वं विक्रममिवाखण्डं तन्वानो धर्ममार्हतम् ॥१८४॥
अर्हन्देवो गुरुः साधुर्धर्मश्चार्हत इत्यभूत् । देवतत्त्वं गुरुतत्त्वं धर्मतत्त्वं [1] तद्धृदि ॥१८५॥
चतुष्पर्व्यां चतुर्थादितपसा स्वं विशोधयन् । पौषधं पौषधागारे स जग्राह महामनाः ॥१८६॥
स धर्माबाधया क्षात्रमपि तेजः प्रभावयन् । आत्मनः सेवकांश्चक्रे तुर्योपायेन भूपतीन् ॥१८७॥
राजानो ऽत्यन्तमाक्रान्तास्ते तु सर्वे ऽप्यचिन्तयन् । यावज्जीवत्युदाय्येष तावद्राज्यसुखं न नः ॥१८८॥

इतश्च राज्ञ एकस्यागसि कस्मिंश्चिदागते । आच्छेद्युदायिना राज्यं प्राज्यविक्रमवज्रिणा ॥१८९॥
आच्छिन्नराज्यो राजा स नश्यन्नेव व्यपद्यत । तत्सूनुरेकस्तु परिभ्रमन्नुज्जयिनीं ययौ ॥१९०॥
राज्यभ्रष्टकुमारस्तु सो ऽवन्तीशमसेवत । अभूदसहनो नित्यमवन्तीशो ऽप्युदायिनः ॥१९१॥
स सेवको राजपुत्रस्तं राजानं व्यजिज्ञपत् । उदायिनमहं देव ! साधयामि त्वदाज्ञया ॥१९२॥
त्वया तु [2]मे द्वितीयेन भाव्यमव्यभिचारिणा । को हि प्राणांस्तृणीकृत्य साहसं कुरुते मुधा ॥१९३॥
तथेति प्रतिपेदाने ऽवन्तिनाथे स राजसूः । जगाम पाटलीपुत्रं सेवको ऽभूदुदायिनः ॥१९४॥
उदायिनृपतेर्नित्यं छिद्रमालोकयन्नपि । व्यन्तरो मान्त्रिकस्येव दुरात्मा नाससाद सः ॥१९५॥

---

१ °ष्ट° C 1 ॥ २ मद्द्वि C. 1 ॥

उदायिनस्तु परमार्हतस्यौकसि सर्वदा । अस्खलद्गमनाज्जैनमुनीनेव ददर्श सः ॥१९६॥
उदायिनो राजकुले प्रवेशार्थी ततश्च सः । उपाददे परिव्रज्यां सूरेरेकस्य सन्निधौ ॥१९७॥
मायायाऽप्यनतीचारं स व्रतं पालयन्मुनीन् । तथा ह्याराधयत्ते हि यथा तन्मयतां ययुः ॥१९८॥
दम्भप्रधानं श्रामण्यं न तस्याऽलक्षि केनचित् । सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य ब्रह्माऽप्यन्तं न गच्छति ॥१९९॥
उदायी त्वाददे ऽष्टम्यां चतुर्दश्यां च पौषधम् । अवान्सु सूरयो धर्मकथार्थं च तदन्तिके ॥२००॥
अन्यदा पौषधदिने विकाले ते तु सूरयः । प्रति राजकुलं चेलुर्मायावी यैः स दीक्षितः ॥२०१॥
गृह्यतामुपकरणं यामो राजकुलं वयम् । भोः क्षुल्लकेत्यभिदधुः ससंरम्भं च सूरयः ॥२०२॥
स एव मायाश्रमणः कुर्वाणो भक्तिनाटितम् । उपादायोपकरणान्यग्रे ऽभूच्छललिप्सया ॥२०३॥
चिरसङ्गोपितां कङ्कमयीमादाय कर्त्रिकाम् । प्रच्छन्नां धारयामास स जिघांसुरुदायिनम् ॥२०४॥
चिरप्रव्रजितस्यास्य शमः परिणतो भवेत् । इति तेनैव सहितः सूरी राजकुलं ययौ ॥२०५॥
धर्ममाख्याय सुषुपुः सूरयः पार्थिवो ऽपि हि । स्वाध्यायखिन्नः सुष्वाप प्रतिलिख्य महीतलम् ॥२०६॥
दुरात्मा जाग्रदेवास्थात्स मायाश्रमणः पुनः । निद्राऽपि नैति भीतेव रौद्रध्यानवतां नृणाम् ॥२०७॥
स मायाश्रमणो राज्ञः सुप्तस्य गलकन्दले । तां कर्त्रिकां लोहमयीं यमजिह्वोपमां न्यधात् ॥२०८॥
कण्ठो राज्ञस्तयाऽकर्ति कदलीकाण्डकोमलः । निर्ययौ च ततो रक्तं घटकण्ठादिवोदकम् ॥२०९॥

कायचिन्तामिषेणाथ स पापिष्ठस्तदैव हि । निर्जगाम यतिरिति यामिकैरप्यजल्पितः ॥२१०॥
राज्ञस्तेनासृजा सिक्ताः प्रबुद्धाः सूरयो ऽपि हि । मूर्धानं ददृशुः कृत्तं निर्नालकमलोपमम् ॥२११॥
सूरिस्तं व्रतिनं तत्रापश्यन्निदमचिन्तयत् । नूनं तस्यैव कर्मैतद् व्रतिनो यो न दृश्यते ॥२१२॥
किमकृत्यमकार्षी रे धर्माधारो महीपतिः । यद्वधनाश्यथ मालिन्यं कृतं प्रवचनस्य च ॥२१३॥
मयेदृग्दीक्षितो दुष्टो ऽत्रानीतश्च सहात्मना । तन्मत्कृतं प्रवचनमालिन्यमिदमागतम् ॥२१४॥
तदहर्दर्शनम्लानिं रक्षाम्यात्मव्ययादहम् । राजा गुरुश्च केनापि हताविल्यस्तु लोकगीः ॥२१५॥
ततश्च भवचरमप्रत्याख्यानं विधाय सः । तां कङ्ककर्त्रिकां कण्ठे दत्वा सूरिर्व्यपद्यत ॥२१६॥
प्रातरन्तःपुरशय्यापालकास्तत्र चागताः । पूचक्रुर्वक्ष आघ्नन्तो निरीक्ष्य तदमङ्गलम् ॥२१७॥
तत्कालं मिलितो राजलोकः सर्वो ऽप्यचिन्तयत् । राजा गुरुश्च निहतौ क्षुल्लकेन न संशयः ॥२१८॥
हन्तान्यो यदि तत्क्षुल्लः प्रथमं व्याहरेत्खलु । स महासाहसं कृत्वाऽत एवागाददर्शनम् ॥२१९॥
वैरी वा वैरिपुत्रो वा वैरिणा प्रहितो ऽथवा । को ऽपि मायाव्रतीभूय विश्वस्तमवधीन्नृपम् ॥२२०॥
राज्ञश्च पितृवत्सूरिः सूरे राजाऽपि पुत्रवत् । नूनं स सूरिणा धर्तुं निषेद्धुं वा प्रचक्रमे ॥२२१॥
तपःक्षामतनुः सूरिरपि तेन दुरात्मना । तथा कुर्वन्भुव्यपाति न्यपाति च नरेन्द्रवत् ॥२२२॥ (युग्मम्)
विनयच्छद्मना सूरिरपि तेन ह्यवञ्चि सः । ततस्तस्मै ददौ दीक्षां धूर्तैः को न हि वञ्च्यते ॥२२३॥

नष्टं निशायां तं प्रातः प्रापुर्नृपभटा न हि । क्रमेणापि हि यस्त्यक्तस्त्यक्तः क्रमशतेन सः ॥२२४॥
ततः शरीरसंस्कारं राज्ञः सूरेश्च चक्रिरे । प्रधानपुरुषास्तारं विलपन्त उदश्रवः ॥२२५॥
उदायिमारकः पापः सोऽगादुज्जयिनीं पुरीम् । आख्यच्चोज्जयिनीभर्तुर्यथोदायिवधः कृतः ॥२२६॥
अवन्तीशोऽवदत्पाप ! यः कालेनेयताऽपि हि। परिव्रज्यां गृहीत्वाऽपि स्थित्वाऽपि मुनिसन्निधौ ॥२२७॥
अहर्निशं च धर्मोपदेशान् श्रुत्वाऽपि दुष्टधीः । अकार्षीरीदृशं कर्म स त्वं मे स्याः कथं हितः ? (युग्मम्)
अद्रष्टव्यमुखोऽसि त्वं पापापसर सत्वरम् । इति निर्भर्त्स्य तं राजा नगरान्निरवासयत् ॥२२९॥
तत्प्रभृत्येव मेदिन्यामभव्यानां शिरोमणिः । अभिधानेन स ख्यात उदायिनृपमारकः ॥२३०॥

इतश्च तत्रैव पुरे दिवाकीर्तेरभूत्सुतः । एकस्य गणिकाकुक्षिजन्मा नन्दोऽभिधानतः ॥२३१॥
स नापितकुमारस्तु प्रभातसमये तदा । स्वैरन्त्रैः पाटलीपुत्रं ददर्श परिवेष्टितम् ॥२३२॥
उपाध्यायाय तं स्वप्नं नन्द आख्यत्प्रबोधभाक् । उपाध्यायोऽपि तद्वेदी तं च निन्ये स्ववेश्मनि ॥२३३॥
स प्रीतिभागलञ्चक्रे नन्दमाभरणादिभिः । निजां दुहितरं तेन परिणाययति स्म च ॥२३४॥
नवं जामातरं नन्दं याप्ययानेऽधिरोप्य तम् । पुरे परिभ्रमयितुमुपाध्यायः प्रचक्रमे ॥२३५॥
उदाय्यपुत्रगोत्री हि परलोकमगादिति । तत्रान्तरे पञ्चदिव्यान्यभिषिक्तानि मन्त्रिभिः ॥२३६॥
पट्टहस्ती प्रधानाश्वश्छत्रं कुम्भोऽथ चामरे । पञ्चाप्यमूनि दिव्यानि भ्रेमू राजकुलेऽखिले ॥२३७॥

ततश्च तानि दिव्यानि वही राजकुलाग्रयुः । स नन्दो याप्ययानस्थो नवोढो ददृशे च तैः ॥२३८॥
पट्टहस्ती शारदाब्दशब्दसोदरगर्जितः । सद्यो नन्दं पूर्णकुम्भेनाभ्यषिञ्चदुदत्करः ॥२३९॥
तमुत्पाट्य निजस्कन्धे सिन्धुरः सो ऽध्यरोपयत् । हयो ऽहेषत हर्षाच्च प्रस्तुवन्निव मङ्गलम् ॥२४०॥
*व्याकासीदातपत्रं च पुण्डरीकमिवोषसि । स्फायमानौ चालुठतां नृत्यन्ताविव चामरौ ॥२४१॥
ततः प्रधानपुरुषैः पौरैर्जनपदेन च । चक्रे नन्दस्य सानन्दमभिषेकमहोत्सवः ॥२४२॥
अनन्तरं वर्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात् । गतायां षष्टिवत्सर्यामेष नन्दो ऽभवन्नृपः ॥२४३॥

ततश्च केचित्सामन्ता मदेनान्धम्भविष्णवः । नन्दस्य न नतिं चक्रुरसौ नापितसूरिति ॥२४४॥
नन्दो ऽपि तेषां सद्भावपरीक्षार्थमलक्ष्यधीः । आस्थान्या निर्ययौ द्वारि शालाया इव वारणः ॥२४५॥
माता धात्री बालभृद्वा यात्येव शिशुनाऽपि हि । नन्देन तु समं को ऽपि नागात्तस्थुस्तथैव ते ॥२४६॥
आगत्य पुनरास्थान्यां सिंहासने निषद्य च । नन्दो जगाद स्वारक्षान्निहन्यन्ताममी इति ॥२४७॥
आरक्षा अपि ते चक्षुःप्रेक्षणं चक्रिरे मिथः । स्मितं च नाटयामासुर्भूतात्तप्रेक्षणादिव ॥२४८॥
आरक्षानपि विज्ञाय नन्दस्तत्सामवायिकान् । द्राग्ददर्श सदोद्वारद्वाःस्थौ लेप्यमयावपि ॥२४९॥
नन्दपुण्याकृष्टदेव्या तौ कयाचिदधिष्ठितौ । प्रतीहारौ लेप्यमयावाकृष्टासी दधावतुः ॥२५०॥

* सम्बन्धितः ।

ते दुर्विनीताः सामन्तास्ताभ्यां के ऽपि निजघ्निरे । के ऽप्यनाश्यन्त नन्दो ऽभूदखण्डाज्ञस्ततः परम् ॥२५१॥

नन्दो राजा राजमानो महर्द्ध्या भूसुत्रामा सूत्रिताज्ञो बभूव ।
प्रायः पुण्यं विक्रमश्च प्रमाणं क्लीबं जन्म श्लाघनीयेऽपि वंशे ॥२५२॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते महाकाव्ये यशोभद्रदेवीभाव–भद्रबाहुशिष्यचतुष्टयवृत्तान्त–अन्निकापुत्रकथा–पाटलीपुत्रप्रवेश–उदायिमारककथा–नन्दराज्यलाभकीर्तनो–नाम षष्ठः सर्गः ॥



सप्तमः सर्गः



इतश्च तत्रैव पुरे सनाथे नन्दभूभुजा । ब्राह्मणः कपिलो नामाध्युवासैको बहिर्भुवि ॥१॥
एकदा तद्गृहोद्देशे परिवारसमन्वितः । आचार्यः कश्चिदप्यागात्संसारकरिकेशरी ॥२॥
तदाऽखिलनभःक्रान्तिखेदादिव दिवाकरः । जगाम पश्चिमाम्भोधिलहरीजलहस्तिताम् ॥३॥
प्रत्यग्रदाडिमीपुष्पवर्णवैभवहारिभिः । पश्चिमाऽलक्षि सन्ध्याभ्रैः कौसुम्भांशुकभागिव ॥४॥
गृहाट्टदीपमालाभिर्भासुराभिः पदे पदे । व्योम्नः स्पर्धानुबन्धेन सनक्षत्रेव भूरभूत् ॥५॥
आलोकजनकं विष्वक्खगाः कोलाहलच्छलात् । द्रक्ष्यसे क्व नु भूयो ऽपीत्यर्थमाणमिवोचिरे ॥६॥
मन्ये ऽस्तं गच्छताऽर्केण वह्नौ न्यासीकृता रुचः । तस्मिन्काले कथमभूदन्यथा सो ऽतिभासुरः ॥७॥
नीरन्ध्रेणान्धकारेणाञ्जनसब्रह्मचारिणा । तदाऽभूद्रोदसीरन्ध्रं पातालविवरोपमम् ॥८॥
नगरे दुर्लभो रात्रौ प्रवेश इति सूरयः । स्वैः पादैः पुपुवुस्तस्य ब्राह्मणस्य गृहाङ्गणम् ॥९॥

ब्राह्मणं तमनुज्ञाप्याचार्यास्ते तां विभावरीम् । तदग्निहोत्रशालायामवात्सुर्विश्ववत्सलाः ॥१०॥
जानन्ति किञ्चिदप्येते न वेति प्रत्यनीकधीः । जगामाचार्यवर्यस्य समीपे कपिलो निशि ॥११॥
हृदयान्तःसमुल्लासिश्रुताब्धिलहरीनिभैः । वचोभिर्विदधे सूरिस्तस्याग्रे धर्मदेशनाम् ॥१२॥
तस्यामेव हि नामस्यां धर्मदेशनया तया । श्रावकः कपिलो जज्ञे आचार्या ययुरन्यतः ॥१३॥

अन्यदा केचिदाचार्याः प्रावृट्काले तदोकसि । तस्थुस्तेनार्हतीभूतेनानुज्ञाता द्विजन्मना ॥१४॥
अन्येद्युः सूनुरुत्पेदे पिलस्य द्विजन्मनः । स पुनर्जातमात्रोऽथ *रेवतीभिरगृह्यत ॥१५॥
मुनिभिः †कल्प्यमानानां भाजनानामधश्च सः । बालो द्विजन्मना तेन दध्रे श्रद्धानशालिना ॥१६॥
तेषां महाप्रभावानामृषीणां पात्रवारिणा । अभिषिक्तं शिशुं क्रूरव्यन्तर्यो मुमुचुर्द्रुतम् ॥१७॥
मुनिभाजनकल्पाम्भोभिषिक्तस्यारुजः शिशोः । चक्रे कल्पक इत्याख्यां कपिलः श्रावकस्तदा ॥१८॥
तदादि व्यन्तरीदोषस्तद्गृहे न कदाऽप्यभूत् । ततश्च पुत्रसन्तानसमृद्धः कपिलोऽभवत् ॥१९॥
कल्पकः क्रमयोगेन विपन्नपितृकः पुरे । समस्तविद्यास्थानज्ञ एकोऽभूत्कीर्तिभाजनम् ॥२०॥
स गर्भश्रावकत्वेन सदा सन्तोषधारकः । न परिग्रहभूयस्त्वे मनोरथमपि व्यधात् ॥२१॥

१ °स्यारे° C । ॥

* व्यन्तरीभिः । † प्रक्षाल्यमानाना ।

कुलीना अपि लावण्यवती रूपवतीरपि। दीयमाना अपि प्राथ्यं नोपयेमे स कन्यकाः ॥२२॥
पुरे परिभ्रमन्नित्यं कल्पको बटुभिर्वृतः। पौराणां पूजनीयो ऽभूद् विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥२३॥

इतश्च कापिलेस्तस्य गमनागमनाध्वनि। पर्यवात्सीद् द्विजन्मैकस्तस्य चैकाऽभवत् सुता ॥२४॥
तामत्यन्तं रूपवतीमप्युपायंस्त को ऽपि न। जलोदरेण तस्या हि रूपलक्ष्मीरदूष्यत ॥२५॥
पयोभृतदृतिप्रायं तस्यास्तुन्दमजायत। कन्यापि साभूद् गुर्वीवाक्षमा चङ्क्रमणे ऽपि हि ॥२६॥
सा कन्यकाऽपि वल्लीव समये पुष्पवत्यभूत्। विषण्णा तत्तु तन्माता कथयामास तत्पितुः ॥२७॥
ब्राह्मणो ब्राह्मणीमूचे प्रिये! दोषो ऽयमावयोः। नोद्वाहितेयं यत्कन्या कन्याप्येषा ह्यभूदवीः† ॥२८॥
अस्याः पत्युरभूतत्वात्पुष्पे मोघत्वमागते। उपस्थितं ब्रह्महत्यापापं तदिदमावयोः ॥२९॥
किं कुर्मः को ऽपि वृणुते न जलोदरिणीमिमाम्। तद्वाक्छले पतिताय देया कस्मैचिदप्यसौ ॥३०॥
वाकच्छलेनापि न ग्राह्यः को ऽपि ना कल्पकं विना। सत्यसन्धः स एवैकस्तदर्थं प्रयतामहे ॥३१॥
तेनाथ कूपिकाऽखानि स्वगृहाग्रे द्विजन्मना। कल्पकागमवेलायां सा कन्याऽक्षेपि तत्र च ॥३२॥
आयान्तं कल्पकं दृष्ट्वा पूच्चकार च स द्विजः। य आकर्षति मे पुत्रीं तस्मायेव ददाम्यहम् ॥३३॥
कल्पको ऽपि हि तत्कालं दयोल्लिखितमानसः। तामाचकर्षाश्रुत्वैव वाचं तत्पितुरुत्तराम् ॥३४॥

† ऋतुमती।

तत्पितोवाच मत्कन्यामिमामुद्वह कल्पक ! । कूपिकाकर्षकार्योच्चैर्मयैषा कल्पिता यतः ॥३५॥
एतस्याः सम्प्रदानं च श्रुत्वा संसोढवानसि । अनिषिद्धं ह्यनुमतमिति न्यायो ऽपि वर्तते ॥३६॥
स्त्रष्टेव विद्यास्थानानां त्वमेव न्यायवित्तमः । सत्यसन्धो ऽसि भ्रातस्त्वं तत्कुरुष्व यदर्हति ॥३७॥
च्छलितो बुद्धिशक्त्याऽहं किं करोमीति कल्पकः । नितम्बिनीनिरीहो ऽपि तामुद्वोढुममन्यत ॥३८॥
कलाकलापजलधिकुम्भजन्माऽथ कल्पकः । आयुर्वेदोदितौषध्योल्लाघीकृत्योदवाह ताम् ॥३९॥

कल्पकं पण्डितं बुद्धिमन्तं श्रुत्वाऽथ नन्दराड् । आहूय प्रार्थयाञ्चक्रे ममामात्यत्वमाश्रय ॥४०॥
जजल्प कल्पको राजन्ग्रासाच्छादनमात्रकम् । विहाय नान्यमधिकं वाञ्छाम्यपि परिग्रहम् ॥४१॥
धार्मिकाणां सशङ्कानां न हि निर्वहति क्वचित् । राजन्नमात्यव्यापारः पर्याप्तं तदनेन मे ॥४२॥
इत्युक्त्वा राज्ञ आज्ञां तामवज्ञायैव कल्पकः । जगाम चक्रे च नृपस्तच्छिद्रान्वेषणोद्यमम् ॥४३॥
न नन्दः प्राप तच्छिद्रं नित्यमन्वेषयन्नपि । महात्मनां निरीहाणां तद्धि प्रायेण दुर्लभम् ॥४४॥
अन्यदा कल्पकगृहद्वाररथ्यानिवासिनम् । राजा रजकमात्मीयं पप्रच्छाऽऽहूय श्रीनिधिः ॥४५॥
ब्राह्मणः कल्पको नाम यस्तव प्रातिवेश्मिकः । वसनानि तदीयानि त्वं क्षालयसि किं न वा ? ॥४६॥
क्षालयामीति रजकेनोक्ते प्रोवाच तं नृपः । तदानीं तानि वस्त्राणि धर्तव्यान्यर्पय स्म मा ॥४७॥
प्रमाणमादेश इति विज्ञप्य रजको ययौ । इतश्च समयः कौमुद्युत्सवस्य समाययौ ॥४८॥

कल्पकं च गृहिण्यूचे वस्त्ररत्नान्यमूनि मे । [1]राजनिर्णेजकेनाद्य निर्णेजय मनोरम ! ॥४९॥
यथाऽतिशयचोक्षाणि सच्छायान्यंशुकान्यहम् । धूपयित्वा परिदधे कौमुदीपर्ववासरे ॥५०॥
कल्पको ऽचिन्तयच्चैवमासन्ने पर्ववासरे । अन्यस्य भाटिलोभेन रजको राजवर्चसी[2] ॥५१॥
अर्पयेद्धरवस्त्राणि नार्पयिष्यति मे पुनः । ससंक्लेशं परिभवं तन्न क्रेष्ये स्वपाणिना ॥५२॥ (युग्मम्)
विवेकलोचनेनैवं प्रेक्ष्य प्रेक्षावतां वरः । उपैक्षिष्ट वचः पत्न्याः स्त्रीमुखाः कृतिनो न हि ॥५३॥
अत्याग्रहगृहीतस्तु तस्या वासांसि कल्पकः । रजकस्यार्पयत्तस्य स्त्रीग्रहो बलवान्खलु ॥५४॥
समागते पर्वदिने कल्पकस्योपतस्थुषः । वासांसि नार्पयत्तस्य रजको राजशासनात् ॥५५॥
अद्य याहि प्रातरेहीत्येवं प्रातारयन्मुहुः । रजकः कल्पकं राजनियोगादभयो हि सः ॥५६॥
प्रयोजनेन तेनैव कल्पको रजकस्य तु । गृहे ययावुत्तमर्णस्याधमर्ण इवान्वहम् ॥५७॥
एवं जग्मतुरब्दे द्वे तस्य वस्त्राणि मार्गतः । भवेदभिभवायैव क्षमा ह्यत्यन्तदार्शिता ॥५८॥
ततो वर्षे तृतीये तु प्रवृत्ते कल्पको ऽवदत् । अरे सुन्दरचौरस्त्वं मद्वस्त्राण्यसि जीर्णवान् ॥५९॥
रञ्जयित्वा त्वदसृजा स्वानि वस्त्राण्यहं यदि । न हि गृह्णामि तन्नास्मि कल्पको रजकाधम ! ॥६०॥
कल्पको रजकागारं निशायां गन्तुमन्यदा । एकाकी निर्ययौ विद्यासाधनायेव साहसी ॥६१॥

[1] राजरजकेन । [2] राजतेजस्वी ।

चण्डिकाभृगुवेतालाद्यशेषमतपण्डितः । गुप्तां स दध्रे क्षुरिकामन्तकस्येव देवताम् ॥६२॥
फालोद्यत इव द्वीपी भृकुटीविकटाननः । कल्पको ऽनल्पकोपो ऽथ गत्वा रजकमभ्यधात् ॥६३॥
रे सेवक इवाभ्यागां द्वे वर्षे तव वेश्मनि । वस्त्राण्यर्पयसीदानीमथवा नेति कथ्यताम् ॥६४॥
तं ब्रह्मराक्षसमिव क्षुधितं प्रेक्ष्य धावकः । क्षुभितो गृहिणीमूचे वासांस्यस्य समर्पय ॥६५॥
रजक्यपि तथा चक्रे व्यक्तीकृत्याथ कल्पकः । प्राक् छुरीं नर्तयामास लाङ्गूलमिव केसरी ॥६६॥
चटचटेति कुर्वाणं रजकस्याथ कल्पकः । उदरं दीर्णवान्छुर्या कुशिकेनेव भूतलम् ॥६७॥
असृजा निर्यता तुन्दान्निर्झरादिव वारिणा । वासांसि रञ्जयामास कल्पकः सत्यसङ्गरः ॥६८॥
आक्रन्दन्ती रजक्यूचे निहंसि किमनागसम् । राजाज्ञयैष वस्त्राणि गृहे चिरमधारयत् ॥६९॥
तदाकर्ण्य तु सम्भ्रान्तः कल्पकः समकल्पयत् । अहो राज्ञः प्रपञ्चो ऽयं यद्वचो न कृतं मया ॥७०॥
तदद्य रजकवधापराधान्नृपपूरुषैः । नीये न यावत्तावद्धि स्वयं यामि नृपान्तिकम् ॥७१॥
कल्पकश्चिन्तयित्वैवमुपनन्दं स्वयं ययौ । नन्दो ऽपि सद्यः सानन्दस्तं चक्रे गौरवास्पदम् ॥७२॥
साकाङ्क्षं कल्पकं ज्ञात्वा नन्दो ऽपीङ्गितवित्तमः । बभाषे भृशमभ्यर्थ्यादत्स्वामात्यपदं मम ॥७३॥
स्वापराधप्रतीकारं चिकीर्षुरथ कल्पकः । प्रतिपेदे नृपवचः स सुधीर्यो हि कालविद् ॥७४॥
नन्दो ऽपि कृतकृत्यं स्वं मन्यमानः प्रमोदभाक् । कल्पकं वार्तयामास स्वमनोबर्हिणाम्बुदम् ॥७५॥

शल्यभूतान्हृदयस्य नन्दो ऽपि स्वार्थसंशयान् । कल्पकं पृच्छति स्मेष्टं विद्यागुरुमिवागतम् ॥७६॥
नृपतिं प्रीणयामास कल्पको ऽपि ह्यनल्पधीः । वाक्यैस्तत्कृतसन्देहलोष्टपेषणमुद्गरैः ॥७७॥
अन्यायं रजकश्रेणी तदा पूत्कर्तुमागता । ददर्श कल्पकं राज्ञा प्रदत्तगुरुगौरवम् ॥७८॥
तथास्थं कल्पकं दृष्ट्वा निवृत्य रजका ययुः । राजमान्यत्वमेवैकमनर्थस्य प्रतिक्रिया ॥७९॥
तदैवाग्रेतनामात्यमपसार्य महीपतिः । कल्पकायार्पयन्मुद्राकरेण्वादि यथोचितम् ॥८०॥
[1]समुद्रवसनेशेभ्य आसमुद्रमपि श्रियः । उपायहस्तैराकृष्य ततः सो ऽकृत नन्दसात् ॥८१॥
नवे तस्मिन्महामात्ये श्रीवशीकारमान्त्रिके । श्रीरभून्नन्दराजस्य सिरावारिवदक्षया ॥८२॥
तस्य धीवारिणा सिक्तो राज्ञो विक्रमपादपः । यशःप्रसूनं सुषुवे सुरभीकृतविष्टपम् ॥८३॥
नन्दराजप्रतापाग्नेर्वृद्धिमुत्पादयन्पराम् । तस्य बुद्धिप्रपञ्चो ऽभूत्सचिवस्य महानिलः ॥८४॥

इतो ऽपि च [2]परिभ्रष्टः प्राग्मन्त्री कल्पकस्य सः । छलं गवेषयामास तटस्थो ऽपि हि भूतवत् ॥८५॥
स दुष्टः कल्पकस्येष्टां चेटीं वस्त्रादिभिर्भृशम् । आवर्जयितुमारेभे तत्प्रवृत्तिबुभुत्सया ॥८६॥
साऽपि लोभाभिभूतात्मा प्रत्यहं कल्पकौकसि । क्रियमाणं जल्प्यमानं चाख्यत्प्राक्तनमन्त्रिणः ॥८७॥

[1] पृथ्वीशेभ्यः ।
[2] पदभ्र° C. 2–3. ।

भूयांसस्तनुजन्मानो बभूवुः कल्पकस्य तु । प्रायेण पुत्रवन्तो हि भवन्ति परमार्हताः ॥८८॥
स आरेभे ऽन्यदैकस्य सूनोरुद्वाहमङ्गलम् । निमन्त्रयितुमैच्छच्च तत्र सान्तःपुरं नृपम् ॥८९॥
स राज्ञः स्वागतचिकीर्मुकुटच्छत्रचामरान् । प्रचक्रमे कारयितुमन्यच्चास्मै यदर्हति ॥९०॥
भ्रष्टामात्याय सा चेटी कथयामास तत्तथा । लब्धो ऽवसर इत्याशु सो ऽपि भूपं व्यजिज्ञपत् ॥९१॥
न साम्प्रतममात्यो ऽस्मि न मान्यो ऽस्मि तथाऽपि हि । कुलीनो ऽस्म्यतिभक्तो ऽस्मीत्याख्यामि स्वामिनो हितम् ॥९२॥
कल्पकेन यदारब्धं शृणु त्वत्प्रियमन्त्रिणा । चछत्रादिराज्यालंकारान्कारयन्नस्ति सो ऽधुना ॥९३॥
इयता कथितेनेशः स्वयं वेत्तु तदाशयम् । सिक्थेनापि द्रोणपाकं जानन्ति हि मनीषिणः ॥९४॥
ग्रासेन स्वामिदत्तेन वर्धितो ऽस्मीति वच्म्यदः । न पुनः पदसापत्न्यमात्सर्यं मम कल्पके ॥९५॥
कदाचिन्मत्सरेणाहमसत्यमपि हि ब्रुवे । सत्यं तत्तु चरैर्विद्धि नृपा हि चरचक्षुषः ॥९६॥
प्रेषिताश्च चरा राज्ञा गत्वा कल्पकसद्मनि । दृष्ट्वा च तत्तदाख्यातमाख्यान्ति स्म महीभुजे ॥९७॥
ततश्च सकुटुम्बो ऽपि कल्पको नन्दभूभुजा । सद्यो ऽन्धकूपकारायामक्षेप्याक्षेपपूर्वकम् ॥९८॥
कल्पकाय सपुत्राय कोद्रवौदनसेतिकाम् । पयःकरकमेकं च कूपके ऽक्षेपयन्नृपः ॥९९॥
कल्पको ऽल्पं निरीक्ष्यान्नं कुटुम्बमिदमभ्यधात् । सिक्थैर्हि संविभागो ऽस्य कवलानां तु का कथा ॥१००॥

कवलैः शतसङ्ख्यैर्हि भवेदुदरपूरणम् । तत्सिक्थमात्राण्यश्नन्तः सर्वे यूयं मरिष्यथ ॥१०१॥
तस्माद् भुङ्क्तां स एवैकः समस्तं कोद्रवौदनम् । यो भ्रष्टमन्त्रिणो वैरशोधनाय भवेदलम् ॥१०२॥
सम्भूयोचे कुटुम्बेन त्वं भुङ्क्ष्व क्षेममस्तु ते । वैरनिर्यातनं कर्तुं तात ! नास्मासु को ऽप्यलम् ॥१०३॥
ततश्च कल्पको ऽभुङ्क्त तदन्नं प्रतिवासरम् । अन्ये त्वनशनं कृत्वा विपद्य त्रिदिवं ययुः ॥१०४॥
तदा च कल्पकाभावं ज्ञात्वा सामन्तभूभुजः । रुरुधुः पाटलीपुत्रं नन्दोन्मूलनकाम्यया ॥१०५॥
रुद्धद्वारे प्रतिदिशं पाटलीपुत्रपत्तने । भाण्डं भाण्डेन पुस्फोट पौराणां तत्र भीजुषाम् ॥१०६॥
अनीशो विद्विषां तेषामासने शयने ऽपि वा । दाहज्वरातुर इव नन्दो न प्राप निर्वृतिम् ॥१०७॥
अचिन्तयच्च यावद्धि कल्पको मन्त्र्यभून्मम । तावत्तिंसहगुहेवेदं पुरं नास्कन्दि केनचित् ॥१०८॥
विना तं कल्पकमभून्नगरस्येदृशी दशा । अरक्षकं ह्युपवनं पान्थैरप्युपजीव्यते ॥१०९॥
स जीवति यदि तदा तेनैवोद्वेष्ट्यते पुरं । प्रायेण कृष्यते हस्तिभारो हस्तिभिरेव हि ॥११०॥
काराधिकारिणो राज्ञा पृष्टाश्चैवं व्यजिज्ञपन् । अन्धकूपस्थितः को ऽपि गृह्णात्यद्यापि कोद्रवान् ॥१११॥
क्षिप्त्वा च मञ्चिकां कूपे तत्रारोप्य च कल्पकम् । तदैवाकर्षयामास नन्दो निधिमिवात्मनः ॥११२॥
अपि पक्वद्रुपत्राभं शिबिकामधिरोप्य तम् । वप्रस्योपर्यभ्रमयन्नृपः पूर्देवतामिव ॥११३॥
तं दृष्ट्वा वैरिणो दध्युर्नन्दो ऽभूदबलः खलु । यदेषो ऽस्मान्भीषयते दर्शयन्कूटकल्पकम् ॥११४॥

ततो बाढमुपद्रोतुं ते प्रावर्तन्त वैरिणः । अनुत्पन्नभया यन्त्रप्रतियन्त्रादिकल्पनैः ॥११५॥
ततश्च कल्पकः प्रेष्य दूतं तानेवमब्रवीत् । एतु वः को ऽप्यभिमतो ऽन्तर्गङ्गं नावमास्थितः ॥११६॥
यथाऽहमपि नौयानो जल्पित्वा तेन धीमता । करोमि सन्धिमन्यद्वा भवतां यदभीप्सितम् ॥११७॥
सान्धिविग्रहिकस्तेषां कल्पकश्चापि नौस्थितौ । मिलितावाभिमुख्येन वक्रावक्रग्रहाविव ॥११८॥
तत्र कस्यचिदेकस्येक्षुकलापं करस्थितम् । निरीक्ष्य कल्पको मन्त्री तमूचे ऽङ्गुलिसञ्ज्ञया ॥११९॥
यद्यमुष्येक्षुभारस्य मूलं प्रान्तश्च कर्त्यते । एतन्मध्यप्रदेशस्य तदा किमुपतिष्ठते ? ॥१२०॥
सान्धिविग्रहिकः सो ऽथ विद्वानपि सुधीरपि । न तदाशयमज्ञासीदीदृशस्तु तदाशयः ॥१२१॥
यथेक्षुयष्टिर्मूलेन प्रान्तेन च विवर्धते । उभाभ्यामेव सन्धिभ्यां तथा क्षत्रियसन्ततिः ॥१२२॥
तत्र चैकः सत्यसन्धिर्यत्रोक्तं नान्यथा भवेत् । प्रपञ्चसन्धिरपरो मायया यः प्रतन्यते ॥१२३॥
अविश्वासेन वो नन्दे सत्यसन्धिर्न गोचरः । प्रपञ्चसन्धिस्तु कथं भावी वो मयि तद्विदि ॥१२४॥
निःसन्धिबन्धास्तद्यूयमुपजीव्या भविष्यथ । निकृत्तमूलप्रान्तेक्षुयष्टिवन्नन्दभूपतेः ॥१२५॥
पुनश्च तत्प्रदेशस्थाभीर्या मूर्धन्यदर्शयत् । दण्डाहतां दधिस्थालीं कल्पको हस्तसञ्ज्ञया ॥१२६॥
प्राग्वद्भावार्थमज्ञासीत्प्रधानपुरुषो न सः । कल्पकामात्यहृदयभावार्थो ऽयमभूत्पुनः ॥१२७॥
त्वत्पक्षसंहतिस्थाली मद्दोर्दण्डाहता यदि । तद्वः स्याद्विटक्काकार्हं विकीर्णं दधिवद्दलम् ॥१२८॥

पुनः स्वनावा तन्नावः कल्पकस्त्रिः प्रदक्षिणाम् । चकार तदभिप्रायं तत्रापि न विवेद सः ॥१२९॥
भावार्थस्त्वेष मन्नावा यथा नौरावृता तव । तथाऽस्मत्तेजसा तेजो भवतामावरिष्यते ॥१३०॥
सञ्ज्ञात्रये ऽपि भावार्थमजानन्कल्पकस्य सः । ऊहापोहपरस्तस्थौ व्यात्तास्यः काकपोतवत् ॥१३१॥
स्वस्थानं कल्पको ऽथाऽऽगात्सान्धिविग्रहिकः स तु । तद्भावमविदन्वीक्षापन्नः स्वशिबिरं ययौ ॥१३२॥
स सन्धिविग्रहपुमान्निजैः पृष्टो विषादभाक् । अवोचदत्यसम्बध्धप्रलापी कल्पकद्विजः ॥१३३॥
पुनः पुनश्च तैः पृष्टो न स किञ्चिदवोचत । स हि जिह्राय तद्भावं नाज्ञासिषमिति ब्रुवन् ॥१३४॥
मिलितः कल्पकस्यायमपीति कृतनिश्चयाः । ते ऽथ सामन्तराजानः पलायन्त दिशो दिशम् ॥१३५॥
ततः पलायमानानां तेषां कल्पकशासनात् । हस्त्यश्वरत्नकोशादि जग्राहाच्छिद्य नन्दराट् ॥१३६॥
नन्दो ऽपि तं निजग्राह प्राक्तनं दुष्टमन्त्रिणम् । भक्तस्य कल्पकस्यायमनर्थकृदिति क्रुधा ॥१३७॥

नन्दश्रियां रक्षणसौविदल्लः, सुधीर्नयोपायनदीनदीनः ।
क्ष्मां कल्पको नन्दनरेश्वराज्ञा-नियन्त्रितां मन्त्रिवरश्चकार ॥१३८॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते
महाकाव्ये कल्पकामात्यचरितसङ्कीर्तनो नाम सप्तमः सर्गः ॥



१ 'कपाकव' *C.* 1–2 ॥ २ तेषा जग्राह *C* 1 ॥

अष्टमः सर्गः



कल्पकः पुनरुत्पन्नानेकपुत्रो धियां निधिः । सुचिरं नन्दराजस्य मुद्राव्यापारमन्वशात् ॥१॥
नन्दस्य वंशे कालेन नन्दाः सप्ताभवन्नृपाः । तेषां च मन्त्रिणो ऽभूवन् भूयांसः कल्पकान्वयाः ॥२॥
ततस्त्रिखण्डपृथिवीपतिः पतिरिव श्रियः । समुत्खातद्विषत्कन्दो नन्दो ऽभून्नवमो नृपः ॥३॥
*विशङ्कटश्रियां वासो ऽसङ्कटः शकटो धियाम् । शकटाल इति तस्य मन्त्र्यभूत्कल्पकान्वयः ॥४॥
तस्य लक्ष्मीवती नाम लक्ष्मीरिव वपुष्मती । सधर्मचारिण्यभवच्छीलालङ्कारधारिणी ॥५॥
तयोश्च ज्येष्ठतनयो विनयालङ्कृतो ऽभवत् । अस्थूलधीः स्थूलभद्रो भद्राकारनिशाकरः ॥६॥
भक्तिनिष्ठः कनिष्ठो ऽभूच्छ्रीयको नन्दनस्तयोः । नन्दराड्हृदयामन्दानन्दगोशीर्षचन्दनः ॥७॥
पुरे ऽभूत्तत्र कोशेति वेश्या रूपश्रियोर्वशी । वशीकृतजगच्चेता बभूव जीवनौषधिः ॥८॥
भुञ्जानो विविधान्भोगान्स्थूलभद्रो दिवानिशम् । उवासावसथे तस्या द्वादशाब्दानि तन्मनाः ॥९॥

---

* विशंकटः=विशालः ।

श्रीयकस्त्वङ्गरक्षो ऽभूद् भूरिविश्रम्भभाजनम् । द्वितीयमिव हृदयं नन्दस्य पृथिवीपतेः ॥१०॥
तत्र चासीद्वररुचिर्नाम द्विजवराग्रणीः । कवीनां वादिनां वैयाकरणानां शिरोमणिः ॥११॥
स्वयङ्कृतैर्नवनवैरष्टोत्तरशतेन सः । वृत्तैः प्रवृत्तो ऽनुदिनं नृपावलगने सुधीः ॥१२॥
मिथ्यादृगिति तं मन्त्री प्रशशंस न जातुचित् । तुष्टो ऽप्यस्मै तुष्टिदान न ददौ नृपतिस्ततः ॥१३॥
ज्ञात्वा वररुचिस्तत्र दानाप्रापणकारणम् । आराधयितुमारेभे गृहिणीं तस्य मन्त्रिणः ॥१४॥
सन्तुष्टया तयाऽन्येद्युः कार्यं पृष्टो ऽब्रवीदिदम् । राज्ञः पुरस्तान्मे काव्यं तव भर्ता प्रशंसतु ॥१५॥
तया तदुपरोधेन तद्विज्ञप्तो ऽवदत्पतिः । मिथ्यादृष्टेरमुष्याहं प्रशंसामि कथं वचः ॥१६॥
तयोक्तः साग्रहं मन्त्री तत्तथा प्रत्यपद्यत । अन्धस्त्रीबालमूर्खाणामाग्रहो बलवान्खलु ॥१७॥
राज्ञः पुरस्तात्पठतः काव्यं वररुचेस्ततः । अहो सुभाषितमिति वर्णयामास मन्त्रिराट् ॥१८॥
दीनारशतमष्टाग्रं ततो ऽस्मै नृपतिर्ददौ । राजमान्यस्य वाचाऽपि जीव्यते ह्यनुकूलया ॥१९॥
दीनाराष्टोत्तरशते दीयमाने दिने दिने । किमेतद्दीयत इति भूपं मन्त्री व्यजिज्ञपत् ॥२०॥
अथोचे नृपतिर्मन्त्रिन्दद्मो ऽस्मै त्वत्प्रशंसया । वयं यदि स्वयं दद्मो दद्मः किं न पुरा ततः ॥२१॥
मन्त्र्यप्यूचे मया देव ! प्रशंसा नास्य निर्मिता । काव्यानि परकीयाणि प्राशंसिषमहं तदा ॥२२॥
पुरो नः परकाव्यानि स्वकीकृत्य पठत्ययम् । किमेतत्सत्यभावेनेत्यभाषत नृपस्ततः ॥२३॥

एतत्पठितकाव्यानि पठन्तीर्बालिका अपि । दर्शयिष्यामि वः प्रातरित्यूचे सचिवोऽपि च ॥२४॥
यक्षा यक्षदत्ता भूता भूतदत्तैणिका तथा । वेणा रेणेति सप्ताऽसन्प्राज्ञाः पुत्र्यस्तु मन्त्रिणः ॥२५॥
गृह्णाति ज्यायसी तासां सकृदुक्तं तथेतराः । द्वित्र्यादिवारक्रमतो गृह्णन्ति स्म यथाक्रमम् ॥२६॥
राज्ञः समीपं सचिवो द्वितीयेऽह्नि निनाय ताः । तिरस्करिण्यन्तरिताः समुपावेशयच्च सः ॥२७॥
अष्टोत्तरशतं श्लोकान्स्वयं निर्माय नैत्यिकान् । ऊचे वररुचिस्तास्तु यथाज्येष्ठमनूचिरे ॥२८॥
ततो वररुचे रुष्टो राजा दानं न्यवारयत् । उपायाः सचिवानां हि निग्रहानुग्रहक्षमाः ॥२९॥
ततो वररुचिर्गत्वा यन्त्रं गङ्गाजले न्यधात् । तन्मध्ये वस्त्रबद्धं च दीनारशतमष्टयुक् ॥३०॥
प्रातर्गङ्गामसौ स्तुत्वा यन्त्रमाक्रामदंह्रिणा । दीनारास्ते च तत्पाणावुत्पत्य न्यपतंस्ततः ॥३१॥
स एवं विदधे नित्यं जनस्तेन विसिष्मिये । तच्च श्रुत्वा जनश्रुत्या राजाऽशंसच्च मन्त्रिणे ॥३२॥
इदं यद्यस्ति सत्यं तत्प्रातर्वीक्षामहे स्वयम् । इत्युक्तो मन्त्रिणा राजा तत्तथा प्रत्यपद्यत ॥३३॥
दत्त्वा शिक्षां चरः सायं प्रेषितस्तत्र मन्त्रिणा । शरस्तम्बनिलीनोऽस्थात्पक्षीवानुपलक्षितः ॥३४॥
तदा वररुचिर्गत्वा च्छन्नं मन्दाकिनीजले । दीनाराष्टोत्तरशतग्रन्थिं न्यस्य ययौ गृहे ॥३५॥
तज्जीवितमिवादाय दीनारग्रन्थिमादरात् । चरः समर्पयामास प्रच्छन्नं वरमन्त्रिणे ॥३६॥
अथ गुप्तात्तदीनारग्रन्थिर्मन्त्री निशात्यये । ययौ राज्ञा समं गङ्गामागाद्वररुचिस्तदा ॥३७॥

द्रष्टुकामं नृपं हृष्टोत्कृष्टमानी सविस्तरम् । स्तोतुं प्रववृते गङ्गां मूढो वररुचिस्ततः ॥३८॥
स्तुत्यन्ते ऽचालयद्यन्त्रं यदा वररुचिः परम् । दीनारग्रन्थिरुत्पत्य नाऽपतत्पाणिकोटरे ॥३९॥
ग्रन्थिं गवेषयामास पाणिना तज्जले ततः । सो ऽस्यादपश्यंस्तूष्णीको धूर्तो धृष्टो हि मौनभाक् ॥४०॥
इत्यूचे च महामात्यः किं ते दत्ते न जाह्नवी । न्यासीकृतमपि द्रव्यं गवेषयसि यन्मुहुः ॥४१॥
उपलक्ष्य गृहाणेदं निजद्रव्यमिति ब्रुवन् । सो ऽर्पयामास दीनारग्रन्थिं वररुचेः करे ॥४२॥
दीनारग्रन्थिना तेनोत्सर्पिहृद्ग्रन्थिनेव सः । दशामासादयामास मरणादपि दुःसहाम् ॥४३॥
विप्रतारयितुं लोकं सायमत्र क्षिपत्यसौ । द्रव्यं प्रातः पुनर्गृह्णातीत्यूचे सचिवो नृपम् ॥४४॥
साधु ज्ञातमिदं च्छद्मेत्यालपन्मन्त्रिपुङ्गवम् । विस्मयस्मेरनयनः स्ववेश्माऽगान्महीपतिः ॥४५॥
अमर्षणो वररुचिः प्रतीकारं विचिन्तयन् । गृहस्वरूपं सचिवस्यापृच्छच्चेटिकादिकम् ॥४६॥
तस्याथ कथयामास काचित्सचिवचेट्यदः । भूपतिः श्रीयकोद्वाहे भोक्ष्यते मन्त्रिवेश्मनि ॥४७॥
सज्ज्यते चात्र शस्त्रादि दातुं नन्दाय मन्त्रिणा । शस्त्रप्रियाणां राज्ञां हि शस्त्रमाद्यमुपायनम् ॥४८॥
समासाद्य च्छलं[1]ज्ञस्तच्छलं वररुचिस्ततः । चणकादि प्रदायेति डिम्भरूपाण्यपाठयत् ॥४९॥
न वेत्ति राजा यदसौ शकटालः करिष्यति । व्यापाद्य नन्दं तद्राज्ये श्रीयकं स्थापयिष्यति ॥५०॥

१ °लन्यस्तच्छलं C. 1–2–3. ॥

स्थाने स्थाने पठन्ति स्म डिम्भा एवं दिने दिने । जनश्रुत्या तदश्रौषीदिति चाचिन्तयन्नृपः ॥५१॥
बालका यच्च भाषन्ते भाषन्ते यच्च योषितः । उत्पातिकी च भाषा या सा भवत्यन्यथा न हि ॥५२॥
तत्प्रत्ययार्थं राज्ञाऽथ प्रेषितो मन्त्रिवेश्मनि । पुरुषः सर्वमागत्य यथादृष्टं व्यजिज्ञपत् ॥५३॥
ततश्च सेवावसरे मन्त्रिणः समुपेयुषः । प्रणामं कुर्वतो राजा कोपात्तस्थौ पराङ्मुखः ॥५४॥
तद्भावज्ञो ऽथ वेश्मैत्यामात्यः श्रीयकमब्रवीत् । राज्ञो ऽस्मि ज्ञापितः केनाप्यभक्तो विद्विषन्निव ॥५५॥
असावकस्मादस्माकं कुलक्षय उपस्थितः । रक्ष्यते वत्स कुरुषे यद्यादेशमिमं मम ॥५६॥
नमयामि यदा राज्ञे शिरश्छिन्द्यास्तदाऽसिना । अभक्तः स्वामिनो वध्यः पिताऽपीति वदेस्तनः ॥५७॥
यियासौ मयि जरसाऽप्येवं याते परासुताम् । त्वं मत्कुलगृहस्तम्भो भविष्यसि चिरं ततः ॥५८॥
श्रीयको ऽपि रुदन्नेवमवदद्गद्गदस्वरम् । तात ! घोरमिदं कर्म श्वपचो ऽपि करोति किम् ? ॥५९॥
अमात्यो ऽप्यब्रवीदेवमेवं कुर्वन्विचारणाम् । मनोरथान्पूरयसि वैरिणामेव केवलम् ॥६०॥
राजा यम इवोद्दण्डः सकुटुम्बं न[1] हन्ति माम् । यावत्तावन्ममैकस्य क्षयाद्रक्ष कुटुम्बकम् ॥६१॥
मुखे विषं तालपुटं न्यस्य नंस्यामि भूपतिम् । शिरः परासोर्मे छिन्द्याः पितृहत्या न ते ततः ॥६२॥
पित्रैवं बोधितस्तत्स प्रतिपेदे चकार च । शुभोदर्काय धीमन्तः कुर्वन्त्यापातदारुणम् ॥६३॥

---

१ निह॰ *C.* 1-3. *M.* ॥

भवता किमिदं वत्स ! विहितं कर्म दुष्करम् । ससम्भ्रममिति प्रोक्तो नृपेण श्रीयको ऽवदत् ॥६४॥
यदैव स्वामिना ज्ञातो द्रोह्ययं निहतस्तदा । भर्तृचित्तानुसारेण भृत्यानां हि प्रवर्तनम् ॥६५॥
भृत्यानां युज्यते दोषे स्वयं ज्ञाते विचारणा । स्वामिज्ञाते प्रतीकारो युज्यते न विचारणा ॥६६॥
कृतौर्ध्वदेहिकं नन्दस्ततः श्रीयकमब्रवीत् । सर्वव्यापारसहिता मुद्रेयं गृह्यतामिति ॥६७॥
अथ विज्ञपयामास प्रणम्य श्रीयको नृपम् । स्थूलभद्राभिधानो ऽस्ति पितृतुल्यो ममाग्रजः ॥६८॥
पितृप्रसादान्निर्बाधं कोशायास्तु निकेतने । भोगानुपभुञ्जानस्य तस्याब्दा द्वादशागमन् ॥६९॥
आहूयाथ स्थूलभद्रस्तमर्थं भूभुजोदितः । पर्यालोच्यामुमर्थं तु करिष्यामीत्यभाषत ॥७०॥
अद्यैवालोचयेत्युक्तः स्थूलभद्रो महीभुजा । अशोकवनिकां गत्वा विममर्शेति चेतसा ॥७१॥
शयनं भोजनं स्नानमन्ये ऽपि सुखहेतवः । काले ऽपि नानुभूयन्ते रोरैरिव नियोगिभिः ॥७२॥
नियोगिनां स्वान्यराष्ट्रचिन्ताव्यग्रेऽपि चेतसि । प्रेयसीनां नावकाशः पूर्णकुम्भे ऽम्भसामिव ॥७३॥
त्यक्त्वा सर्वमपि स्वार्थं राजार्थं कुर्वतामपि । उपद्रवन्ति पिशुना उद्बद्धानामिव द्विकाः ॥७४॥
यथा स्वदेहद्रविणव्ययेनापि प्रयत्यते । राजार्थे तद्वदात्मार्थे यत्यते किं न धीमता ? ॥७५॥
विचिन्त्यैवं व्यधात्केशोत्पाटनं पञ्चमुष्टि सः । रत्नकम्बलदशाभी रजोहरणमप्यथ ॥७६॥
ततश्च स महासत्त्वो गत्वा सदसि पार्थिवं । आलोचितमिदं धर्मलाभः स्तादित्यवोचत ॥७७॥

ततः स राजसदनाद् गुहाया इव केसरी । निःससार महासारः संसारकरिरोषणः ॥७८॥
किमेष कपटं कृत्वा यायाद् वेश्यागृहं पुनः । इत्यप्रत्ययतः क्ष्मापो गवाक्षेण निरैक्षत ॥७९॥
प्रदेशे शवदुर्गन्धे ऽप्यविकूणितनासिकम् । यान्तं दृष्ट्वा स्थूलभद्रं नरेन्द्रो ऽधूनयच्छिरः ॥८०॥
भगवान्वीतरागो ऽसावस्मिन्धिग्मे कुचिन्तितम् । इत्यात्मानं निनिन्दोच्चैर्नन्दस्तमभिनन्दयन् ॥८१॥
स्थूलभद्रो ऽपि गत्वा श्रीसम्भूतविजयान्तिके । दीक्षां सामायिकोच्चारपूर्विकां प्रत्यपद्यत ॥८२॥
गृहीत्वा श्रीयकं दोष्णि ततो नन्दः सगौरवम् । मुद्राधिकारे निःशेषव्यापारसहिते न्यधात् ॥८३॥
चकार श्रीयको राज्यचिन्तामवहितः सदा । साक्षादिव शकटालः प्रकृष्टनयपाटवात् ॥८४॥
स नित्यमपि कोशाया विनीतः सदने ययौ । स्नेहाद् भ्रातुस्तत्प्रियाऽपि कुलीनैर्बहु मन्यते ॥८५॥
स्थूलभद्रवियोगाऽऽर्ता श्रीयकं प्रेक्ष्य साऽरुदत् । इष्टे दृष्टे हि दुःखार्ता न दुःखं भर्तुमीशते ॥८६॥
ततस्तां श्रीयको ऽवोचदार्ये ! किं कुर्महे वयम् । असौ वररुचिः पापो ऽघातयज्जनकं हि नः ॥८७॥
अकाण्डोत्थितवज्राग्निप्रदीपनसहोदरम् । स्थूलभद्रवियोगं च भवत्या अकरोदयम् ॥८८॥
त्वज्जाम्यामुपकोशायां यावद्रक्तो ऽस्त्यसौ खलः । तावत्प्रतिक्रियां काञ्चिद्विचिन्तय मनस्विनि ! ॥८९॥
तदादिशोपकोशां यत्प्रतार्य कथमप्यसौ । विधीयतां वररुचिर्मद्यपानरुचिस्त्वया ॥९०॥
प्रेयोवियोजनावैराद्दाक्षिण्याद्देवरस्य च । तत्प्रतिज्ञाय सा सद्यो ऽप्युपकोशां समादिशत् ॥९१॥

कोशायाश्च निदेशेनोपकोशा तं तथाऽभ्यधात् । यथा पपौ सुरामेष स्त्रीवशैः क्रियते न किम् ? ॥९२॥
सुरापानं वररुचिः स्वैरं भट्टो ऽद्य कारितः । उपकोशेति कोशायै शशंसाथ निशात्यये ॥९३॥
अथ कोशामुखात्सर्वं शुश्राव श्रीयको ऽपि तत् । मेने च पितृवैरस्य विहितं प्रतियातनम् ॥९४॥
शकटालमहामात्यात्ययात्प्रभृति सो ऽप्यभूत् । भट्टो वररुचिर्भूपसेवावसरतत्परः ॥९५॥
स प्रत्यहं राजकुले सेवाकाले समापतन् । राज्ञा च राजलोकैश्च सगौरवमदृश्यत ॥९६॥
अन्यदा नन्दराट् मन्त्रिगुणस्मरणविह्वलः । सदसि श्रीयकामात्यं जगादैवं सगद्गदम् ॥९७॥
भक्तिमाञ्शक्तिमान्नित्यं शकटालो महामतिः । अभवन्मे महामात्यः शक्रस्येव बृहस्पतिः ॥९८॥
एवमेव विपन्नो ऽसौ दैवादद्य करोमि किम् ? । मन्ये शून्यमिवाऽऽस्थानमहं तेन विनाऽऽत्मनः ॥९९॥
उवाच श्रीयको ऽप्येवं किं देवेह विदध्महे ? । इदं वररुचिः सर्वं पापं व्यधित मद्यपः ॥१००॥
सत्यमेष सुरां भट्टः पिबनीति ? नृपोदिते । श्वो ऽमुं दर्शयितास्मीति श्रीयकः प्रत्यभाषत ॥१०१॥
श्रीयकश्च द्वितीये ऽह्नि सर्वेषामीयुषां सदः । स्वपुंसा शिक्षितेनाग्र्यं पद्ममेकैकमापर्यत् ॥१०२॥
तत्कालं मदनफलरसभावनयाश्रितम् । दुरात्मनो वररुचेरर्पयामास पङ्कजम् ॥१०३॥
कुतस्त्यमद्भुतामोदमिदमित्यभिवर्णिनः । घ्रातुं राजादयो निन्युर्नासाग्रे स्वं स्वमम्बुजम् ॥१०४॥
सो ऽपि भट्टो ऽनयद् घ्रातुं घ्राणाग्रे पङ्कजं निजम् । चन्द्रहाससुरां सद्यो रात्रिपीतां ततोऽवमत् ॥१०५॥

धिगमुं शीधुपं *ब्रह्मबन्धुं बन्धवधोचितम् । सर्वैरित्याक्रुश्यमानो निर्ययौ सदसो ऽथ सः ॥१०६॥
ब्राह्मणा याचितास्तेन प्रातश्चित्तमचीकथन् । तापितत्रपुणः पानं सुरापानाघघातकम् ॥१०७॥
मूषया तापितमथ पपौ वररुचिस्त्रपु । प्राणैश्च मुमुचे सद्यस्तत्प्रदाहभयादिव ॥१०८॥

स्थूलभद्रो ऽपि सम्भूतविजयाचार्यसन्निधौ । प्रव्रज्यां पालयामास पारदृश्वा श्रुताम्बुधेः ॥१०९॥
वर्षाकाले ऽन्यऽऽदाऽऽयाते सम्भूतविजयं गुरुम् । प्रणम्य मूर्ध्ना मुनय इत्यगृह्णन्नभिग्रहान् ॥११०॥
अहं सिंहगुहाद्वारे कृतोत्सर्ग उपोषितः । अवस्थास्ये चतुर्मासीमेकः प्रत्यशृणोदिदम् ॥१११॥
दृग्विषाहिबिलद्वारे चतुर्मासीमुपोषितः । स्थास्यामि कायोत्सर्गेण द्वितीयो ऽभ्यग्रहीदिदम् ॥११२॥
उत्सर्गी कूपमण्डूकासने मासचतुष्टयम् । स्थास्याम्युपोषित इति तृतीयः प्रत्यपद्यत ॥११३॥
योग्यान्मत्वा गुरुः साधून्यावत्तानन्वमन्यत । स्थूलभद्रः पुरोभूय नत्वैवं तावदब्रवीत् ॥११४॥
कोशाभिधाया वेश्याया गृहे या चित्रशालिका । विचित्रकामशास्त्रोक्तकरणालेख्यशालिनी ॥११५॥
तत्राकृततपःकर्मविशेषः षड्रसाशनः । स्थास्यामि चतुरो मासानिति मे ऽभिग्रहः प्रभो ! (युग्मम्)
ज्ञात्वोपयोगाद्योग्यं तं गुरुस्तत्रान्वमन्यत । साधवश्च ययुः सर्वे स्वं स्वं स्थानं प्रतिश्रुतम् ॥११७॥
शान्तांस्तीव्रतपोनिष्ठान्दृष्ट्वा तान्मुनिसत्तमान् । त्रयो ऽमी भेजिरे शान्तिं सिंहपारिघट्टिकाः ॥११८॥॥

*अधमब्राह्मणम्

स्थूलभद्रो ऽपि सम्प्राप कोशावेश्यानिवेशनम् । अभ्युत्तस्थौ ततः कोशाऽप्याहिताञ्जलिरग्रतः ॥११९॥
सुकुमारः प्रकृत्याऽसौ रम्भस्तम्भ इवोरुणा । व्रतभारेण विधुरो ऽत्रागादिति विचिन्त्य सा ॥१२०॥
उवाच स्वागतं स्वामिन्समादिश करोमि किम् । वपुर्धनं परिजनः सर्वमेतत्तवैव हि ॥१२१॥
चतुर्मासीं वसत्यै मे चित्रशालेयमर्प्यताम् । इत्यूचे स्थूलभद्रो ऽपि सा तूचे गृह्यतामिति ॥१२२॥
तया च तस्यां प्रगुणीकृतायां भगवानपि । कामस्थाने ऽविशद्धर्म इव स्वबलवत्तया ॥१२३॥
अथ सा षड्रसाहारभोजनानन्तरं मुनेः । विशेषकृतशृङ्गारा क्षोभाय समुपाययौ ॥१२४॥
सोपविष्टा पुरस्तस्योत्कृष्टा काचिदिवाप्सराः । चतुरं रचयामास हावभावादिकं मुहुः ॥१२५॥
करणानुभवक्रीडोद्दामानि सुरतानि च । तानि तानि प्राक्तनानि स्मारयामास साऽसकृत् ॥१२६॥
यद्यत्क्षोभाय विदधे तया तत्र महामुनौ । तत्तन्मुधाऽभवद्वज्रे यथा नखविलेखनम् ॥१२७॥
प्रतिवासरमप्येवं तत्क्षोभाय चकार सा । जगाम स तु न क्षोभं मनागपि महामनाः ॥१२८॥
तयोपसर्गकारिण्या प्रत्युतास्य महामुनेः । अदीप्यत ध्यानवह्निर्मेघवह्निरिवाम्भसा ॥१२९॥
त्वयि पूर्वमिवाज्ञानाद्रन्तुकामां धिगीश माम् । आत्मानमिति निन्दन्ती साऽपतत्तस्य पादयोः ॥१३०॥
मुनेस्तस्येन्द्रियजयप्रकर्षेण चमत्कृता । प्रपेदे श्रावकत्वं साऽग्रहीच्चैवमभिग्रहम् ॥१३१॥
तुष्टः कदापि कस्मैचिद्ददाति यदि मां नृपः । विना पुमांसमेकं तमन्यत्र नियमो मम ॥१३२॥

गते तु वर्षासमये ते त्रयो ऽपि हि साधवः । निर्व्यूढाभिग्रहा एयुर्गुरुपादान्तिकं क्रमात् ॥१३३॥
आयात्सिंहगुहासाधुरहो ! दुष्करकारकः । तव स्वागतमित्यूचे किंचिदुत्थाय सूरिणा ॥१३४॥
सूरिणा भाषितौ तद्वदायान्तावितरावपि । समे प्रतिज्ञानिर्वाहे समा हि स्वामिसत्क्रिया ॥१३५॥
स्थूलभद्रमथायान्तमभ्युत्थायाब्रवीद् गुरुः । दुष्करदुष्करकारिन्महात्मन् ! स्वागतं तव ॥१३६॥
सासूयाः साधवस्ते ऽथाचिन्तयन्नित्यहो गुरोः । इदमामन्त्रणं मन्त्रिपुत्रताहेतुकं खलु ॥१३७॥
यद्यसौ षड्साहारात्कृतदुष्करदुष्करः । इदं वर्षान्तरे तर्हि प्रतिज्ञास्यामहे वयम् ॥१३८॥
एवं मनसि संस्थाप्य सामर्षास्ते महर्षयः । कुर्वाणाः संयमं मासानष्टावगमयन्क्रमात् ॥१३९॥
उत्तमर्ण इव प्राप्ते काले हृष्टः पुरो गुरोः । साधुः सिंहगुहावासी चकारेति प्रतिश्रवम् ॥१४०॥
कोशावेश्यागृहे नित्य षड्साहारभोजनः । भगवन्समवस्थास्ये चतुर्मासीमिमामहम् ॥१४१॥
स्थूलभद्रेण मात्सर्यादेतदङ्गीकरोत्ययम् । विचार्येत्युपयोगेन ज्ञात्वा च गुरुरादिशत् ॥१४२॥
वत्स ! माऽभिग्रहं कार्षीरतिदुष्करम् । स्थूलभद्रः क्षमः कर्तुमद्रिराज इव स्थिरः ॥१४३॥
न हि मे दुष्करो ऽप्येष कथं दुष्करदुष्करः । तदवश्यं करिष्यामीत्युवाच स पुनर्गुरुम् ॥१४४॥
गुरुरूचे ऽमुना भावी भ्रंशः प्राक्तपसो ऽपि ते । आरोपितो ऽतिभारो हि गात्रभङ्गाय जायते ॥१४५॥
गुरोर्वचो ऽवमत्याथ वीरम्मन्यो मुनिः स तु । उन्मीनकेतनं प्राप कोशायास्तन्निकेतनम् ॥१४६॥

स्थूलभद्रस्पर्धयेहायाति मन्ये तपस्व्यसौ । भवे पतन् रक्षणीय इत्युत्थाय ननाम सा ॥१४७॥
वसत्यै याचितां तेन मुनिना चित्रशालिकाम् । कोशा समर्पयामास स मुनिस्तत्र चाविशत् ॥१४८॥
तं भुक्तषड्रसाहारं मध्याह्ने ऽथ परीक्षितुम् । कोशा ऽपि तत्र लावण्यकोशभूता समाययौ ॥१४९॥
चुक्षोभ स पुनर्मक्षु पङ्कजाक्षीमुदीक्ष्य ताम् । स्त्री तादृग्भोजनं तादृग्विकाराय न किं भवेत् ? ॥१५०॥
स्मराऽऽर्त्या याचमानं तं कोशाऽप्येवमवोचत । वयं हि भगवन्वेश्या वश्याः स्मो धनदानतः ॥१५१॥
व्याहार्षीन्मुनिरप्येवं प्रसीद मृगलोचने ! । अस्मासु भवति द्रव्यं किं तैलं वालुकास्विव ॥१५२॥
नेपालभूपो ऽपूर्वस्मै साधवे रत्नकम्बलम् । दत्ते तमानयेत्यूचे सा निर्वेदयितुं मुनिम् ॥१५३॥
ततश्चचाल नेपालं प्रत्यकाले ऽपि बालवत् । पङ्किलायामिलायां स निजव्रत इव स्खलन् ॥१५४॥
तत्र गत्वा महीपालाद्रत्नकम्बलमाप्य च । स मुनिर्वलितो वर्त्मन्यासंस्तस्मिंश्च दस्यवः ॥१५५॥
आयाति लक्षमित्याख्यद्दस्यूनां शकुनस्ततः । किमायातीत्यपृच्छच्च दस्युराड् द्रुस्थितं नरम् ॥१५६॥
आगच्छन्भिक्षुरेको ऽस्ति न कश्चित्तादृशो ऽपरः । इत्यशंसद् द्रुमारूढश्चौरसेनापतेः स तु ॥१५७॥
साधुस्तत्राथ सम्प्राप्तस्तैर्विधृत्य निरूपितः । किमप्यर्थमपश्यद्भिर्मुमुचे च मलिम्लुचैः ॥१५८॥
एतल्लक्षं प्रयातीति व्याहरच्छकुनः पुनः । मुनिं चौरपतिः प्रोचे सत्यं ब्रूहि किमस्ति ते ? ॥१५९॥
वेश्याकृते ऽस्य वंशस्यान्तः क्षिप्तो रत्नकम्बलः । अस्तीत्युक्ते मुनिश्चौरराजेन मुमुचे च सः ॥१६०॥

स समागत्य कोशायै प्रददौ रत्नकम्बलम् । चिक्षेप सा गृहस्रोतःपङ्के निःशङ्कमेव तम् ॥१६१॥
अजल्पन्मुनिरप्येवमक्षेप्यशुचिकर्दमे । महामूल्यो ह्यसौ रत्नकम्बलः कम्बुकण्ठि ! किम् ॥१६२॥
अथ कोशाप्युवाचैवं कम्बलं मूढ ! शोचसि । गुणरत्नमयं श्वभ्रे पतन्तं स्वं न शोचसि ? ॥१६३॥
तच्छ्रुत्वा जातसंवेगो मुनिस्तामित्यवोचत । बोधितोऽस्मि त्वया साधु संसारात्साधु रक्षितः ॥१६४॥
अधान्यतीचारभवान्युन्मूलयितुमात्मनः । यास्यामि गुरुपादान्ते धर्मलाभस्तवानघे ! ॥१६५॥
कोशाऽपि तमुवाचैवं मिथ्या मे दुष्कृतं त्वयि । ब्रह्मव्रतस्थयाऽप्येवं मया यदसि खेदितः ॥१६६॥
आशातनेयं युष्माकं बोधहेतोर्मया कृता । क्षन्तव्या सा गुरुवचः श्रयध्वं यात सत्वरम् ॥१६७॥
इच्छामीति वदन् गत्वा सम्भूतविजयान्तिके गृहीत्वालोचनां तीक्ष्णमाचचार पुनस्तपः ॥१६८॥
समाधिमन्तो मरणं साधयित्वा परेद्यवि । सम्भूतविजयाचार्यपादाः स्वर्गं प्रपेदिरे ॥१६९॥

राज्ञा प्रदत्ता कोशाऽपि तुष्टेन रथिने ऽन्यदा । राजायत्तेति शिश्राय विना रागेण सा तु तम् ॥१७०॥
स्थूलभद्रं विना नान्यः पुमान्कोऽपीत्यहर्निशम् । सा तस्य रथिनो ऽभ्यर्णे वर्णयामास वर्णिनी ॥१७१॥
रथी गत्वा गृहोद्याने पर्यङ्के च निषद्य सः । तन्मनोरञ्जनायेति स्वविज्ञानमदर्शयत् ॥१७२॥
माकन्दलुम्बीं बाणेन विव्याध तमपीषुणा । पुङ्खे ऽन्येन तमप्यन्येनेत्याहस्तं शराल्यभूत् ॥१७३॥

वृन्तं छित्वा क्षुरप्रेण बाणश्रेणिमुखस्थिताम् । लुम्बीं स्वपाणिनाऽऽकृष्यासीनस्तस्यै स आर्पयत् ॥१७४॥
इदानीं मम विज्ञानं पश्येत्यालप्य साऽपि हि । व्यधत्त सार्षपं राशिं तस्योपरि ननर्त च ॥१७५॥
सूचीं क्षिप्त्वा तत्र राशौ पुष्पपत्रैः पिधाय ताम् । सा ननर्त च नो सूच्या विद्धा राशिश्च न क्षतः ॥१७६॥
ततः स ऊचे तुष्टो ऽस्मि दुष्करेणामुना तव । याचस्व यन्ममायत्तं ददामि तदहं ध्रुवम् ॥१७७॥
सोवाच किं मयाऽकारि दुष्करं येन रञ्जितः । इदमप्यधिकं नास्मात्किमभ्यासेन दुष्करम् ? ॥१७८॥
किं चाम्रलुम्बीच्छेदो ऽयं नृत्तं चेदं न दुष्करम् । अशिक्षितं स्थूलभद्रो यच्चक्रे तत्तु दुष्करम् ॥१७९॥
अभुक्त द्वादशाब्दानि भोगान्यत्र समं मया । तत्रैव चित्रशालायामस्थात्सोऽखण्डितव्रतः ॥१८०॥
दुग्धं नकुलसञ्चारादिव स्त्रीणां प्रचारतः । योगिनां दुष्यते चेतः स्थूलभद्रमुनिं विना ॥१८१॥
दिनमेकमपि स्थातुं को ऽलं स्त्रीसन्निधौ तथा । चतुर्मासीं यथाऽतिष्ठत्स्थूलभद्रो ऽक्षतव्रतः ॥१८२॥
आहारः षड्रसश्चित्रशालावासो ऽङ्गनाऽन्तिके । अप्येकं व्रतलोपायान्यस्य लोहतनोरपि ॥१८३॥
विलीयन्ते धातुमयाः पार्श्वे वह्नेरिव स्त्रियाः । स तु वज्रमयो मन्ये स्थूलभद्रमहामुनिः ॥१८४॥
स्थूलभद्रं महासत्त्वं कृतदुष्करदुष्करम् । व्यावर्ण्य युक्ता मुद्रैव मुखे वर्णयितुं परम् ॥१८५॥
रथिको ऽप्यथ पप्रच्छ य एवं वर्ण्यते त्वया । को नाम स्थूलभद्रो ऽयं महासत्त्वशिरोमणिः ?॥१८६॥
साऽप्यूचे शकटालस्य नन्दभूपालमन्त्रिणः । तनयः स्थूलभद्रो ऽयं तवाग्रे वर्णयामि यम् ॥१८७॥

तच्छ्रुत्वा सो ऽपि सम्भ्रान्त इत्युवाच कृताञ्जलिः । एषो ऽस्मि किङ्करस्तस्य स्थूलभद्रमहामुनेः ॥१८८॥
संविग्नं साऽथ तं ज्ञात्वा विदधे धर्मदेशनाम् । प्रत्यबुध्यत सद्बुद्धिर्मोहनिद्रामपास्य सः ॥१८९॥
प्रतिबुद्धं च तं बुद्ध्वा साऽऽख्यन्निजमभिग्रहम् । तच्छ्रुत्वा विस्मयोत्फुल्ललोचनः सो ऽब्रवीदिदम् ॥१९०॥
बोधितो ऽहं त्वया भद्रे ! स्थूलभद्रगुणोक्तिभिः । यास्यामि तस्य पन्थानं भवत्यैवाद्य दर्शितम् ॥१९१॥
कल्याणमस्तु ते भद्रे ! पालय स्वमभिग्रहम् । उक्त्वैवं सद्गुरोः पार्श्वे गत्वा दीक्षां स आददे ॥१९२॥
भगवान्स्थूलभद्रो ऽपि तीक्ष्णं व्रतमपालयत् । द्वादशाब्दप्रमाणश्च दुष्कालः समभूत्तदा ॥१९३॥

इतश्च गोल्लविषये ग्रामे चणकनामनि । ब्राह्मणो ऽभूच्चणी नाम तद्भार्या च चणेश्वरी ॥१९४॥
बभूव जन्मप्रभृति श्रावकत्वचणश्चणी । ज्ञानिनो जैनमुनयः पर्यवात्सुश्च तद्गृहे ॥१९५॥
अन्यदा तूद्गतैर्दन्तैश्चणेश्वर्या सुतो ऽजनि । जातं च तेभ्यः साधुभ्यस्तं नमोऽकारयच्चणी ॥१९६॥
तं जातदन्तं जातं च मुनिभ्यो ऽकथयच्चणी । ज्ञानिनो मुनयोऽप्याख्यन्भावी राजैष बालकः ॥१९७॥
राज्यारम्भेण मत्पुत्रो मा भून्नरकभागिति । अघर्षयत्तस्य दन्तान्पीडामगणयंश्चणी ॥१९८॥
स मुनिभ्यस्तदप्याख्यन्मुनयो ऽप्येवमूचिरे । भाव्येष बिम्बान्तरितो राजा रदनघर्षणात् ॥१९९॥
चणी चाणक्य इत्याख्यां ददौ तस्याङ्गजन्मनः । चाणक्योऽपि श्रावकोऽभूत्सर्वविद्याब्धिपारगः ॥२००॥
श्रमणोपासकत्वेन स सन्तोषधनः सदा । कुलीनब्राह्मणस्यैकामेव कन्यामुपायत ॥२०१॥

चाणक्यभार्या त्वन्येद्युर्मातृधाम जगाम सा । बभूव तत्र तद्भ्रातुस्तदोद्वाहमहोत्सवः ॥२०२॥
तस्मिन्महोत्सवे तस्याः स्वसारो ऽन्याः समाययुः । वस्त्रालङ्कारशालिन्यो महेभ्यपतिका हि ताः ॥२०३॥
नाश्चित्रवाहनाः सर्वाः सर्वा दासीभिरावृताः । सच्छत्रप्रक्रियाः सर्वाः सर्वाः स्रग्युक्तमौलयः ॥२०४॥
सर्वा दिव्याङ्गरागिण्यः सर्वास्ताम्बूलपाणयः । सर्वा अपि श्रियो देव्या वैक्रिया इव मूर्तयः ॥ (युग्मम्)
चाणक्यगृहिणी त्वेक†वराशिर्निशि चाह्नि च । विशुद्धशुद्धसरिकाभरणा जीर्णकञ्चुका ॥२०६॥
जीर्णकौसुम्भोत्तरीया ताम्बूलविकलानना । वपुर्मलैकसञ्जाताङ्गरागा त्रपुकुण्डला ॥२०७॥
कर्मणा कर्कशकरा सदा मलिनकुन्तला । ताभिः श्रीमदुदूढाभिर्भगिनीभिरहस्यत ॥२०८॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

विवाहमिलितो ऽन्यो ऽपि लोकः सर्वो जहास ताम् । सा तु जिह्रियती कोणप्रविष्टोद्वाहमत्यगात् ॥२०९॥
गताऽथ चाणक्यगृहे विषादमलिनानना । साऽस्थात्तिलकयन्ती क्ष्मां साञ्जनैरश्रुबिन्दुभिः ॥२१०॥
तां तु म्लानमुखीं दृष्ट्वा प्रातः कैरविणीमिव । तद्दुःखदुःखी चाणक्यो ऽभिदधे मधुराक्षरम् ॥२११॥
किं मत्कृतो ऽपमानस्ते प्रतिवेशिकृतो ऽथवा । पितृवेश्मकृतो यद्वा यदेवं ताम्यसि प्रिये ! ॥२१२॥
सा त्वाख्यातुमनीशाऽभूदपमानकदर्थिता । पत्युरत्यन्तनिर्बन्धादाख्याति स्म तथाऽपि तत् ॥२१३॥

† एकस्थूलवस्त्रा ।

चाणक्यो ऽपि हि विज्ञातगृहिणीदुःखकारणः । द्रविणोपार्जनोपायं निरपायमचिन्तयत् ॥२१४॥
पाटलीपुत्रनगरे नन्दराजो द्विजन्मनाम् । विशिष्टां दक्षिणां दत्ते तदर्थं तत्र याम्यहम् ॥२१५॥
इति निश्चित्य तत्रागात्प्रविश्य च नृपौकसि । अग्रे दत्तेष्वासनेषु निषसादादिमासने ॥२१६॥
चाणक्येन तदाक्रान्तमासनं प्रथमं सदा । नन्द एव ह्यलश्चक्रे तस्य भद्रासनं हि तत् ॥२१७॥
नन्देन च सहायातो नन्दपुत्रस्तदाऽवदत् । ब्राह्मणो निषसादैष च्छायामाक्रम्य भूपतेः ॥२१८॥
राज्ञो दास्यैकया प्रोचे चाणक्यः सामपूर्वकम् । निषीदास्मिन्द्वितीयस्मिन्नासने त्वमहो द्विज ! ॥२१९॥
कमण्डलुर्मदीयो ऽत्र स्थास्यतीत्यभिधाय सः । कमण्डलुं न्यधात्तत्र नौज्झत्प्रथममासनम् ॥२२०॥
एवं तृतीयं दण्डेन चतुर्थं जपमालया । पञ्चमं चोपवीतेनोत्थाप्यमानो रुरोध सः ॥२२१॥
दास्यवोचदहो धृष्टो न मुञ्चत्याद्यमासनम् । विशेषो ऽयं यदन्यान्यप्यासनानि रुणद्ध्यसौ ॥२२२॥
तत्किमेतेन धृष्टेन[1] वातुलेन द्विजन्मना । पादेनाहत्य चाणक्यमित्युत्थापयति स्म सा ॥२२३॥
चाणक्यस्तत्क्षणाद्रुष्टो दण्डघृष्ट इवोरगः । पश्यतः सर्वलोकस्य प्रतिज्ञामकरोदिमाम् ॥२२४॥
सकोशभृत्यं ससुहृत्पुत्रं सबलवाहनम् । नन्दमुन्मूलयिष्यामि महावायुरिव द्रुमम् ॥२२५॥
आध्माततान्नताम्रास्यो ज्वलन्वह्निरिव क्रुधा । नगरान्निरगान्मङ्क्षु सभ्रूक्षेपं चणिप्रसूः ॥२२६॥

[1] 'धृ' C. 3 ॥

धीमतां मौलिमाणिक्यं चाणक्यश्चास्मरत्किल । यद्बिम्बान्तरितो ऽहं हि भविष्यामि महीपतिः ॥२२७॥
स राज्यार्हं नरं कंचित्पश्यामीत्यभ्रमद् भुवि । अपमानान्नापमानं विस्मरन्त्यभिमानिनः ॥२२८॥
चणेश्वरीकुक्षिजन्मा द्विजन्मा सो ऽन्यदा ययौ । मयूरपोषका यत्रावात्सुर्नन्दमहीपतेः ॥२२९॥
मयूरपोषकग्रामे तस्मिंश्च चणिनन्दनः । प्राविशत्कणभिक्षार्थं परिव्राजकवेषभृत् ॥२३०॥
मयूरपोषकमहत्तरस्य दुहितुस्तदा । अभूदापन्नसत्त्वायाश्चन्द्रपानाय दोहदः ॥२३१॥
तत्कुटुम्बेन कथितश्चाणक्याय स दोहदः । पूरणीयः कथमसाविति पृष्टो ऽवदच्च सः ॥२३२॥
यद्येतस्या जातमात्रं दारकं मम दत्त भोः ! । तदाऽहं पूरयाम्येव शशभृत्पानदोहदम् ॥२३३॥
अपूर्णे दोहदे गर्भनाशो ऽस्या मा भवत्विति । तन्मातापितरौ तस्यामंसातां वचनं हि तत् ॥२३४॥
चाणक्यो ऽकारयच्चाथ सच्छिद्रं तृणमण्डपम् । पिधानधारिणं गुप्तं तदूर्ध्वे चामुचन्नरम् ॥२३५॥
तस्याधो धारयामास स्थालं च पयसा भृतम् । ऊर्जराकानिशीथे च तत्रेन्दुः प्रत्यबिम्ब्यत ॥२३६॥
गुर्विण्यास्तत्र सङ्क्रान्तं पूर्णेन्दुं तमदर्शयत् । पिबेत्युक्ता च सा पातुमारेभे विकसन्मुखी ॥२३७॥
साऽपाद्यथा यथा गुप्तपुरुषेण तथा तथा । [1]व्यधीयत पिधानेन तच्छिद्रं तार्णमण्डपम् ॥२३८॥
पूरिते दोहदे चैवं समये ऽसूत सा सुतम् । चन्द्रगुप्तोऽभिधानेन पितृभ्यां सो ऽभ्यधीयत ॥२३९॥

---

१ 'श्वधी' C 2. ॥

चन्द्रवचन्द्रगुप्तो ऽपि व्यवर्धत दिने दिने । मयूरपोषककुलोत्पलिनीवनलासकः ॥२४०॥
सुवर्णोपार्जनधिया चाणक्यो ऽपि परिभ्रमन् । गवेषयितुमारेभे धातुवादविशारदान् ॥२४१॥
इतश्च चन्द्रगुप्तो ऽर्भै रममाणो दिने दिने । विलेभे भूपतिरिव तेभ्यो ग्रामादिकं सदा ॥२४२॥
हस्तीकृत्य हयीकृत्य चारुरोह स बालकान् । प्रायो हि भाविनी लक्ष्मीरिङ्गितैरपि सूच्यते ॥२४३॥
क्रमयोगेन चाणक्यस्तत्रैवागात्परिभ्रमन् । चन्द्रगुप्तं तथाचेष्टं दृष्ट्वा चातिविसिष्मिये ॥२४४॥
चाणक्यस्तत्परीक्षार्थमेवमाभाषते स्म तम् । हे राजन्मह्यमपि हि किंचनापि प्रदीयताम् ॥२४५॥
जगाद चन्द्रगुप्तो ऽपि ब्रह्मन् ! ग्रामगवीरिमाः । यथारुचि गृहाण त्वं मद्दत्ताः को निपेत्स्यति ॥२४६॥
स्मित्वा प्रोवाच चाणक्यः कथं गृह्णामि गा इमाः । गोस्वामिभ्यो बिभेम्युच्चैर्मारयिष्यन्ति ते हि माम् ॥२४७॥
प्रोवाच चन्द्रगुप्तो ऽपि मा भैषीर्ननु ते मया । गावः प्रदत्ता गृह्यन्तां वीरभोज्या वसुन्धरा ॥२४८॥
चाणक्यो ऽचिन्तयदसावहो विज्ञानवानपि । अतः पप्रच्छ को ऽसावित्यर्भकांस्तत्समीपगान् ॥२४९॥
डिम्भकाः कथयामासुः परिव्राजकपुत्रकः । असौ मात्रोदरस्थो ऽपि परिव्राजकसात्कृतः ॥२५०॥
चाणक्यो ऽपि स्वयं लब्धं तं ज्ञात्वोवाच बालकम् । स एषो ऽस्मि यदीयस्त्वमेहि राज्यं ददामि ते ॥२५१॥
राज्यार्थी चन्द्रगुप्तो ऽपि लगति स्म तदङ्गुलौ । चाणक्यो ऽपि तमादाय द्राक् पलायिष्ट दस्युवत् ॥२५२॥
धातुवादोपार्जितेन द्रविणेन चणिप्रसूः । चक्रे पत्त्यादिसामग्रीं नन्दमुच्छेत्तुमुद्यतः ॥२५३॥

ततः सर्वाभिसारेण तया पत्त्यादिसेनया । पाटलीपुत्रनगरं चतुर्दिशमवेष्टयत् ॥२५४॥
तदल्पसारं चाणक्यशिबिरं नन्दभूपतिः । निर्गत्य कुट्टयामास सर्वं माजकलीलया ॥२५५॥
सचन्द्रगुप्तश्चाणक्यः समयज्ञः पलायत । नंष्ट्वाऽपि रक्षेदात्मानं सत्यात्मनि पुनः श्रियः ॥२५६॥
चन्द्रगुप्तं ग्रहीतुं च नन्दो ऽपि वरसादिनः । आदिशन्न सहन्ते हि राजानो राज्यकाङ्क्षिणम् ॥२५७॥
जितकाशिनि नन्दे च पुनर्नगरमीयुषि । नागरैरुत्सवश्चक्रे ऽनुरूपः स्वस्वसम्पदाम् ॥२५८॥
तेषां च सादिनामेकः साद्यश्वेन तरस्विना । अदवीयसि देशे ऽगाच्चन्द्रगुप्तस्य गच्छतः ॥२५९॥
चाणक्यो ऽपि तमायान्तं दूरादालोक्य सादिनम् । प्रत्युत्पन्नमतिश्चन्द्रगुप्तायैवं समादिशत् ॥२६०॥
सरसः पद्मिनीखण्डमण्डितस्यास्य वारिणि । आतिलीलायितं कृत्वा मज्जोन्मज्जेश्च मद्गिरा ॥२६१॥
ममज्ज चन्द्रगुप्तो ऽथ द्रागगाधे ऽपि वारिणि । धीरो वारिस्तम्भनिकां विद्यां साधितवानिव ॥२६२॥
स्वयं तु सरसस्तीरे चाणक्यः सुस्थिरासनः । समाधिनाटनं कृत्वा तस्थौ योगीव निर्ममः ॥२६३॥
क्ष्मातोद्यकोणाघाताभपादपातेन वाजिना । वायुवाजन नन्दाश्ववारो ऽथ स समाययौ ॥२६४॥
स पप्रच्छ च चाणक्यं भदन्त ! कथयाशु मे । किं त्वयाऽद्य पुमान्को ऽपि दृष्टो ऽभिनवयौवनः ? ॥२६५॥
समाधिभङ्गभीरुत्वाभिनयेन चणिप्रसूः । अङ्गुलीसञ्ज्ञया तस्य हुंकुर्वन्वार्यदर्शयत् ॥२६६॥

* अजाना समूहः आजकम् । १ आदिली° C. 1 । अतिली° C. 3 ॥

चन्द्रगुप्ताकर्षणाय स सादी मङ्क्तुमम्भसि। आमुक्तं मोक्तुमारेभे चलनीमिव नर्तकी ॥२६७॥
तस्यैवादाय निस्त्रिंशं निस्त्रिंशश्चणिभूरथ। अम्बुदेव्या बलीकर्तुमिव चिच्छेद तच्छिरः ॥२६८॥
एहि वत्सैहि वत्सेति चाणक्येनोदितः क्षणात्। सरसो निर्ययौ चन्द्रगुप्तश्चन्द्र इवोदधेः ॥२६९॥
चन्द्रमारोप्य तत्राश्वे चाणक्यः समभाषत। त्वामाख्यं सादिने यर्हि तर्हि किं चिन्तितं त्वया ? ॥२७०॥
चन्द्रगुप्तो ऽब्रवीदार्य ! मयैतच्चिन्तितं तदा। इदमेव खलु श्रेयो जानात्यार्यो हि न त्वहम् ॥२७१॥
चाणक्यो ऽचिन्तयन्नूनं सर्वदाऽपि वशंवदः। न हि मे व्यभिचार्येष यन्तुर्भद्र इव द्विपः ॥२७२॥
तयोश्च गच्छतोः पृष्ठे यमदूत इवोद्भटः। आययौ नन्दसाद्यन्यो वायुवाजेन वाजिना ॥२७३॥
तमापतन्तं दृष्ट्वा च चाणक्येनोदितः पुनः। चन्द्रगुप्तः सरोमध्ये न्यमङ्क्षीन्मङ्क्षु हंसवत् ॥२७४॥
रजकं वारितीरस्थं चणिसूनुरुवाच च। त्वच्छ्रेणिरुषितो राजा नश्य चेन्न मुमूर्षसि ॥२७५॥
रजको ऽप्यश्ववारं तं दृष्ट्वा दूरादुदायुधम्। सत्यमेवेति निश्चित्य पलायिष्टात्तजीवितः ॥२७६॥
बृहतीक्षालनैर्वस्त्रक्षालने ऽपि कृतश्रमः। तद्वस्त्राणि तु निर्नेक्तुमारेभे चणिसूः स्वयम् ॥२७७॥
तं च सादिनमायान्तं पृच्छन्तं पूर्वसादिवत्। तथैव मारयामास चणिपुत्रः कुशाग्रधीः ॥२७८॥
चाणक्यचन्द्रगुप्तौ तु ततः स्थानात्प्रचेलतुः। चिखिदे चन्द्रगुप्तो यान्क्षामकुक्षिर्बुभुक्षया ॥२७९॥

* सन्नाहम्।

चन्द्रगुप्तं बहिर्मुक्त्वा चाणक्यो ग्रामसन्मुखम् । चचाल भक्तमानेतुं भक्तं ग्राम विना न हि ॥२८०॥
ग्रामाद्भट्टं च निर्यान्तं तत्कालकृतभोजनम् । मन्दमन्दपदं तुन्दपरिमार्जं ददर्श सः ॥२८१॥
पप्रच्छ चेह विप्रस्य पालिर्लगति वा न वा ? । भट्टो ऽप्याख्यल्लगत्येव लग्ना मम हि सम्प्रति ॥२८२॥
पुनः पप्रच्छ चाणक्यो बुभुजे भट्ट ! किं त्वया ? । स आख्यत्सरसदध्ना कृतं शालिकरम्बकम् ॥२८३॥
चाणक्यो ऽचिन्तयद् ग्रामे भक्तार्थं भ्रमतो मम। विलम्बः स्यात्कथं भावी चन्द्रगुप्तस्तु मां विना॥२८४॥
एकाकी खलु नन्दाश्ववारैर्दुर्वारविक्रमैः । कुक्कुरैः सूकर इव चन्द्रगुप्तो ग्रहीष्यते ॥२८५॥
कुमारश्चन्द्रगुप्तश्च गृहीतो नन्दसादिभिः । तदा मनोरथो भावी स्वप्नराज्यसमो मम ॥२८६॥
उदरादस्य भट्टस्य तदाकृष्य करम्बकम् । ददामि तस्मै तत्प्राणा रक्षणीया यथा तथा ॥२८७॥
इति भट्टस्य चाणक्यस्तस्योदरमदारयत् । सद्यो रसवतीकार इव कूष्माण्डिकाफलम् ॥२८८॥
चाणक्यस्तत्क्षणं भट्टजठरात् पिठरादिव । स्वयं करम्बमाकृष्य चन्द्रगुप्तमभोजयत् ॥२८९॥
सचन्द्रगुप्तश्चाणक्यस्ततो भ्राम्यन्दिनात्यये । आससाद ग्राममेकं कुलायमिव ‡विष्किरः ॥२९०॥
तदा प्रविष्टो भिक्षार्थं ग्रामे तस्मिन्परिभ्रमन् । चाणक्यो रोरवृद्धाया ययौ कस्याश्चिदोकसि ॥२९१॥
बालकानां तया चोष्णा रब्बाऽभूत्परिवेषिता । तत्रैको बालकः पाणिं चिक्षेपातिबुभुक्षितः ॥२९२॥

‡ पक्षी ।

दग्धाङ्गुलीकं तं बालं रुदन्तं स्थविराऽवदत्। न किंचिदपि जानासि चाणक्य इव बालक ! ॥२९३॥
चाणक्यस्तद्वचः श्रुत्वा प्रविश्य च तदोकसि। पप्रच्छ वृद्धां चाणक्यदृष्टान्तः को ऽयमर्भके ॥२९४॥
जरत्युवाच चाणक्यो बहिर्देशमसाधयन्। आदौ नन्दपुरं रुन्धन्विगोपं प्रापदल्पधीः ॥२९५॥
शनैः पार्श्वेष्वभुञ्जानो मध्य एव क्षिपन्करम्। तथा बालो ऽप्ययं दग्धो ऽङ्गुलीष्वत्युष्णरब्बया ॥२९६॥
अहो स्त्रिया अप्येतस्या धीमत्त्वमिति चिन्तयन्। चाणक्यो हिमवत्कूटं ततो ऽगात्सन्निवेशनम् ॥२९७॥
तत्र पर्वतकाख्येन नृपेण सह सौहृदम्। चन्द्रगुप्तगुरुश्चक्रे तत्साहाय्यककाम्यया ॥२९८॥
तमन्यदोचे चाणक्यो नन्दमुन्मूल्य पार्थिवम्। तद्राज्यं संविभज्यावां गृह्णाव भ्रातराविव ॥२९९॥
ततः पर्वतकेनापि प्रत्यपद्यत तद्वचः। स हि चाणक्ययुक्तो ऽभूत्सन्नद्ध इव केसरी ॥३००॥
चाणक्यश्चन्द्रगुप्तश्च स च पर्वतको बहिः। उपचक्रमिरे नन्ददेशं साधयितुं ततः ॥३०१॥
एकं तु तैः पुरं रुद्धमपि भङ्क्तुमशाकि न। भिक्षार्थं भिक्षुवेषेण चाणक्यस्तत्र चाविशत् ॥३०२॥
तत्र त्रिदण्डी चाणक्यः पुरमध्ये परिभ्रमन्। ददर्शानादिकाः सप्त सकला मातृदेवताः ॥३०३॥
चाणक्यो ऽचिन्तयदिमाः सकलाः ‡पाहि देवताः। नूनमासां प्रभावेण पुरमेतन्न भज्यते ॥३०४॥

१ °र्शमादि° C 2 ॥
‡ अतिशयेन पान्तीति पाहिं।

मातरः कथमुत्थाप्या इति यावदचिन्तयत् । चाणक्यः पुररोधार्तैः पौरैस्तावदपृच्छ्यत ॥३०५॥
कदा हि भगवन्नेतत्पुरमुद्वेष्टयिष्यते । आख्याहि जानन्ति खलु प्रायः सर्वं भवादृशाः ॥३०६॥
चन्द्रगुप्तगुरुः स्माह हंहो शृणुत नागराः ! । मातरो यावदत्रैतास्तावदुद्वेष्टनं कुतः ॥३०७॥
द्रागथोत्पाटयामासुः पौरास्तन्मातृमण्डलम् । किं नाम कुरुते नार्तो धूतवश्यो विशेषतः ॥३०८॥
चाणक्यदत्तसङ्केतौ चन्द्रपर्वतकौ तदा । पलायिषातां जहृषुश्चात्यन्तं ते तु नागराः ॥३०९॥
व्याघृत्य वार्धिवेलेव दुर्धरौ पुनरेव तौ । अचिन्तितौ विविशतुः पुरे तत्र परन्तपौ ॥३१०॥
ततश्च तत्पुरं भङ्क्त्वा तौ द्वावपि महारथौ । साधयामासतुर्नन्ददेशं चाणक्यसारथी ॥३११॥
चाणक्यबुद्ध्या सन्नद्धौ तौ रुंद्धः स्मामितैर्बलैः । परितः पाटलीपुत्रनगरं गुरुविक्रमौ ॥३१२॥
क्षीणकोशः क्षीणबलः क्षीणधीः क्षीणविक्रमः । नन्दः पुण्यक्षयेणाभूद्यावत्पुण्यं हि ऋद्धयः ॥३१३॥
चाणक्यपार्श्वे नन्दोऽथ नासाग्रारूढजीवितः । धर्मद्वारमयाचिष्ट प्रेयः कस्य न जीवितम् ॥३१४॥
अज्ञापयच्च चाणक्यस्त्वमेकेन रथेन भोः ! । निर्याहि तत्र चात्मेष्टं यथाशक्त्याऽधिरोपयेः ॥३१५॥
न हि ते कोऽप्युपद्रोता रथेनैकेन गच्छतः । समाश्वसिहि मा भैषीर्द्विजन्मेव न हन्यसे ॥३१६॥
भार्ये द्वे कन्यकां चैकां यथाशक्ति वसूनि च । रथमारोप्य निरगान्नगराद्थ नन्दराट् ॥३१७॥

१ 'कस्य' M ॥

समायान्तं चन्द्रगुप्तं दृष्ट्वा द्रागनुरागभाक् । रथस्था नन्ददुहिता देवीवानिमिषाक्ष्यभूत् ॥३१८॥
मुखचन्द्रमयूखैश्च कटाक्षैर्नन्दनन्दिनी । चन्द्रगुप्तस्य सम्भोगसत्यङ्कारमिवार्पयत् ॥३१९॥
नन्दो जगाद तां वत्से ! भव स्वैरं स्वयंवरा । प्रायः क्षत्रियकन्यानां शस्यते हि स्वयंवरः ॥३२०॥
आयुष्मति ! स्वस्ति तुभ्यं रथादुत्तर मुञ्च माम् । त्वत्परिणायनशल्यं मम यातु त्वया सह ॥३२१॥
एवमुक्ता तु सा तस्माद्रथादुत्तीर्य सत्वरम् । चान्द्रगुप्तं रथवरमारोढुमुपचक्रमे ॥३२२॥
आरोहन्त्यां तदा तस्यां चन्द्रगुप्तरथस्य तु । नवारका अभज्यन्त यन्त्राक्रान्तेक्षुयष्टिवत् ॥३२३॥
असावमङ्गलकरी केयमायाति मद्रथम् । रथारुरुक्षुमिति तां चन्द्रगुप्तो न्यवारयत् ॥३२४॥
चाणक्यो ऽप्यवदन्मेमां चन्द्रगुप्त ! निवारय । शकुनं हि शुभायेदं मा स्म मंस्थास्त्वमन्यथा ॥३२५॥
शकुनेनामुना वत्स ! वृद्धिमेवाधिकाधिकाम् । गामी पुरुषयुगाणि नव यावत्तवान्वयः ॥३२६॥

ततश्च नन्दसदने प्रविष्टौ चन्द्रपर्वतौ । आरेभाते संविभक्तुं विपुलां नन्दसम्पदम् ॥३२७॥
तत्राऽभूत्कन्यका चैका सर्वस्वमिव रक्षिता । नन्दभूपतिराजन्म तामुपाजीजिवद्विषम् ॥३२८॥
तस्यां पर्वतकस्याभूदनुरागस्तदा तथा । यथा तां हृदये सो ऽधाद्ध्यातव्यामिव देवताम् ॥३२९॥
तां तु पर्वतकायैव चन्द्रगुप्तगुरुर्ददौ । तदैव पाणिग्रहणमङ्गलं च प्रचक्रमे ॥३३०॥

---

१ °नन्दना C 2 ॥ २ °पाम् C. 1–3. ॥

सञ्चक्राम विषं नस्यास्तदा पर्वतकेऽपि हि । होमाग्नितापसम्भूततत्स्वेदजलसङ्गमात् ॥३३१॥
सङ्क्रान्तविषवेगार्तस्तदा पर्वतको ऽभवत् । शिथिलीभूतसर्वाङ्गश्चन्द्रगुप्तमुवाच च ॥३३२॥
अहं पीतविष इव वक्तुमप्युत्सहे न हि । परित्रायस्व हे वत्स ! म्रियते ऽद्य न संशयः ॥३३३॥
मान्त्रिका मान्त्रिका वैद्या वैद्या इत्यनुलापिनम् । चाणक्यश्चन्द्रगुप्तं द्राक्कर्णे भूत्वैवमन्वशात् ॥३३४॥
विनौषधं हि ते व्याधिर्यदि यात्येष यातु तत् । कुरु मौनमुपेक्षस्व स्वस्ति ते स्तादमुं विना ॥३३५॥
अर्धराज्यहरं मित्रं यो न हन्यात्स हन्यते । इति मार्यो ऽयं स्वयं चेन्म्रियते पुण्यवानसि ॥३३६॥
अनुशिष्यैवमुत्क्षिप्तभृकुटीभङ्गसञ्ज्ञया । चाणक्यो वारयामास मौर्यं धुर्यो मनीषिणाम् ॥३३७॥
ततश्च हिमवत्कूटपार्थिवः प्राप पञ्चताम् । तच्चन्द्रगुप्तसाम्राज्यद्वयमप्यभवत्तदा ॥३३८॥
एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते । पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तो ऽभवन्नृपः ॥३३९॥

चन्द्रगुप्तस्य राज्ये तु के ऽपि नन्दानुजीविनः । अकार्षुः पुरुषाश्चौर्यं प्रदेशे विषमे स्थिताः ॥३४०॥
पुररक्षाक्षमं कंचिद्वीक्षमाणो ऽथ पूरुषम् । चाणक्यो ऽव्रजदेकस्य कौलिकस्य निकेतनम् ॥३४१॥
मत्कोटकदरीष्वग्निं क्षिपन्नासीत्तदा च सः । तं पप्रच्छ च चाणक्यः किं करोष्यथ सो ऽब्रवीत् ॥३४२॥
मत्पुत्रोपद्रवकरान्दुष्टान्मत्कोटकानमून् । मूलादुन्मूलयन्नस्मि दुष्टानां नान्यदर्हति ॥३४३॥

१ स्म C । ॥

अहो धीव्यवसायाभ्यां कौलिको ऽयं प्रकृष्यते । चिन्तयन्निति चाणक्यश्चन्द्रगुप्तान्तिके ययौ ॥३४४॥
आह्वाय्य कौलिकं तत्र चन्द्रगुप्ताच्चणिप्रसूः । कारयामास नगराध्यक्षं शिक्षाविचक्षणः ॥३४५॥
ते नन्दपुरुषाश्चौरा विविधैर्भोजनादिभिः । विश्वास्य जघ्निरे तेन चाणक्यस्य मुधा न धीः ॥३४६॥

इतश्च मौर्यस्य गुरुर्यस्मिन्ग्रामे पुरा किल । भिक्षां न प्राप्तस्तद्ग्रासानाजुहाव कुटुम्बिनः ॥३४७॥
जातकोपस्तदा तेषां क्षुद्रबुद्ध्या चणिप्रसूः । आम्राणां कुरुत वृतिं वंशीनामिति चादिशत् ॥३४८॥
चाणक्यस्य निदेशेन तैस्तद्ग्रामकुटुम्बिभिः । वंशीश्छित्त्वा वृतिश्चक्रे सहकारमहीरुहाम् ॥३४९॥
रे रे मयैतदादिष्टं वंशीनां क्रियतां वृतिः । आम्रैरिति वदन्मौर्यगुरुः कोपमनाटयत् ॥३५०॥
उत्पाद्य कृत्रिमं दोषमिमं तेषां कुटुम्बिनाम् । सबालवृद्धं चाणक्यो ग्राममज्वालयद्रुषा ॥३५१॥

अन्येद्युश्चन्द्रगुप्तस्य कोशो नास्तीति चिन्तया । दीनारैः स्थालमापूर्य चाणक्यो लोकमब्रवीत् ॥३५२॥
मया सहाक्षैर्दीव्यन्तु यो मां जेष्यति तेन हि । दीनारपूरितं स्थालमिदं लभ्यमसौ पणः ॥३५३॥
जेष्यामि यं पुनरहं तस्य पार्श्वादहो जनाः । दीनारमेकमादास्ये ग्राह्णि रेखेव वागियम् ॥३५४॥
ततश्च रन्तुमारेभे जनैः सह दिवानिशम् । चन्द्रगुप्तगुरुः कूटपाशकैस्तु जिगाय तान् ॥३५५॥
एषो ऽर्थोपार्जनोपायः सविलम्बो ऽल्पको ऽपि च । इत्युपायान्तरं कर्तुं पौरानाह्वास्त सोऽखिलान् ॥३५६॥

१ प्राप C. 1–3 ॥ २ °प्रासकै° C. 1–2 ॥

ततश्च भोजयित्वा तानपीप्यद्वरवारुणीम् । पानगोष्ठ्यां च बंहिष्ठानुच्चतालानवीवदत् ॥३५७॥
हसनं नर्तनं गानमन्यच्च क्षीवचेष्टितम् । चाणक्यो ऽभिनयन्नूचे ऽर्थार्जनोपायपण्डितः ॥३५८॥
वस्त्रे द्वे धातुरक्ते मे त्रिदण्डं स्वर्णकुण्डिका । नृपतिर्वशवर्ती च तद्वादयत झुम्बरीम् ॥३५९॥
ततश्च झुम्बरीवाद्ये कौलिकैर्वादिते सति । व्याजहार परो मत्तः करमुत्क्षिप्य नागरः ॥३६०॥
योजनसहस्रयाने यानीभस्य पदान्यहो । तानि स्वर्णसहस्रेण प्रत्येकं पूजयाम्यहम् ॥३६१॥ (युग्मम्)
प्राग्वद्वादितझुम्बर्यामपरः कश्चिदब्रवीत् । तिलानामाढके ह्युप्ते प्ररूढे फलिते भृशम् ॥३६२॥
तिला भवन्ति यावन्तस्तावन्ति मम सद्मनि । कार्त्तस्वरसहस्राणि सन्ति सङ्ख्या न विद्यते ॥३६३॥ (युग्मम्)
प्राग्वद्वादितझुम्बर्यामन्यो ऽवादीद् घनागमे । प्रवहन्त्या गिरिनद्या वारिपूरेण भूयसा ॥३६४॥
प्रक्षणेनैकदिवसोत्पन्नेनापि गवामहम् । संवरं विरचय्योच्चैः स्खलयामि पयोरयम् ॥३६५॥ (युग्मम्)
प्राग्वद्वादितझुम्बर्यामन्यो ऽवददहं खलु । जात्यनवकिशोराणामेकवासरजन्मनाम् ॥३६६॥
समुद्धृतैः स्कन्धकेशैर्वेष्टयामि समन्ततः । पाटलीपुत्रनगरं वृक्षं लूतेव तन्तुभिः ॥३६७॥ (युग्मम्)
प्राग्वद्वादितझुम्बर्यामूचे ऽन्यो मम वेश्मनि । शालिरेको भिन्नभिन्नशालिबीजप्रसूतिमान् ॥३६८॥
अन्यो गर्दभिकाशालिः स पुनर्लूनलूनकः । पुनः पुनः फलन्त्येवेत्येतद्रत्नद्वयं जनाः ॥३६९॥ (युग्मम्)
प्राग्वद्वादितझुम्बर्यां स्माहान्यो मदविह्वलः । सहस्रसङ्ख्यं द्रविणं विद्यते मम सद्मनि ॥३७०॥

अनृणो ऽहं सुगन्धिश्च जात्यचन्दनचर्चितः । सदाऽपि वश्या मे भार्या मत्तुल्यो नापरः सुखी ॥ (युग्मम्)
प्राग्वद्वादितझुम्बर्यां मतिज्ञानमहानिधिः । चणिसूरेवमज्ञासीत्सर्वेषां श्रीमतां श्रियम् ॥३७२॥
एकयोजनगामीभपदप्रमितिकाञ्चनम् । तथैकतिलजतिलमिताः स्वर्णसहस्रकाः ॥३७३॥
प्रतिमासं चैकदिननवनीतभवं घृतम् । एकस्मिन्दिवसे जातास्तथा जात्यकिशोरकाः ॥३७४॥
कोष्ठागाराणां भरणप्रमाणाः शालयो ऽपि च । तैश्चाणक्याय ददिरे तन्मर्मविदभूद्धि सः ॥३७५॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)

चक्रे समर्थमर्थेन तेन मौर्य चणिप्रसूः । धियां निधिरमात्यो हि कामधेनुर्महीभुजाम् ॥३७६॥

इतश्च तस्मिन्दुष्काले कराले द्वादशाब्दके । आचार्यः सुस्थितो नाम चन्द्रगुप्तपुरे ऽवसत् ॥३७७॥
अन्नदौःस्थ्येन निर्वाहाभावान्निजगणं स तु । देशान्तराय व्यसृजत्तत्रैवास्थात्स्वयं पुनः ॥३७८॥
व्याघुट्य क्षुल्लकौ द्वौ तु तत्रैवाजग्मतुः पुनः । आचार्यैश्च किमायातावित्ति पृष्टावशंसताम् ॥३७९॥
वियोगं गुरुपादानां न ह्यावां सोढुमीश्वहे । तद्वः पार्श्वे जीवितं वा मरणं वाऽऽवयोः शुभम् ॥३८०॥
आचार्यः स्माह न कृतं युवाभ्यां साध्वमुत्र हि । अगाधे क्लेशजलधौ युवां मुग्धौ पतिष्यथः ॥३८१॥
इत्युक्त्वा तावनुज्ञातौ गुरुणा तत्र तस्थतुः । भक्त्या शुश्रूषमाणौ तं तत्पदाम्भोजषट्पदौ ॥३८२॥
ततो दुर्भिक्षमाहात्म्याद्भिक्षयाऽत्यल्पलब्धया । सारयित्वा गुरूणां तौ भुञ्जानावत्यसीदताम् ॥३८३॥

अपूर्यमाणाहारौ तौ क्षीयमाणौ बुभुक्षया । क्षुल्लकावषडक्षीणौ[†] मन्त्रयामासतुर्मिथः ॥३८४॥
प्रकाश्यमानं गुरुणा गीतार्थान्संयतान्प्रति । अश्रौष्वावामदृश्यत्वकारकं दिव्यमञ्जनम् ॥३८५॥
तत्प्रयोज्यः प्रयोगो ऽयमावाभ्यां कुक्षिपूर्तये । पूर्णकुक्षी च निश्चिन्तौ गुरुपादानुपास्वहे ॥३८६॥
अदृश्यीभूय सम्भूय तौ द्वौ तत्रैव वासरे । भोजनावसरे चन्द्रगुप्तस्याभ्यर्णमीयतुः ॥३८७॥
अदृश्यमानौ तौ क्षुल्लौ चन्द्रगुप्तस्य भाजने । बुभुजाते यथाकामं बन्धू प्राणप्रियाविव ॥३८८॥
एवं दिने दिने ताभ्यां भुञ्जानाभ्यां महीपतिः । ऊनोदरत्वेनोदस्थात्तपस्वीव जितेन्द्रियः ॥३८९॥
कृष्णपक्षक्षपाजानिरिव क्षामः शनैः शनैः । चन्द्रगुप्तनरेन्द्रोऽभूत्ताभ्यामाच्छिन्नभोजनः ॥३९०॥
निजामतृप्तिं कस्यापि तथा ऽप्यकथयन्न सः । नित्यं क्षुत्पीडितो ऽप्यस्थान्मदवानिव वारणः ॥३९१॥
अपृच्छदेकदैकान्ते मौर्य मौर्यगुरुः सुधीः । प्रत्यहं क्षीयमाणो ऽसि वत्स ! क्षयरुजेव किम् ॥३९२॥
मौर्यो ऽवदन्न तावन्मे ह्रासेन परिवेष्यते । किं तु को ऽपि प्रेत इवाच्छिनत्ति मम भोजनम् ॥३९३॥
तटस्थिता विदन्त्यार्या मां पूर्णाहारभोजिनम् । न त्वर्धमपि भुञ्जे ऽहं न जाने किंचिदप्यदः ॥३९४॥
चाणक्यो ऽवोचदद्यापि किमेवमसि मुग्धधीः । मुमुक्षुणेवातत्त्वज्ञेनात्मा यत्खेदितश्चिरम् ॥३९५॥
भवत्विदानीमपि हि युक्तमाख्यातवानसि । तव भोजनलुण्टाकमादास्ये न चिरादहम् ॥३९६॥

[†] नेत्रपट्टकरहितम् द्वावेवेति यावत् ।

इत्युक्त्वा चन्द्रगुप्तस्य भोजनस्थानभूतले । प्रातस्तरल्लोष्टचूर्णं मसृणं चिक्कसादपि ॥३९७॥
भोक्तुं निषण्णे च नृपे भोक्तुमागतयोस्तयोः । पदानि प्रत्यबिम्ब्यन्त सचूर्णे तत्र भूतले ॥३९८॥
राज्ञि भुक्तोत्थिते तत्र भूतले चणिनन्दनः । पदपङ्क्तिं तयोर्दृष्ट्वा चिन्तयामास चेतसि ॥३९९॥
मानुषः को ऽपि भून्यस्तपादः सिद्धाञ्जनः खलु । हरते भोजनं स्थालाददृश्यीभूय लीलया ॥४००॥
इति द्वितीयदिवसे चाणक्यो भोजनौकसि । भोजनावसरे धूमं सूचिभेद्यमकारयत् ॥४०१॥
प्राग्वद्राज्ञा सहकैत्र स्थाले भुञ्जानयोस्तयोः । बाष्पायन्ते स्म नेत्राणि धूम्रस्तोमेन मूर्च्छता ॥४०२॥
नेत्राञ्जनं तयोः सर्वमदृश्यीकारकारणम् । बाष्पवारिभिराकृष्य द्रागनीयत पङ्कवत् ॥४०३॥
अनञ्जनदृशौ तौ तु भुञ्जानौ तत्र भाजने । दृष्टौ नरेन्द्रलोकेन कोपाद् भृकुटिकारिणा ॥४०४॥
नाजल्पत्को ऽपि चाणक्यभयान्न्यक्कारकृत्तयोः । चाणक्यस्तु प्रवचनोड्डाहभीरुरदो ऽवदत् ॥४०५॥
पितरावृषिरूपेण युवां हि परमेश्वरौ । कृत्वा प्रसादमस्मासु स्वस्मै स्थानाय गच्छतम् ॥४०६॥
तयोर्गतवतो राजा सविषादमदो ऽवदत् । अनयोरहमुच्छिष्टभोजनेनास्मि दूषितः ॥४०७॥
चाणक्यः स्माह मा कार्षीर्दोषत्वारोपणं गुणे । आहारसंविभागेन मुनीनां पुण्यवानसि ॥४०८॥
धन्यः सो ऽपि हि यो भिक्षामनगाराय यच्छति । एकस्थालातिथीभूतमुनिस्त्वं तु किमुच्यसे ॥४०९॥
एव च मौर्य सम्बोध्याचार्याणां पार्श्वमेत्य च । चाणक्यो ऽदादुपालम्भं क्षुल्लान्यायं प्रकाशयन् ॥४१०॥

आचार्यः स्माह को दोषः क्षुल्लयोरनयोर्ननु । स्वकुक्षिम्भरयः सङ्घपुरुषा यद्भवादृशाः ॥४११॥
चाणक्यो ऽपि तमाचार्यं मिथ्यादुष्कृतपूर्वकम् । वन्दित्वा ऽभिदधे साधु शिक्षितो ऽस्मि प्रमद्वरः ॥४१२॥
अद्यप्रभृति यद्भक्तपानोपकरणादिकम् । साधूनामुपकुरुते तदादेयं मदोकसि ॥४१३॥
इत्यभिग्रहमादाय चाणक्यो दृढनिश्चयः । तदादि पालयामास स्वगार्हस्थ्यं कृतार्थयन् ॥४१४॥
चन्द्रगुप्तं तु मिथ्यादृक्पाखण्डिमतभावितम् । अनुशासितुमारेभे हितस्तस्य पितेव सः ॥४१५॥
असंयना ह्यमी पापाः प्रकृत्या स्त्रीषु लम्पटाः । अपि सम्भाषितुं नार्हास्तत्पूजायां तु का कथा ॥४१६॥
कपायपक्षिवृक्षेषु कृतघ्नेषु दुरात्मसु । एतेषु निष्फलं दानमूषरेष्वम्बुवृष्टिवत् ॥४१७॥
आत्मानमाश्रितं चापि राजन् ! लोहतरण्डवत् । पातयेयुः भवाम्भोधौ तद्भक्तिं तेषु मा कृथाः ॥४१८॥
मौर्यो ऽवादीन्मम ह्यार्य ! त्वद्वचो गुरुसम्मितम् । नैते संयमिन इति प्रत्यायय तथापि माम् ॥४१९॥
पुरे प्रघोषं चाणक्येस्ततश्चैवमकारयत् । धर्मं श्रोष्यति सर्वेषामपि पाखण्डिनां नृपः ॥४२०॥
ततश्चाहूय तान्सर्वाञ्शुद्धान्तस्यादवीयसि । देशे निवेशयामास स विविक्ते विविक्तधीः ॥४२१॥
शुद्धान्तासन्नदिग्भागे चाणक्येनाग्रतो ऽपि हि । अक्षेप्यलक्ष्यं श्लक्ष्णं च लोष्टचूर्णं महीतले ॥४२२॥
तत्रोपदेशनार्थं ते चाणक्येन प्रवेशिताः । ज्ञात्वा विविक्तं स्थानं तच्छुद्धान्ताभिमुखं ययुः ॥४२३॥

१ 'तयत्तु C । M ॥

स्त्रीलोलास्ते स्वभावेन नृपस्त्रैणमसंयताः । गवाक्षविवरैर्द्रष्टुमुपचक्रमिरे ततः ४२४॥
ते राजपत्नीः पश्यन्तस्तावदस्थुर्दुराशयाः । न यावदाययौ राजा निषेदुस्तु तदागमे ॥४२५॥
ततश्च चन्द्रगुप्ताय धर्ममाख्याय ते ययुः । पुनरागममिच्छन्तो ऽन्तःपुरस्त्रीदिदृक्षया ॥४२६॥
गतेषु तेषु चाणक्यश्चन्द्रगुप्तमभाषत । पश्य स्त्रीलोलताचिह्नं वत्स ! पाषण्डिनामिह ॥४२७॥
यावत्त्वदागमं तैर्हि त्वदन्तःपुरमीक्षितम् । गवाक्षविवरक्षिप्तलोचनैरजितेन्द्रियैः ॥४२८॥
पदपङ्क्तिमिमां तेषां सुव्यक्तं प्रतिबिम्बिताम् । गवाक्षविवराधस्ताद् दृष्ट्वा प्रत्ययमुद्वह ॥४२९॥
सञ्जातप्रत्यये राज्ञि द्वितीये ऽहनि तद्गुरुः । धर्ममाख्यातुमाह्वास्त तत्र जैनमुनीनपि ॥४३०॥
निषेदुस्ते प्रथमतो ऽप्यासनेष्वेव साधवः । स्वाध्यायावश्यकेनाथ नृपागममपालयन् ॥४३१॥
ततश्च धर्ममाख्याय साधवो वसतिं ययुः । इर्यासमितिलीनत्वात्पश्यन्तो भुवमेव ते ॥४३२॥
गवाक्षविवराधस्ताल्लोष्टचूर्णं समीक्ष्य तम् । चाणक्यश्चन्द्रगुप्ताय तद्यथास्थमदर्शयत् ॥४३३॥
ऊचे च नैते मुनयः पाषण्डिवदिहाययुः । तत्पदप्रतिबिम्बानि न दृश्यन्ते कुतो ऽन्यथा ॥४३४॥
उत्पन्नप्रत्ययः साधून् गुरून्मेने ऽथ पार्थिवः । पाषण्डिषु विरक्तो ऽभूद्विषयेष्विव योगवित् ॥४३५॥
एवं चानेकशः संविधानैः प्रथितधीगुणः । चाणक्यश्चिन्तयामास मौर्यश्रीवल्लिमण्डपः ॥४३६॥

१ °कृतम् *C*. 1,2 ॥

साधयामि विषाहारं चन्द्रगुप्तं शनैः शनैः । रसायनं यथाऽस्य स्याद्गरदः प्रभवेन्न च ॥४३७॥
मौर्यो ऽथ मौर्यगुरुणा गुरुणेव महाधिया । अभोज्यत विषाहारं दिनं प्रत्यधिकाधिकम् ॥४३८॥
अन्येद्युश्चन्द्रगुप्तेन सह भोक्तुं प्रचक्रमे । रागोत्कटतया राज्ञी दुर्धरा नाम गुर्विणी ॥४३९॥
दृष्ट्वा विषान्नं भुञ्जानां तां गर्भापायशङ्कया । व्याहरत्किं कृतमिति द्राक् चाणक्यो ऽभ्यधावत ॥४४०॥
विषान्नास्वादमात्रेण राज्ञी सा प्राप पञ्चताम् । दध्यौ चणिप्रसूर्मा स्म गर्भो ऽप्यस्याः प्रलीयताम् ॥४४१॥
इति तस्या विपन्नायास्तदोदरमदारयत् । तस्माद्गर्भमाचकर्ष मुक्तां शुक्तिपुटादिव ॥४४२॥
विषबिन्दुश्च सङ्क्रान्तस्तस्य बालस्य मूर्धनि । ततश्च गुरुभिर्बिन्दुसार इत्यभिधायि सः ॥४४३॥
बिन्दुसारे प्रपेदाने वयो मन्मथवल्लभम् । समाधिमरणं प्राप्य चन्द्रगुप्तो दिवं ययौ ॥४४४॥
चाणक्यो ऽथ न्यधाद्राज्ये बिन्दुसारं सुसारधीः । सचिवायतसिद्धिश्च तदाज्ञाकृद्बभूव सः ॥४४५॥

इतश्च मौर्यमाज्ञाप्य पूर्वं हि चणिसूनुना । सुबन्धुर्नाम दाक्षिण्यात्सचिवः कारितो ऽभवत् ॥४४६॥
स्वातन्त्र्यमन्त्रितालिप्सुश्चाणक्ये मत्सरी स तु । तदुच्छेदाय रहसि बिन्दुसारमदो ऽवदत् ॥४४७॥
नाऽहं प्रमाणभूतो ऽस्मि यद्यपीश ! तथाऽपि ते । परिणामहितं वच्मि कुलीनानां क्रमो ह्ययम् ॥४४८॥
विश्वासघातकस्यास्य मा चाणक्यस्य विश्वसीः । एष त्वन्मातुरुदरं दुरात्मा खल्वदारयत् ॥४४९॥
पप्रच्छ धात्रीराहूय बिन्दुसारस्तदैव तत् । तथैव ताभिरप्युक्ते चाणक्याय चुकोप च ॥४५०॥

राजानं कुपितं ज्ञात्वा चाणक्यो ऽचिन्तयत्स्वयम् । सुबन्धुना कृतघ्नेन राजा मय्यन्यथाकृतः ॥४५१॥
अयं हि प्रागमात्यत्वे कारितो ऽभून्मयैव हि । तन्मे प्रत्युपकाराय युक्तमस्य कुलोचितम् ॥४५२॥
तदत्यासन्नमृत्योर्मे पर्याप्तं राज्यचिन्तया । कृते प्रतिचिकीर्बुद्धिं प्रयोक्ष्ये ऽहं तथाऽपि हि ॥४५३॥
मद्वीपिशाचिकाग्रस्तः सो ऽपि मा राज्यमश्नुताम् । इति तस्यापकारेण करिष्ये समयोचितम् ॥४५४॥
संयोज्य योगमन्त्राद्यैर्वरगन्धान्समुद्गके । लिखिताक्षरभूर्जेन सह सो ऽक्षिपदुग्रधीः ॥४५५॥
समुद्गं जतुनाऽऽलिप्य पेटायां स सुधीर्न्यधात् । तालयामास तां पेटां तालकानां शतेन च ॥४५६॥
गेहान्तर्न्यस्य तां गेहसर्वस्वमिव पेटिकाम् । दीनानाथादिपात्रेभ्यश्चाणक्यो न्यददाद्धनम् ॥४५७॥
ततश्च नगरासन्नकरीषस्थलमूर्धनि । निषद्यानशनं चक्रे चाणक्यो निर्जरोद्यतः ॥४५८॥
यथाविपन्नजननीवृत्तान्तं धात्रिकामुखात् । विज्ञाय बिन्दुसारो ऽनुशयानस्तत्र चाययौ ॥४५९॥
उवाच क्षमयित्वा च चाणक्यं चन्द्रगुप्तसूः । पुनर्वर्तय मे राज्यं तवादेशकृदस्म्यहम् ॥४६०॥
मौर्याचार्यो ऽभ्यधाद्राजन्कृतं प्रार्थनयाऽनया । शरीरे ऽपि निरीहो ऽस्मि साम्प्रतं किं त्वया मम ॥४६१॥
अचलन्तं प्रतिज्ञाया मर्यादाया इवार्णवम् । चन्द्रगुप्तगुरुं ज्ञात्वा बिन्दुसारो ययौ गृहम् ॥४६२॥
चुकोप गतमात्रो ऽपि बिन्दुसारः सुबन्धवे । सुबन्धुरपि शीतार्त इवोचे कम्पमुद्वहन् ॥४६३॥
देव ! सम्यगविज्ञाय चाणक्यो दूषितो मया । गत्वा तं क्षमयाम्यद्य यावत्तावत्प्रसीद मे ॥४६४॥

इति गत्वा सुबन्धुस्तं क्षमयामास मायया । अचिन्तयच्च मा भूयो ऽप्यसौ व्रजतु पत्तने ॥४६५॥
अमुना कुविकल्पेन स राजानं व्यजिज्ञपत् । चाणक्यं पूजयिष्यामि तस्यापकृतिकार्यहम् ॥४६६॥
अनुज्ञातस्ततो राज्ञा सुबन्धुश्चणिजन्मनः । पूजामनशनस्थस्य विधातुमुपचक्रमे ॥४६७॥
पूजां सुबन्धुरापातबन्धुरां विरचय्य च । धूपाङ्गारं करीषान्तश्चिक्षेपान्यैरलक्षितः ॥४६८॥

धूपाङ्गारेणानिलास्फालितेन प्रोद्यज्ज्वाले द्राक्करीषस्थले तु ।
दारुप्रायो दह्यमानो ऽप्यकम्पो मौर्याचार्यो देव्यभूत्तत्र मृत्वा ॥४६९॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते महाकाव्ये शकटालमरण–स्थूलभद्रदीक्षाव्रतचर्या–सम्भूतविजयस्वर्गगमन–चाणक्य–चन्द्रगुप्तकथा–बिन्दुसारजन्मराज्यवर्णनो नामाष्टमः सर्गः ।



नवमः सर्गः



चाणक्यगृहमन्येद्युर्बिन्दुसारात्सुबन्धुना । वस्तुं ययाचे सम्भाव्यचाणक्यद्रव्यलिप्सुना ॥१॥
राज्ञाऽऽदिष्टः प्रविष्टश्च सुबन्धुस्तत्र वेश्मनि । तां पेटां तालकशताबद्धद्वारां ददर्श च ॥२॥
अचिन्तयच्च चाणक्यसर्वस्वमिह विद्यते । नान्यथा तालकशतेनेदृशी स्यान्नियन्त्रणा ॥३॥
पेटायास्तान्यभज्यन्त तालकानि सुबन्धुना । कारागृहसमाकृष्टबन्द्याः पादान्दुका इव ॥४॥
मध्ये दृष्ट्वा समुद्गं तं चिन्तयामास चेतसि । नियतं रत्नकोशो ऽयं यस्य रक्षेयमीदृशी ॥५॥
तमपि स्फोटयामास समुद्गं नालिकेरवत् । लोकोत्तरमहागन्धान्मध्ये गन्धान्ददर्श च ॥६॥
गन्धान्सुगन्धीनाजघ्रौ गन्धलुब्धो द्विरेफवत् । मूर्धानं धूनयन्नुच्चैः सुबन्धुर्जातविस्मयः ॥७॥
सनाथमक्षरैर्भूर्जमथ तत्र ददर्श च । स्याद् द्रव्यबीजकमिति वाचयामास च स्वयम् ॥८॥
गन्धानाघ्राय य इमान्न तिष्ठेन्मुनिचर्यया । अन्तकस्य स तत्कालमतिथित्वं गमिष्यति ॥९॥
वाचयित्वाऽक्षराण्येतान्यतीव विषसाद सः । चाणक्यस्य प्रयोगो ऽयं न मुधेति सनिश्चयः ॥१०॥
तथाऽपि भूर्जप्रोक्तार्थप्रत्ययार्थं सुबन्धुना । गन्धानाघ्राप्य तान्को ऽपि दिव्याहारमभोज्यत ॥११॥

द्राग्मृते पुरुषे तत्र सुबन्धुर्मुनिसन्निभः। बभूव विषयास्वादमनिच्छन्मनसाऽपि हि ॥१२॥
अभव्य इत्यविरतो नटितो जीविताशया। सुबन्धुर्बन्धुरहितो विजहार वसुन्धराम् ॥१३॥

तनुजन्मा त्वशोकश्रीर्बिन्दुसारस्य चाभवत्। बिन्दुसारे विपेदाने सो ऽभूदवनिशासनः ॥१४॥
कुणालो नाम तनुभूरशोकस्याप्यजायत। कुमारभुक्तौ राजाऽदात्तस्मायुज्जयिनीं पुरीम् ॥१५॥
उज्जयिन्यां स्थितो राजनियुक्तैर्बालधारकैः। रक्ष्यमाणो जीवितवत्सो ऽभूत्साग्राष्टहायनः ॥१६॥
राज्ञे च तावद्वयसं तमाख्यन्बालधारकाः। दध्यावध्ययनार्हो ऽयमिति राजाऽपि हर्षभाक् ॥१७॥
ततो राजा कुमारायालिखल्लेखे स्वयं त्विदम्। प्राकृतं सुखबोधाय 'यत्कुमारो अधीयउ' ॥१८॥
सपत्नी जननी तत्र कुणालस्य निषेदुषी। राज्ञः पार्श्वादुपादाय तं तु लेखमवाचयत् ॥१९॥
मत्सुतस्यैव राज्यं स्तात्कुणालस्य तु नेति सा। अन्यचित्ते नरपतावकरोत्कूटमीदृशम् ॥२०॥
निष्ठीवनार्द्रीकृतया नेत्राञ्जनशलाकया। आकृष्य कज्जलं नेत्रादकारे बिन्दुकं ददौ ॥२१॥
अशोको ऽपि प्रमादेन नानुवाचितमेव हि। तं लेखं मुद्रयामासोज्जयिन्यां प्राहिणोदथ ॥२२॥
तं लेखं पितृनामाङ्कमुद्रालङ्कृतमस्तकम्[1]। पाणिभ्यामाददे द्वाभ्यां कुमारो मूर्ध्नि च न्यधात् ॥२३॥
तं लेखं वाचयामास कुमारो लेखकादथ। वाचयित्वा च तूष्णीको विषण्णो लेखको ऽप्यभूत् ॥२४॥

१ °ङ्क मु° C 1 M. ॥

तस्मिन्नुदश्रुनयने लेखार्थं वक्तुमक्षमे । ततश्च तत्कराल्लेखं कुमारः स्वयमाददे ॥२५॥
दर्शनोत्प्रेक्षणैर्वर्णानपि वाचयितुं क्षमः । वाचयामास तं लेखमशोकतनयः स्वयम् ॥२६॥
'अंधीयउ' इति प्रेक्ष्याक्षराण्युज्जयिनीपतिः । दध्यौ मौर्यान्वये को ऽपि गुर्वाज्ञालङ्घको न हि ॥२७॥
लोप्स्यामि राज्ञो यद्याज्ञामहमेवाग्रतः स्थितः । तदा मत्कृत एवाध्वाऽन्येषामपि भविष्यति ॥२८॥
ततश्च साहसनिधिर्मौर्यवंशाब्धिचन्द्रमाः । अनक्ति स्म स्वयमपि नेत्रे तप्तशलाकया ॥२९॥
विज्ञाय तमशोकश्रीर्महासाहसकारकम् । धिक् कूटलेखको ऽस्मीति निनिन्दात्मानमुच्चकैः ॥३०॥
अचिन्तयच्च दुर्दैवाधिष्ठितो ऽहं हताशयः । कुमारो यदभूदेवं प्रमादलिखितेन मे ॥३१॥
राज्यं वा मण्डलित्वं वा वत्सो नाद्यायमर्हति । मयि यस्येदृशी भक्तिर्धिक्तस्येदृशमागतम् ॥३२॥
यौवराज्यमसौ भुक्त्वा भविष्यति नृपो ऽप्यसौ । मनोरथेन पर्याप्तममुना साम्प्रतं मम ॥३३॥
कुणालायेत्यशोकश्रीर्ददौ ग्रामं महर्द्धिकम् । तत्सापत्नकुमाराय ददावुज्जयिनीं पुनः ॥३४॥
कुणालस्य तु तं ग्रामं भुञ्जानस्य परेद्यवि । अभूच्छरच्छ्रियां पत्न्यां सूनुः सम्पूर्णलक्षणः ॥३५॥
वर्धापिकाभ्यो दासीभ्यः कुमारः पारितोषिकम् । दत्त्वा महोत्सवं चक्रे पुत्रजन्मनिबन्धनम् ॥३६॥
मातुर्मनोरथं लब्ध्या वृथैवाद्य करोम्यहम् । इत्यागात्पाटलीपुत्रं कुणालो राज्यलिप्सया ॥३७॥
ततो गीतविनोदेन स्वेच्छया स पुरे भ्रमन् । प्रेयान्बभूव लोकस्य गान्धर्वेणातितुम्बुरुः ॥३८॥

पाटलीपुत्रनगरे यत्र यत्र जगौ स तु । तत्र तत्र ययुः पौरा गीताकृष्टाः कुरङ्गवत् ॥३९॥
गान्धर्वेणाद्भुतं श्रुत्वा तमन्ध इति पार्थिवः । आहूय जवनीगुप्तं कृत्वा गातुं समादिशत् ॥४०॥
यथास्थानं मन्द्रमध्यतारैः षड्जादिभिः स्वरैः । पद्यप्रबन्धमीदृक्षं जगौ रागं स पोषयन् ॥४१॥
प्रपौत्रश्चन्द्रगुप्तस्य बिन्दुसारस्य नप्तृकः । एषो ऽशोकश्रियः सूनुरन्धो मार्गति काकिणीम् ॥४२॥
पद्यप्रबन्धमन्धेन गीयमानं महीपतिः । श्रुत्वा पप्रच्छ को नाम त्वमस्याख्याहि गायन ! ॥४३॥
स उवाच तवैवास्मि कुणालो नाम नन्दनः । त्वदाज्ञालेखमीक्षित्वा यो ऽन्धः स्वयमजायत ॥४४॥
ततो जवनिकां वेगादपसार्य नरेश्वरः । दृष्ट्वोपलक्ष्य स्वं सूनुमुदश्रुः परिषस्वजे ॥४५॥
ऊचे च राजा तुष्टो ऽस्मि वत्स ! तुभ्यं ददामि किम् ? । व्यजिज्ञपत्कुमारोऽपि याचे ऽहं देव काकिणीम् ॥
किमेतद्याचितमिति राज्ञि ब्रुवति मन्त्रिणः । ऊचिरे राजपुत्राणां काकिणी राज्यमुच्यते ॥४७॥
राजा प्रोवाच हे वत्स ! किं राज्येन करिष्यसि । तत्ते स्यादन्यसादेव दैवापहृतचक्षुषः ॥४८॥
व्यजिज्ञपत्कुमारो ऽपि तात ! जातो ऽस्ति मे सुतः। पौत्रेण वर्धसे दिष्ट्या राज्ये ऽस्मिन्सो ऽभिषिच्यताम्
पप्रच्छाशोकराजो ऽपि कदोत्पेदे सुतस्तव ? । सम्प्रत्येवेत्यकथयत्कुणालो ऽपि कृताञ्जलिः ॥५०॥
तदैव तमशोकश्रीः समानाययदर्भकम् । नामापि सम्प्रतिरिति तस्याकृत कृतोत्सवः ॥५१॥
अमोघवागशोकश्रीस्तं दशाहादनन्तरम् । सम्प्रतिं स्तन्यपमपि निजे राज्ये न्यवीविशत् ॥५२॥

वृद्धिमासादयामास वयसा विक्रमेण च । श्रिया च सम्प्रतिरभूचाजन्म परमार्हतः ॥५३॥
क्रमेण साधयामास भरतार्धं स दक्षिणम् । प्रचण्डशासनश्चाभूत् पाकशासनसन्निभः ॥५४॥

इतश्च तस्मिन्दुष्काले कराले कालरात्रिवत् । निर्वाहार्थं साधुसङ्घस्तीरं नीरनिधेर्ययौ ॥५५॥
अगुण्यमानं तु तदा साधूनां विस्मृतं श्रुतम् । अनभ्यसनतो नश्यत्यधीतं धीमतामपि ॥५६॥
सङ्घोऽथ पाटलीपुत्रे दुष्कालान्तेऽखिलोऽमिलत् । यदङ्गाध्ययनोद्देशाद्यासीद्यस्य तदाददे ॥५७॥
ततश्चैकादशाङ्गानि श्रीसङ्घोऽमेलयत्तदा । दृष्टिवादनिमित्तं च तस्थौ किंचिद्विचिन्तयन् ॥५८॥
नेपालदेशमार्गस्थं भद्रबाहुं च पूर्विणम् । ज्ञात्वा सङ्घः समाह्वातुं ततः प्रैषीन्मुनिद्वयम् ॥५९॥
गत्वा नत्वा मुनी तौ तमित्यूचाते कृताञ्जली । समादिशति वः सङ्घस्तत्रागमनहेतवे ॥६०॥
सोऽप्युवाच महाप्राणं ध्यानमारब्धमस्ति यत् । साध्यं द्वादशभिर्वर्षैर्नागमिष्याम्यहं ततः ॥६१॥
महाप्राणे हि निष्पन्ने कार्ये कस्मिंश्चिदागते । सर्वपूर्वाणि गुण्यन्ते सूत्रार्थाभ्यां मुहूर्ततः ॥६२॥
तद्वचस्तौ मुनी गत्वा सङ्घस्याशंसतामथ । सङ्घोऽप्यपरमाहूयादिदेशेति मुनिद्वयम् ॥६३॥
गत्वा वाच्यः स आचार्यो यः श्रीसङ्घस्य शासनम् । न करोति भवेत्तस्य दण्डः क इति शंस नः ॥६४॥
सङ्घबाह्यः स कर्तव्य इति वक्ति यदा स तु । तर्हि तद्दण्डयोग्योऽसीत्याचार्यो वाच्य उच्चकैः ॥६५॥
ताभ्यां गत्वा तथैवोक्त आचार्योऽप्येवमूचिवान् । मैवं करोतु भगवान्सङ्घः किं तु करोत्वदः ॥६६॥

मयि प्रसादं कुर्वाणः श्रीसङ्घः प्रहिणोत्विह । शिष्यान्मेधाविनस्तेभ्यः सप्त दास्यामि वाचनाः ॥६७॥
तत्रैकां वाचनां दास्ये भिक्षाचर्यात आगतः । तिसृषु कालवेलासु तिस्रो ऽन्या वाचनास्तथा ॥६८॥
सायाह्नप्रतिक्रमणे जाते तिस्रो ऽपराः पुनः । सेत्स्यत्येवं सङ्घकार्यं मत्कार्यस्याविबाधया ॥६९॥
ताभ्यामेत्य तथाऽऽख्याते श्रीसंघो ऽपि प्रसादभाक् । प्राहिणोत्स्थूलभद्रादिसाधुपञ्चशतीं ततः ॥७०॥
तान्सूरिर्वाचयामास ते ऽप्यल्पा वाचना इति । उद्भज्येयुर्निजं स्थानं स्थूलभद्रस्त्ववास्थित ॥७१॥
श्रीभद्रबाहुपादान्ते स्थूलभद्रो महामतिः । पूर्वाणामष्टकं वर्षैरपाठीदष्टभिर्भृशम् ॥७२॥
किमुद्भग्नस्त्वमित्युक्तः सूरिणा सो ऽब्रवीदिदम् । नोद्भज्ये भगवन्किं तु ममाल्पा एव वाचनाः ॥७३॥
सूरिरूचे मम ध्यानं पूर्णप्रायमिदं ततः । तदन्ते वाचनास्तुभ्यं प्रदास्यामि त्वदिच्छया ॥७४॥
स्थूलभद्रस्ततः प्रोचे ऽधीतं शेषं च मे कियत् । सङ्ख्यां गुरुस्तयोराख्यद्बिन्दूदध्युपमानतः ॥७५॥
पूर्णे ध्याने महाप्राणे स्थूलभद्रो महामुनिः । द्विवस्तूनानि पूर्वाणि दश यावत्समापयत् ॥७६॥

विहारक्रमयोगेन पाटलीपुत्रपत्तनम् । श्रीभद्रबाहुरागत्य बाह्योद्यानमशिश्रियत् ॥७७॥
यक्षादयो ऽपि विज्ञाय व्रतिन्यो ऽत्रान्तरे तु ताः । भगिन्यः स्थूलभद्रस्य वन्दनाय समाययुः ॥७८॥
वन्दित्वा गुरुमूचुस्ताः स्थूलभद्रः क्व नु प्रभो ! । लघुदेवकुले ऽस्तीह तासामिति शशंस सः ॥७९॥
ततस्तमभि चेलुस्ताः समायान्तीर्विलोक्य सः । आश्चर्यदर्शनकृते सिंहरूपं विनिर्ममे ॥८०॥

दृष्ट्वा सिंहं तु भीतास्ताः सूरिमेत्य व्यजिज्ञपन् । ज्येष्ठार्य जग्रसे सिंहस्तत्र सोऽद्याऽपि तिष्ठति ॥८१॥
ज्ञात्वोपयोगादाचार्यो ऽप्यादिदेशेति गच्छत । वन्दध्वं तत्र वः सो ऽस्ति ज्येष्ठार्यो न तु केसरी ॥८२॥
ततो ऽयुस्ताः पुनस्तत्र स्वरूपस्थं निरूप्य च । ववन्दिरे स्थूलभद्रं ज्येष्ठा चाख्यन्निजां कथाम् ॥८३॥
श्रीयकः सममस्माभिर्दीक्षामादत्त किं त्वसौ । क्षुधावान्सर्वदा कर्तुं नैकभक्तमपि क्षमः ॥८४॥
मयोक्तः पर्युषणायां प्रत्याख्याह्यद्य पौरुषीम् । स प्रत्याख्यातवानुक्तो मया पूर्णे ऽवधौ पुनः ॥८५॥
त्वं प्रत्याख्याहि पूर्वार्धं पर्वेदमतिदुर्लभम् । इयान्कालः सुखं चैत्यपरिपाट्याऽपि यास्यति ॥८६॥
प्रत्यपादि तथैवासौ समये ऽभिहितः पुनः । तिष्ठेदानीमस्त्वपार्धमित्यकार्षीत्तथैव सः ॥८७॥
प्रत्यासन्नाऽधुना रात्रिः सुखं सुप्तस्य यास्यति । तत्प्रत्याख्याह्यभक्तार्थमित्युक्तः सो ऽकरोत्तथा ॥८८॥
ततो निशीथे सम्प्राप्ते स्मरन्देवगुरूनसौ । क्षुत्पीडया प्रसरन्त्या विपद्य त्रिदिवं ययौ ॥८९॥
ऋषिघातो मयाऽकारीत्युत्ताम्यन्ती ततस्त्वहम् । पुरः श्रमणसङ्घस्य प्रायश्चित्ताय ढौकिता ॥९०॥
सङ्घो ऽप्याख्यद्व्यधायीदं भवत्या शुद्धभावया । प्रायश्चित्तं ततो नेह कर्तव्यं किंचिदस्ति ते ॥९१॥
ततो ऽहमित्यवोच च साक्षादाख्याति चेज्जिनः । ततो *हृदयसंवित्तिर्जायते मम नान्यथा ॥९२॥

---

*हृदयानुभवः ।

१ °संवर्तिर्जा° C 1–2 । °सवर्तः जा° C 2 ॥

अत्रार्थे सकलः सङ्घः कायोत्सर्गमदादथ । एत्य शासनदेव्योक्तं ब्रूत कार्यं करोमि किम् ॥९३॥
सङ्घो ऽप्येवमभाषिष्ट जिनपार्श्वमिमां नय । साऽऽख्यन्निर्विघ्नगत्यर्थं कायोत्सर्गेण तिष्ठत ॥९४॥
सङ्घे तत्प्रतिपेदाने मां साऽनैषीज्जिनान्तिके । ततः सीमन्धरः स्वामी भगवान्वन्दितो मया ॥९५॥
भरतादागतायैयं निर्दोषेत्यवदज्जिनः । ततो ऽहं च्छिन्नसन्देहा देव्यानीता निजाश्रयम् ॥९६॥
श्रीसङ्घायोपदां प्रैषीन्मन्मुखेन प्रसादभाक् । श्रीमान्सीमन्धरस्वामी चत्वार्यध्ययनानि च ॥९७॥
भावना च विमुक्तिश्च रतिकल्पमथापरम् । तथा विचित्रचर्या च तानि चैतानि नामतः ॥९८॥
अप्येकया वाचनया मया तानि धृतानि च । उद्गीतानि च सङ्घाय तत्तथाख्यानपूर्वकम् ॥९९॥
आचाराङ्गस्य चूले द्वे आद्यमध्ययनद्वयम् । दशवैकालिकस्यान्यदथ संघेन योजितम् ॥१००॥
इत्याख्याय स्थूलभद्रानुज्ञाता निजमाश्रयम् । ता ययुः स्थूलभद्रो ऽपि वाचनार्थमगाद् गुरुम् ॥१०१॥
न ददौ वाचनां तस्यायोग्यो ऽसीत्यादिशद् गुरुः । दीक्षादिनात्प्रभृत्येषो ऽप्यपराधान्व्यचिन्तयत् ॥१०२॥
चिन्तयित्वा च न ह्यागः स्मरामीति जगाद च । कृत्वा न मन्यसे शान्तं पापमित्यवदद् गुरुः ॥१०३॥
स्थूलभद्रस्ततः स्मृत्वा पपात गुरुपादयोः । न करिष्यामि भूयो ऽदः क्षम्यतामिति चाब्रवीत् ॥१०४॥
न करिष्यसि भूयस्त्वमकार्षीर्यदिदं पुनः । न दास्ये वाचनां तेनेत्याचार्यास्तमनूचिरे ॥१०५॥
स्थूलभद्रस्ततः सर्वसंघेनामानयद् गुरुम् । महतां कुपितानां हि महान्तो ऽलं प्रसादने ॥१०६॥

सूरिः संघं बभाषे ऽथ विचक्रे ऽसौ यथाऽधुना । तथान्ये चिकरिष्यन्ति मन्दसत्त्वा अतः परम् ॥१०७॥
अवशिष्टानि पूर्वाणि सन्तु मत्पार्श्व एव तत् । अस्यास्तु दोषदण्डो ऽयमन्यशिक्षाकृते ऽपि हि ॥१०८॥
स संघेनाग्रहादुक्तो विवेदेत्युपयोगतः । न मत्तः शेषपूर्वाणामुच्छेदो भाव्यतस्तु सः ॥१०९॥
अन्यस्य शेषपूर्वाणि प्रदेयानि त्वया न हि । इत्यभिग्राह्य भगवान्स्थूलभद्रमवाचयत् ॥११०॥
सर्वपूर्वधरो ऽथासीत्स्थूलभद्रो महामुनिः । न्यवेशि चाचार्यपदे श्रीमता भद्रबाहुना ॥१११॥
वीरमोक्षाद्वर्षशते सप्तत्यग्रे गते सति । भद्रबाहुरपि स्वामी ययौ स्वर्ग समाधिना ॥११२॥

ततः प्रबोधं जनयञ्जनानां नीलोत्पलानामिव शीतरश्मिः ।
सर्वश्रुतस्कन्धनिधानकोशः श्रीस्थूलभद्रो व्यहरत्पृथिव्याम् ॥११३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते
महाकाव्ये बिन्दुसार-अशोकश्री--कुणालकथा--सम्प्रतिजन्मराज्यप्राप्ति-
स्थूलभद्रपूर्वग्रहण-श्रीभद्रबाहुस्वर्गगमनवर्णनो नाम
नवमः सर्गः ।

---

१ 'प्यासी' C 1-2 ॥

दशमः सर्गः

आचार्यः स्थूलभद्रोऽपि श्रावस्त्यामन्यदा ययौ । बाह्योद्याने च समवासार्षीद्दषिभिरावृतः ॥१॥
सर्वोऽपि लोकः श्रावस्तीवास्तव्यस्तं विवन्दिषुः । हर्षसंवर्मितोत्साहस्तत्रोद्याने समाययौ ॥२॥
भगवान्स्थूलभद्रोऽपि जगद्भद्रङ्करस्तदा । वितताान सुधासारमधुरां धर्मदेशनाम् ॥३॥
स्थूलभद्रश्च[1] सुहृदं श्रावस्तीवासिनं निजम् । धनदेवमनायातं विज्ञायैवमचिन्तयत् ॥४॥
स मे प्रियसुहृन्नूनमिह नास्ति कुतोऽन्यथा । पूर्लोकः सकलोऽप्यागान्न पुनः स्नेहलोऽपि सः ॥५॥
गतो देशान्तरं वा स्याद् ग्लानो वा स्यादिति स्वयम् । गच्छामि तद्गृहमपि सोऽनुग्राह्यो विशेषतः॥६॥
इति निश्चित्य भगवान्स्थूलभद्रस्ततो वनात् । वन्दारुभिरभिमुखैश्चर्च्यमानपदाम्बुजः[2] ॥७॥
सप्रमोदं पुरस्त्रीभिर्गीयमानतपोगुणः । भक्तानां श्रीमतां छत्रैर्मण्डपाध इव स्थितः ॥८॥
आवृत्तवृन्तपद्माभविवलत्कन्धराननैः । अग्रेसरैः श्राद्धजनैः प्रेक्ष्यमाणमुखाम्बुजः ॥९॥

---

१ °द्रः स्वसु° *C.* 1–2–*M.* ॥ २ °श्चा° *C.* 3 ॥

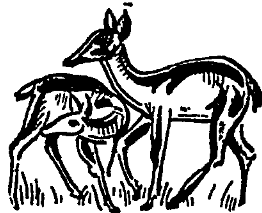
नगरीमध्यचैत्यानि वन्दमानः पदे पदे । जगाम पूर्वसुहृदो धनदेवस्य सद्मनि ॥१०॥ (चतुर्भिः कलापकम्)
तत्राविशच्च भगवान्कल्पशाखीव जङ्गमः । ददृशे च धनेश्वर्या धनदेवगृहस्थया ॥११॥
समुत्थाऽऽयासनात्सद्यो धनेश्वर्यनवद्यधीः । स्थूलभद्रमवन्दिष्ट भूतलन्यस्तमस्तका ॥१२॥
ततः सा स्थूलभद्राय दापयन्महदासनम् । सतां भक्त्यनुसारेण गुरौ हि प्रतिपत्तयः ॥१३॥
भगवानप्यलश्चक्रे प्रतिलिख्य तदासनम् । तां धर्मक्षणनिर्वाहोदन्तेनान्वग्रहीदथ ॥१४॥
पतिप्रवासविधुरां पप्रच्छ च धनेश्वरीम् । भावसारे ! पतिः किं ते धनदेवो न दृश्यते ? ॥१५॥
धनेश्वर्यप्यदो ऽवादीत्पतिर्हि भगवन्मम । व्ययते स्म धनं सर्वं यद्गृहे ऽभूद् बहिःस्थितम् ॥१६॥
सो ऽर्थहीनः पुरे ऽत्राभूल्लघुरेव तृणादपि । अर्थाः सर्वत्र पूज्यन्ते न शरीराणि देहिनाम् ॥१७॥
न चापत्पूर्वपुरुषनिधीनन्वेषयन्नपि । निर्भाग्यस्यान्तिकस्थाऽपि श्रीर्हि द्वीपान्तरस्थिता ॥१८॥
स वणिग्व्यवहारेण द्रविणोपार्जनेच्छया । गतो देशान्तरं को हि विदेशो व्यवसायिनाम् ॥१९॥
ज्ञात्वा श्रुतबलेनाथ निधिस्थानं तदोकसि । आख्यातुं चिन्तयामास तस्यै सूरिः कृपानिधिः ॥२०॥
धर्मोपदेशव्याजेन भगवान्हस्तसञ्ज्ञया । अधःस्थितनिधिं स्तम्भं मुनिस्तस्यै प्रदर्शयन् ॥२१॥
व्याहार्षीदयि संसारस्वरूपं पश्य कीदृशम् । गृहमीदृक्तव भर्तुर्वाणिज्यं तच्च तादृशम् ॥२२॥ (युग्मम्)
एवमाख्याय भगवान्धनेश्वर्या मुहुर्मुहुः । ययौ विहर्तुमन्यत्रार्हतं धर्मं प्रभावयन् ॥२३॥

धनदेवस्ततो लाभोदयकर्मविवर्जितः । यादृग्गतस्तादृगागात्तैरेव वसनैरपि ॥२४॥
स्थूलभद्रागमोदन्तं तस्य चाख्यद्धनेश्वरी । सहर्षं सो ऽपि पप्रच्छ किमूचे भगवानिति ? ॥२५॥
साऽप्याख्यत्स्थूलभद्रेण विहिता धर्मदेशना । अस्य स्तम्भस्याभिमुखहस्ताभिनयपूर्वकम् ॥२६॥
धनदेवो ऽप्यदो दध्यो तस्य ज्ञानाम्बुवारिधेः । न ह्यभिप्रायरहिता चेष्टा भवति जातुचित् ॥२७॥
स्तम्भमुद्दिश्य हस्ताभिनयो यद्विदधे मुहुः । तन्नूनमस्य स्तम्भस्याधस्तात्सम्भाव्यते निधिः ॥२८॥
इति बुद्ध्या धनदेवः स्तम्भमूलमचीखनत् । तत्र चाविरभूद् द्रव्यं तत्पुण्यमिव पुष्कलम् ॥२९॥
धनदेवो ऽभवत्तेन धनेन धनदोपमः । स्थूलभद्रप्रसादो ऽयमिति च व्यस्मरन्न हि ॥३०॥
स्थूलभद्रस्य वन्द्यस्य वयस्यस्योपकारिणः । वन्दनायान्यदा सो ऽगात्पाटलीपुत्रपत्तनम् ॥३१॥
ततश्च वसतौ गत्वा स्थूलभद्रं महामुनिम् । ववन्दे सपरीवारं धनदेवः प्रमोदभाक् ॥३२॥
ऊचे च स्थूलभद्रर्षिं धनदेवः कृताञ्जलिः । त्वत्प्रसादेन दारिद्र्यसमुद्रं तीर्णवानहम् ॥३३॥
नानृणस्त्वप्रसादस्य भवामि भगवन्नहम् । त्वं गुरुस्त्वं च मे स्वामी तदादिश करोमि किम् ॥३४॥
भूयास्त्वमार्हत इति स्थूलभद्रेण जल्पिते । ओमित्युक्त्वा धनदेवः स्वस्थानमगमत्पुनः ॥३५॥
स्वामिना स्थूलभद्रेण शिष्यौ द्वावपि दीक्षितौ । आर्यमहागिरिश्चार्यसुहस्ती चाभिधानतः ॥३६॥
तौ हि यक्षार्यया बाल्यादपि मात्रेव पालितौ । इत्यार्योपपदौ जातौ महागिरिसुहस्तिनौ ॥३७॥

खड्गधारेव तीव्रं तावतीचारविवर्जितम् । परीषहेभ्यो निर्भीकौ पालयामासतुर्व्रतम् ॥३८॥
तौ स्थूलभद्रपादाब्जसेवामधुकरावुभौ । साङ्गानि दश पूर्वाणि महाप्रज्ञावधीयतुः ॥३९॥

शान्तौ दान्तौ लब्धिमन्तावधीतावायुष्मन्तौ वाग्मिनौ दृष्टभक्ती ।
आचार्यत्वे न्यस्य तौ स्थूलभद्रः कालं कृत्वा देवभूयं प्रपेदे ॥४०॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते महाकाव्ये
आर्यमहागिरिआर्यसुहस्तिदीक्षा–स्थूलभद्रस्वर्गगमनकीर्तनो नाम दशमः सर्गः ।



एकादशः सर्गः

[1]भविकाननुगृह्णन्तौ कुर्वाणौ धर्मदेशनाम् । मही विहरतः स्मार्यौ महागिरिसुहस्तिनौ ॥१॥
कालक्रमेण भगवाञ्जगद्बन्धुर्महागिरिः । शिष्यान्निष्पादयामास वाचनाभिरनेकशः ॥२॥
महागिरिर्निजं गच्छमन्यदाऽदात्सुहस्तिने । विहर्तुं जिनकल्पेन त्वेको ऽभून्मनसा स्वयम् ॥३॥
व्युच्छेदाज्जिनकल्पस्य गच्छनिश्रास्थितो ऽपि हि । जिनकल्पार्हया वृत्त्या विजहार महागिरिः ॥४॥
ते धर्मदेशनावारि व[2]र्षन्तो वारिदा इव । विहरन्तो ऽन्यदा जग्मुः पाटलीपुत्रपत्तनम् ॥५॥
वसुभूतिरिति श्रेष्ठी तत्र चार्यसुहस्तिना । सम्बोधितः श्रावको ऽभूज्जीवाजीवादितत्त्ववित् ॥६॥
सुहस्त्याख्यातधर्मानुवादेन स्वजनानपि । प्रबोधयितुमारेभे वसुभूतिर्दिवानिशम् ॥७॥
प्रबोध्यमाना अपि ते सादरं वसुभूतिना । नाबुध्यन्त विना धर्माचार्य[3]मत्यल्पमेधसः ॥८॥
वसुभूतिर्गुरोराख्यद्भगवन्स्वजना मया । न पारिता बोधयितुं तान्बोधयितुमर्हसि ॥९॥

१ °भा° *C*. 2. ॥ २ °र्षं° *C*. 2 ॥ ३ °मि° *C*. 1–2-*M*. ॥

इति तत्प्रतिबोधाय सुहस्ती तद्गृहं ययौ । सुधातरङ्गिणीप्रायां चारेभे धर्मदेशनाम् ॥१०॥
प्राविशत्तत्र भिक्षार्थं तदा चार्यमहागिरिः । तमभ्युदस्थादाचार्यः सुहस्ती वन्दते स्म च ॥११॥
श्रेष्ठ्यप्युवाच युष्माकमपि को ऽप्यस्ति किं गुरुः ? । युष्माभिर्वन्द्यते विश्ववन्द्यैर्यदयमागतः ॥१२॥
सुहस्ती स्माह भोः श्रेष्ठिन्ममैते गुरवः खलु । त्यागार्हभक्तपानादिभिक्षामाददते सदा ॥१३॥
ईदृग्भिक्षाशना ह्येते ऽपरथा स्युरुपोषिताः । सुगृहीतं च नामैषां वन्द्यं पादरजो ऽपि हि ॥१४॥
एवं महागिरिं स्तुत्वा प्रतिबोध्याखिलांश्च तान् । पुनरेव निजं स्थानं सुहस्ती भगवान्ययौ ॥१५॥
श्रेष्ठ्यपि स्वजनानूचे दृढभक्तिर्विशेषतः । ईदृशं पश्यत मुनिं यदा भिक्षार्थमागतम् ॥१६॥
त्यज्यमानं दर्शयित्वा भक्तपानादिकं तदा । तस्मै देयं तदादत्तं तद्धि वः स्यान्महाफलम् ॥१७॥ (युग्मम्)
स्वजनैर्वसुभूतेस्तु प्रत्यपद्यत तद्वचः । भिक्षार्थं च द्वितीये ऽह्नि तेष्वेवाऽऽगान्महागिरिः ॥१८॥
महागिरिं समायान्तं दृष्ट्वा ते श्रेष्ठिबन्धवः । तथैवारेभिरे कर्तुं तस्मै तद्दातुमिच्छवः ॥१९॥
उपयोगेन विज्ञाय तदशुद्धं महागिरिः । अनादायैव वसतिं गत्वा चोचे सुहस्तिनम् ॥२०॥
त्वया ह्यो विनयं कृत्वाऽनेषणा महती कृता । ते हि त्वदुपदेशेन भिक्षां मह्यमसज्जयन् ॥२१॥
नैवं भूयः करिष्ये ऽहमिति जल्पन्सुहस्त्यपि । क्षमयामास पादाग्रे लुठन्नार्यमहागिरिम् ॥२२॥
इतश्च सम्प्रतिनृपो ययावुज्जयिनीं पुरीम् । कदापि क्वापि तिष्ठन्ति स्वभूमौ हि महीभुजः ॥२३॥

जीवन्तस्वामिप्रतिमारथयात्रां निरीक्षितुम् । आयातावन्यदाऽवन्त्यां महागिरिसुहस्तिनौ ॥२४॥
पृथक्पृथक्वसत्यां तौ तस्थतुः सपरिच्छदौ । तयोरतिमहागच्छस्ततो नैकत्र सङ्गमः ॥२५॥
निर्ययौ चोत्सवेनाथ जीवन्तस्वामिनो रथः । मनोमयूरजलदः पौराणां भक्तिशालिनाम् ॥२६॥
ताभ्यामाचार्यवर्याभ्यां श्रीसङ्घेनाखिलेन च । अन्वीयमानः स रथः पुर्यां पर्यटदस्खलन् ॥२७॥
गते राजकुलद्वारं रथे ऽथ पृथिवीपतिः । वातायनस्थितो दूराद्ददर्शार्यसुहस्तिनम् ॥२८॥
दध्यौ चैवं मुनीन्द्रो ऽयं मन्मनःकुमुदोडुपः । क्वापि दृष्ट इवाभाति न स्मरामि तु किं ह्यदः ॥२९॥
एवं विमर्शं कुर्वाणो मूर्च्छितो न्यपतन्नृपः । आः किमेतदिति वदन्दधावे च परिच्छदः ॥३०॥
व्यजनैर्वीज्यमानश्च सिच्यमानश्च चन्दनैः । जातिस्मरणमासाद्योदस्थादवनिशासनः ॥३१॥
स प्राग्जन्मगुरुं ज्ञात्वा जातिस्मृत्या सुहस्तिनम् । तदैव वन्दितुमगाद्विस्मृतान्यप्रयोजनः ॥३२॥
पश्चाङ्गस्पृष्टभूपीठः स नत्वाऽऽर्यसुहस्तिनम् । पप्रच्छ जिनधर्मस्य भगवन्कीदृशं फलम् ? ॥३३॥
सुहस्ती भगवानाख्यन्मोक्षः स्वर्गश्च तत्फलम् । अपृच्छद् भूपतिर्भूयः सामायिकफलं च किम् ? ॥३४॥
सामायिकस्याव्यक्तस्य राजन्राज्यादिकं फलम् । सुहस्तिनैवमाख्याते द्राक् प्रत्येति स्म भूपतिः ॥३५॥
नखाच्छोटनिकां कृत्वा प्रत्ययव्यञ्जिकां मुहुः । एवमेतन्न सन्देह इत्यभाषत भूपतिः ॥३६॥
सुहस्तिनं नमस्कृत्य ततः प्रोवाच पार्थिवः । किं नाम मां यूयमुपलक्षयध्वे ऽथवा न हि ? ॥३७॥

आचार्यो ऽप्युपयोगेन ज्ञात्वोचे त्वां नरेश्वर ! । सम्यगुपलक्षये ऽहं त्वां प्राग्भवकथां शृणु ॥३८॥
महागिर्याचार्यमिश्रैर्विहरन्तो वयं पुरा । सह गच्छेन कौशाम्ब्यामागच्छाम नरेश्वर[2] ! ॥३९॥
सङ्कीर्णत्वेन वसतेः पृथक्पृथगवस्थितौ । तत्रावां परिवारो हि महानभवदावयोः ॥४०॥
तत्राभूदतिदुर्भिक्षं तथाऽप्यस्मासु भक्तिमान् । लोको भक्तादिकं दातुमुपाक्रंस्त विशेषतः ॥४१॥
भिक्षार्थं साधवो ऽन्येद्युरेकस्य श्रेष्ठिनो गृहे । विविशुः पृष्ठतस्तेषां रङ्क एको विवेश च ॥४२॥
तत्रेच्छाकारमर्यादां[2] विविधां मोदकादिभिः । साधवो लेभिरे भिक्षां तस्य पश्यत एव ते ॥४३॥
साधूनामात्तभिक्षाणां वसतिं प्रति गच्छताम् । अनुगः सो ऽब्रवीद्रङ्को दीयतां मम भोजनम् ॥४४॥
ते साधवो ऽभिदधिरे जानन्ति गुरवः खलु । वयं गुरुपराधीना न किंचिद्दातुमीश्महे ॥४५॥
ततः स रङ्कः साधूनामन्वेव वसतिं ययौ । दीनात्मा तत्र दृष्ट्वाऽस्मानयाचत च भोजनम् ॥४६॥
साधवः कथयन्ति स्म भगवन्नमुना पथि । याचिता वयमप्युच्चैर्भोजनं दीनमूर्तिना ॥४७॥
विदितं [3]चैवमस्माभिरुपयोगपरायणैः । भावी प्रवचनाधारो यद्रङ्को ऽयं भवान्तरे ॥४८॥
ततः स द्रमको ऽस्माभिः प्रियपूर्वमभाष्यत । यद्यादत्से परिव्रज्यां लभसे भोजनं तदा ॥४९॥
रङ्को ऽचिन्तयदग्रे ऽपि सर्वकष्टमयो ह्यहम् । तद्वरं व्रतजं कष्टमिष्टभोजनलाभकृत् ॥५०॥

१ °राः° C 2 ॥ २ °द C. 2 ॥ ३ °च तम° C. 1 ॥

प्रतिपन्नं परिव्रज्यां ततो रङ्कं तदैव तम् । प्रव्राज्याबूभुजामेष्टं मोदकादि यथारुचि ॥५१॥
स स्वादं स्वादमाहारं तथा ह्याकण्ठमात्तवान् । पन्थाः श्वासानिलस्यापि यथा दुःसञ्चरो ऽभवत् ॥५२॥
तद्दिनस्यैव यामिन्यां तेनाहारेण भूयसा । रुद्धश्वासो विपन्नः स श्वासजीवा हि देहिनः ॥५३॥
स्थितो मध्यस्थभावेन रङ्कसाधुर्विपद्य सः । कुणालस्यावन्तिपतेः सूनुस्त्वमुदपद्यथाः ॥५४॥
पुनर्विज्ञपयामास सुहस्तिनमिलापतिः । भगवंस्त्वत्प्रसादेन प्राप्तो ऽहं पदवीमिमाम् ॥५५॥
त्वया प्रव्राजितो न स्यां तदाऽहं भगवन्यदि । अस्पृष्टजिनधर्मस्य का गतिः स्यात्ततो मम ? ॥५६॥
तदादिशत मे किंचित्प्रसीदत करोमि किम् ? । भवामि नानृणो ऽहं वः पूर्वजन्मोपकारिणाम् ॥५७॥
जन्मन्यत्रापि गुरवो यूयं मे पूर्वजन्मवत् । अनुगृह्णीत मां धर्मपुत्रं कर्तव्यशिक्षया ॥५८॥
कृपालुरादिदेशार्यसुहस्ती भगवान्नृपम् । जिनधर्मं प्रपद्यस्व परत्रेह च शर्मणे ॥५९॥
स्वर्गः स्यादपवर्गो वाऽमुत्रार्हद्धर्मशालिनाम् । इह हस्त्यश्वकोशादिसम्पदश्चोत्तरोत्तराः ॥६०॥
अभ्यग्रहीदथ नृपस्तदग्रे तदनुज्ञया । अर्हन्देवो गुरुः साधुः प्रमाणं मे ऽर्हतो वचः ॥६१॥
अणुव्रतगुणव्रतशिक्षाव्रतपवित्रितः । प्रधानश्रावको जज्ञे सम्प्रतिस्तत्प्रभृत्यपि ॥६२॥
त्रिसन्ध्यमप्यवन्ध्यश्रीर्जिनार्चा*मर्चति स्म सः । साधर्मिकेषु वात्सल्यं बन्धुष्विव चकार च ॥६३॥

*अर्चा=मूर्तिः ।

स सर्वदा जीवदयातरङ्गितमनाः सुधीः । अवदानरतो दानं दीनेभ्यो ऽभ्यधिकं ददौ ॥६४॥
आवैताढ्यं प्रतापाढ्यः स चकाराविकारधीः । त्रिखण्डं भरतक्षेत्रं जिनायतनमण्डितम् ॥६५॥
सुहस्त्याचार्यपादानामवन्त्यामेव तस्थुषाम् । चैत्रयात्रोत्सवश्चक्रे सङ्घेनान्यत्र वत्सरे ॥६६॥
मण्डपं चैत्रयात्रायां सुहस्तो भगवानपि । एत्य नित्यमलञ्चक्रे श्रीसङ्घेन समन्वितः ॥६७॥
सुहस्तिस्वामिनः शिष्यपरमाणुरिवाग्रतः । कृताञ्जलिस्तत्र नित्यं निषसाद च सम्प्रतिः ॥६८॥
यात्रोत्सवान्ते सङ्घेन रथयात्रा प्रचक्रमे । यात्रोत्सवो हि भवति सम्पूर्णो रथयात्रया ॥६९॥
रथो ऽथ रथशालाया दिवाकररथोपमः । निर्ययौ स्वर्णमाणिक्यद्युतिद्योतितदिङ्मुखः ॥७०॥
श्रीमदर्हत्प्रतिमाया रथस्थाया महर्द्धिभिः । विधिज्ञैः स्नात्रपूजादि श्रावकैरुपचक्रमे ॥७१॥
क्रियमाणे ऽर्हतः स्नात्रे स्नात्राम्भो न्यपतद्रथात् । जन्मकल्याणके पूर्वं सुमेरुशिखरादिव ॥७२॥
श्राद्धैः सुगन्धिभिर्द्रव्यैः प्रतिमाया विलेपनम् । स्वामिविज्ञीप्सुभिरिवाकारि वक्त्राऽऽहितांशुकैः ॥७३॥
मालतीशतपत्रादिदामभिः प्रतिमाऽर्हतः । पूजिताऽभात्कलेवेन्दोर्वृता शारदवारिदैः ॥७४॥
दह्यमानागरूत्थाभिर्धूमलेखाभिरावृता । अशुभत्प्रतिमा नीलवासोभिरिव पूजिता ॥७५॥
आरात्रिकं जिनार्चायाः कृतं श्राद्धैर्ज्वलच्छिखम् । दीप्यमानौषधीचक्रशैलशृङ्गविडम्बकम् ॥७६॥
वन्दित्वा श्रीमदर्हन्तमथ तैः परमार्हतैः । रथ्यैरिवाग्रतोभूय स्वयमाचकृषे रथः ॥७७॥

नागरीभिरुपक्रान्तसहल्लीसकरासकः । चतुर्विधातोद्यवादसुन्दरप्रेक्षणीयकः ॥७८॥
परितः श्राविकालोकगीयमानोरुमङ्गलः । प्रतीच्छन्विविधां पूजां प्रत्यट्टं प्रतिमन्दिरम् ॥७९॥
बहलैः कुङ्कुमाम्भोभिरभिषिक्ताग्रभूतलः । सम्प्रतेः सदनद्वारमाससाद शनै रथः ॥८०॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

राजाऽपि सम्प्रतिरथ रथपूजार्थमुद्यतः । आगात्पनसफलवत्सर्वाङ्गोद्भिन्नकण्टकः ॥८१॥
रथाधिरूढां प्रतिमां पूजयाऽष्टप्रकारया । अपूजयन्नवानन्दसरोहंसो ऽवनीपतिः ॥८२॥
तदानीमेव सामन्तानाहूय निखिलानपि । सम्यक्त्वं ग्राहयित्वैवमादिश विशांपतिः ॥८३॥
मन्यध्वमयि सामन्ताः ! सम्यग्मां स्वामिनं यदि । तद्भवन्तु सुविहितश्रमणानामुपासकाः ॥८४॥
द्रव्यैरपि न मे किंचिद्युष्मद्दत्तैः प्रयोजनम् । एवं कृते हि सामन्ताः ! प्रियं भवति मे कृतम् ॥८५॥
एवमाज्ञाप्य सामन्ता विसृष्टाः स्वस्वनीवृति । गत्वा चक्रुः स्वामिभक्त्या श्रमणानामुपासनाम् ॥८६॥
प्रावर्तयन्रथयात्रां तत्रानुगमनं तथा । रथाग्रे पुष्पवृष्टिं च चैत्यपूजां च ते व्यधुः ॥८७॥
इत्यादि श्रावकाचारं ते सर्वे चक्रिरे तथा । प्रान्तदेशा अपि साधुविहारार्हा यथाऽभवन् ॥८८॥
सम्प्रतिश्चिन्तयामास निशीथसमये ऽन्यदा । अनार्येष्वपि साधूनां विहारं वर्तयाम्यहम् ॥८९॥

१ °द्य° C 2 ॥

इत्यनार्यानादिदेश राजा दद्ध्वं करं मम । तथा तथाऽस्मत्पुरुषा मार्गयन्ति यथा यथा ॥९०॥
ततः प्रैषीदनार्येषु साधुवेषधरान्नरान् । ते सम्प्रत्याज्ञयाऽऽनार्यानेवमन्वशिषन्भृशम् ॥९१॥
द्विचत्वारिंशता दोषैरेभिरेभिर्विवर्जितम् । वस्त्रपात्रान्नपानादि देयमस्मास्वहो स्वयम् ॥९२॥
अध्येतव्यं चेदमिदं ततो युष्मासु तोषभाक् । भविता सम्प्रतिस्वामी कोपिष्यत्यन्यथा पुनः (युग्मम्)
ततः सम्प्रतिराजस्य परितोषार्थमुद्यताः । ते तु तत्पुरुषादिष्टमन्वतिष्ठन्दिने दिने ॥९४॥
एवं साधूचिताचारचतुरेषु कृतेषु तु । अनार्येषु सम्प्रतिना विज्ञप्ता गुरवः पुनः ॥९५॥
कदाऽपि श्रमणा एते भगवन्नार्यदेशवत् । अनार्येष्वपि देशेषु विहरन्ति कुतो न हि ? ॥९६॥
व्याजहरुः सूरयो ऽनार्यदेशेष्वज्ञानतः सदा । ज्ञानदर्शनचारित्राण्युत्सर्पन्ति न पार्थिव ! ॥९७॥
राजा प्रोवाच भगवन्ननार्येष्वपि सम्प्रति । श्रमणान्प्रेष्य जानीध्वं तेषामाचारचातुरीम् ॥९८॥
एवं राज्ञो ऽतिनिर्बन्धादाचार्यैः के ऽपि साधवः । विहर्तुमादिदिशिरे ततो ऽन्ध्रद्रमिलादिषु ॥९९॥
अनार्याः प्रेक्ष्य तान्साधून्सम्प्रतेः पुरुषा इति । ज्ञात्वा प्राक्शिक्षया तेभ्यो भक्तपानादिकं ददुः ॥१००॥
निरवद्यं श्रावकत्वमनार्येष्वपि साधवः । दृष्ट्वा गत्वा स्वगुरवे पुनराख्यन्सविस्मयाः ॥१०१॥
एवं सम्प्रतिराजेन स्वशक्त्या बुद्धिगर्भया । देशाः साधुविहारार्हा अनार्या अपि चक्रिरे ॥१०२॥
राज्ञा प्राग्जन्मरङ्कत्वं बीभत्सं स्मरता निजम् । महासत्त्राण्यकार्यन्त पूर्द्वारेषु चतुर्ष्वपि ॥१०३॥

अयं निजः परो वाऽयमित्यपेक्षाविवर्जितम् । तत्रानिवारितं प्रापुर्भोजनं भोजनेच्छवः ॥१०४॥
यदवाशिष्यतान्नादि भुक्तवत्सु बुभुक्षुषु । तद्विभज्योपाददिरे महानसनियोगिनः ॥१०५॥
को गृह्णात्यवशिष्टान्नमिति पृष्टा महीभुजा । आख्यन्महानसायुक्ताः स्वामिन्नादद्महे वयम् ॥१०६॥
आदिदेश च तान्राजा यदन्नमवशिष्यते । अकृताकारितार्थिभ्यः साधुभ्यो देयमेव तत् ॥१०७॥
द्रव्यं दास्यामि वस्तेन सनिर्वाहा भविष्यथ । न हि केष्वपि कार्येषु सीदति द्रव्यवाञ्जनः ॥१०८॥
ते ऽवशिष्टान्नपानादि तदाद्यपि तदाज्ञया । साधुभ्यो ददिरे ते ऽपि स्वीचक्रुः शुद्धिदर्शनात् ॥१०९॥
श्रमणोपासको राजा कान्दविकानथादिशत् । तैलाज्यदधिविक्रेतॄन्वस्त्रविक्रायकानपि ॥११०॥
यत्किंचिदुपकुरुते साधूनां देयमेव तत् । तन्मूल्यं वः प्रदास्यामि मा स्म शङ्किध्वमन्यथा ॥१११॥
ते तथाऽऽरेभिरे कर्तुं जातहर्षा विशेषतः । विक्रीयमाणे पण्ये हि वणिजामुत्सवो महान् ॥११२॥
तत्तथाऽर्यसुहस्ती तु दोषयुक्तं विदन्नपि । सेहे शिष्यानुरागेण लिप्तचित्तो बलीयसा ॥११३॥
सुहस्तिनमितश्चार्यमहागिरिरभाषत । अनेषणीयं राजान्नं किमादत्से विदन्नपि ? ॥११४॥
सुहस्त्युवाच भगवन्यथा राजा तथा प्रजाः । राजानुवर्तनपरा पौरा विश्राणयन्त्यदः ॥११५॥
मायेयमिति कुपितो जगादाऽऽर्यमहागिरिः । शान्तं पापं विसम्भोगः खल्वतः परमावयोः ॥११६॥

१ पाचकाः ।

सामाचारीसमानैर्हि साधुभिः साधु सङ्गतम् । सामाचारीविभिन्नस्य भिन्नो ऽध्वा ऽतः परं तव ॥११७॥
वेपमानो भिया बाल इव भक्तः सुहस्त्यपि । आर्यमहागिरिपादान्वन्दित्वोचे कृताञ्जलिः ॥११८॥
सापराधो ऽस्मि भगवन्मिथ्यादुष्कृतमस्तु मे । क्षम्यतामपराधो ऽयं करिष्ये नेदृशं पुनः ॥११९॥
ऊचे महागिरिरथ दोषः को नाम ते ऽथवा । पुरा भगवता वीरस्वामिनैतद्विभाषितम् ॥१२०॥
मदीये शिष्यसन्ताने स्थूलभद्रमुनेः परम् । पतत्प्रकर्षा साधूनां सामाचारी भविष्यति ॥१२१॥
स्थूलभद्रमुनेः पश्चादावां तीर्थप्रवर्तकौ । अभूव तदिदं स्वामिवचः सत्यापितं त्वया ॥१२२॥
स्थापयित्वेत्यसम्भोगिकल्पमार्यमहागिरिः । जीवन्तस्वामिप्रतिमां नत्वाऽवन्त्या विनिर्ययौ ॥१२३॥
पूर्वं हि समवसृतौ श्रीमतश्चरमार्हतः । दशार्णभद्रसम्बोधसमये यानि जज्ञिरे ॥१२४॥
गजेन्द्रस्याग्रपदानि समायाते दिवस्पतौ । तथैवास्थुश्च तत्राऽगात्तीर्थे ऽथार्यमहागिरिः ॥१२५॥ (युग्मम्)
ख्याते तत्र महातीर्थे गजेन्द्रपदनामनि । त्यक्तदेहो ऽनशनेन ययौ स्वर्गं महागिरिः ॥१२६॥
पार्थिवः सम्प्रतिरपि पालयञ्श्रावकव्रतम् । पूर्णायुर्देव्यभूतिसिद्धिं क्रमेण च गमिष्यति ॥१२७॥

अथ विहृत्यान्यत्रार्यसुहस्त्युज्जयिनीं पुनः । जीवन्तस्वामिप्रतिमावन्दनार्थं समाययौ ॥१२८॥
बाह्योद्याने च भगवान् सुहस्ती समवासरत् । वसतिं याचितुं प्रैषीत्पूर्वमध्ये द्वौ मुनी च सः ॥१२९॥
तौ तु भद्राभिधानायाः श्रेष्ठिन्या जग्मतुर्गृहे । साऽपि पप्रच्छ तौ नत्वा किं नामादिशतं युवाम् ॥१३०॥

नावप्यूचतुरावां हि शिष्यावार्यसुहस्तिनः । तदादेशेन कल्याणि ! वसतिं प्रार्थयावहे ॥१३१॥
विशालां वाहनकुटीं वसतिं साऽर्पयत्ततः । सुहस्ती सपरीवारो ऽप्यलञ्चक्रे ततश्च ताम् ॥१३२॥
परावर्तितुमारेभे प्रदोषसमये ऽन्यदा । आचार्यैर्नलिनीगुल्माभिधमध्ययनं वरम् ॥१३३॥
भद्रायाश्च सुतो ऽवन्तिसुकुमालः सुरोपमः । तदा च विलसन्नासीत्सप्तभूमिगृहोपरि ॥१३४॥
द्वात्रिंशता कलत्रैः स क्रीडन् स्वःस्त्रीनिभैरपि । तस्मिन्नध्ययने कर्णं ददौ कर्णरसायने ॥१३५॥
तत्सम्यगाकर्णयितुं भद्रासूनुरनूनधीः । प्रासादाद् द्रुतमुत्तीर्य वसतिद्वारमाययौ ॥१३६॥
अनुभूतं मया क्वेदमिति चिन्तापरः स तु । सञ्जातजातिस्मरणो ययावाचार्यसन्निधौ ॥१३७॥
नत्वा चोवाच भगवन्भद्रायास्तनयो ह्यहम् । पुरा च नलिनीगुल्मविमाने त्रिदशो ऽभवम् ॥१३८॥
विमानं नलिनीगुल्मं जातिस्मृत्या मया स्मृतम् । तत्रैव गन्तुं भूयो ऽद्य परिविव्रजिषाम्यहम् ॥१३९॥
ततः प्रार्थयमानं तं प्रव्राजयत मामिति । आचार्यमिश्रा जगदुः सुकुमारो ऽसि दारक ! ॥१४०॥
सुखदा लोहचणकाः सुस्पर्शा वह्नयो ऽपि हि । दुष्करं तु जिनोपज्ञं तपोऽतीचारवर्जितम् ॥१४१॥
भाद्रेयो ऽभिदधे बाढं प्रव्रज्योत्कण्ठितस्त्वहम् । सामाचारीं चिरतरं न च पालयितुं क्षमः ॥१४२॥
आदावेव परिव्रज्यां तस्मादनशनान्विताम् । आदास्ये सत्त्वमालम्ब्य स्तोकं कष्टमिदं खलु ॥१४३॥

१ °खादा *C*. 2 ॥

गुरुरूचे महाभाग ! प्रव्रज्यां चेज्जिघृक्षसि । तदनुज्ञापय निजान्बन्धूनिह हि कर्मणि ॥१४४॥
अवन्तिसुकुमालो ऽपि गृहे गत्वा कृताञ्जलिः । आपप्रच्छे निजान्बन्धूननुजज्ञे तु तैर्न हि ॥१४५॥
भद्रासूनुस्ततः केशांस्तत्रैवोदखनत्स्वयम् । स्वयं चोपाददे साधुलिङ्गं गृहपराङ्मुखः ॥१४६॥
तादृग्रूपो ययावार्यसुहस्त्याचार्यसन्निधौ । अवन्तिसुकुमालो ऽथ निर्ममः स्ववपुष्यपि ॥१४७॥
स्वयमेवोपात्तलिङ्गो मा भूदिति सुहस्त्यपि । तं परिव्राजयामास प्रव्रज्याविधिमुच्चरन् ॥१४८॥
चिरकालं तपःकष्टनिर्जरां कर्तुमक्षमः । गुरूनापृच्छ्य सो ऽन्यत्र ययावनशनं चिकीः ॥१४९॥
चक्रे ऽवन्तिसुकुमालः सुकुमालपदद्वयात् । निर्गच्छद्रक्तपृषतैः सेन्द्रगोपामिवावनिम् ॥१५०॥
स्थाने स्थाने चिताभस्मधूसरीकृतभूतलम् । सो ऽगात्पितृवनं क्रीडास्थानं पितृपतेरिव ॥१५१॥
कन्थारिकाकुडङ्गान्तस्तस्थावनशनेन सः । समाहितः स्मरन्पञ्चपरमेष्ठिनमस्क्रियाम् ॥१५२॥
तत्पदान्यसृगास्रावविस्राणि शिशुभिर्वृता । लिहाना जम्बुकी काऽपि तत्रोद्देशे समाययौ ॥१५३॥
तत्पादप्रक्षरद्रक्तपङ्कगन्धेन भूयसा । सशिशुः सा विवेशाथ मध्येकन्थारिकावनम् ॥१५४॥
शोधयन्ती च सा प्राप तत्पादं रक्तपिच्छलम् । तं च खादितुमारेभे कृतान्तस्येव सोदरा ॥१५५॥
चटच्चटिति सा चर्म त्रटत्त्रटिति †जङ्गलम् । धगद्धगिति मेदश्च कटक्कटिति कीकसम् ॥१५६॥

† मासम् ।

भक्षयन्ती पादमेकं तस्य सा निरशेषयत् । तड्डिम्भरूपाण्यपरं प्रथमे प्रहरे निशः ॥१५७॥ (युग्मम्)
तथाऽपि न चकम्पे स प्रत्युतामंस्त सात्त्विकः । अपि तां पादखादित्रीं पादसंवाहिकामिव ॥१५८॥
एवं द्वितीये प्रहरे तदूरू च चखाद सा । साधु तृप्यतु जीवो ऽयमित्यकार्षीत्कृपां तु सः ॥१५९॥
तत्तुन्दं भक्षयामास तृतीयप्रहरे च सा । स तु दध्यौ मथत्येषा न तुन्दं किं तु कर्म मे ॥१६०॥
तुर्ये च यामे यामिन्या महासत्त्वो विपद्य सः । विमाने नलिनीगुल्मे महर्द्धिरमरोऽभवत् ॥१६१॥
वन्द्यो महानुभावो ऽयं महासत्त्वोऽयमित्यथ । तच्छरीरस्य तत्कालं महिमा निर्ममे ऽमरैः ॥१६२॥
तद्भार्यास्तमपश्यन्त्यः पृच्छन्ति स्म सुहस्तिनम् । आख्याहि भगवन्नस्मत्पतिः कथमभूदिति ॥१६३॥
उपयोगेन विज्ञाय सुहस्त्यपि हि तत्तथा । तदीयं सर्वमाचख्यौ ताभ्यो मधुरया गिरा ॥१६४॥
अवन्तिसुकुमालस्य पत्न्यो गत्वाऽथ सद्मनि । भद्रायाः पुरतः सर्वं तं वृत्तान्तं न्यवीविदन् ॥१६५॥
अवन्तिसुकुमालस्य माता भद्रा निशात्यये । श्मशाने प्रययौ तत्र कन्थारीवनलाञ्छिते ॥१६६॥
आकृष्टं दिशि नैऋत्यां दृष्ट्वा सूनोः कलेवरम् । रुरोद बाष्पमिषतो वारिदानोद्यतेव सा ॥१६७॥
भद्रा वधूभिः सहिता रुदती विललाप च । प्राणानपि किमत्याक्षीरस्मानिव किमीदृशः ॥१६८॥
वत्स ! प्रव्रजितो ऽपि त्वमेकस्मिन्नपि वासरे । किं नाम नालमकृथा विहारेण गृहाङ्गणम् ॥१६९॥
का नाम रात्रिः कल्याणी सा भविष्यत्यतः परम् । या स्वप्ने दर्शयित्वा त्वामस्मान्सञ्जीवयिष्यति ॥१७०॥

निर्मोहीभूय यद्यस्मान्पर्यहार्षीर्व्रतेच्छया। तद् गुरुष्वपि निर्मोहः किमभूस्ते यदुज्झिताः ॥१७१॥
विलप्यैवं बहुतरं भद्रा शिप्रानदीतटे। तस्यौर्ध्वदेहिकं चक्रे रुदती समयोचितम् ॥१७२॥
भद्रासूनोर्गृहिण्यो ऽपि विलप्य च विलप्य च। शिप्रायां चक्रिरे शङ्खोद्धरणं क्लिन्नवाससः ॥१७३॥
सुतमृत्युसमद्भूतशोकानलकरालिता। भद्रा तदैच्छत्प्रव्रज्यां शमामृततरङ्गिणीम् ॥१७४॥
भद्राऽथ सदने गत्वा मुक्त्वैकां गुर्विणीं वधूम्। वधूभिः सममन्याभिः परिव्रज्यामुपाददे ॥१७५॥
गुर्व्यां जातेन पुत्रेण चक्रे देवकुलं महत्। अवन्तिसुकुमालस्य मरणस्थानभूतले ॥१७६॥
तद्देवकुलमद्यापि विद्यते ऽवन्तिभूषणम्। महाकालाभिधानेन लोके प्रथितमुच्चकैः ॥१७७॥

भगवानार्यसुहस्त्यपि गच्छं समये वरशिष्याय समर्प्य।
विहितानशनस्त्यक्त्वा देहं सुरलोकातिथितां प्रतिपेदे ॥१७८॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते महाकाव्ये सम्प्रतिराजचरित--आर्यमहागिरिस्वर्गगमन--अवन्तिसुकुमालनलिनी-गुल्मगमन--आर्यसुहस्तिस्वर्गगमनवर्णनो नाम एकादशः सर्गः ॥



द्वादशः सर्गः

सुहस्तिनो ऽन्वये वज्रस्वामी च क्रमयोगतः । अभूत्प्रवचनाधारस्तत्कथा ऽथ प्रपञ्च्यते ॥१॥
इहैव जम्बूद्वीपे प्राग्[1] भरतार्धविभूषणम् । अवन्तिरिति देशो ऽस्ति स्वर्गदेशीय ऋद्धिभिः ॥२॥
तत्र तुम्बवनमिति विद्यते सन्निवेशनम् । निवेशनमिव श्रीणां द्युसदामपि हर्षदम् ॥३॥
बभूव श्रावकस्तत्र श्रियो देव्या इवात्मजः । इभ्यपुत्रो धनगिरिर्गिरीकृतधनोच्चयः ॥४॥
मध्यमेनापि वयसा तस्य भूषितवर्ष्मणः । हृदये नाविशत्कामः प्रशमद्वाःस्थरक्षिते ॥५॥
धर्मादर्थो भवतीति न्यायशास्त्रेष्वधीयते । सो ऽर्थादपि व्यधाद्धर्मं पात्रेभ्यो ऽर्थं नियोजयन् ॥६॥
ब्रह्मचर्यपरीणामं स्वर्गमोक्षफलं विदन् । इयेष कन्या नोद्वोढुं सो ऽर्हद्धर्मपरायणः ॥७॥
यत्र यत्र कुले कन्यां धनगिर्यर्थमाहृतौ । प्रार्थयेते स्म पितरौ तदुद्वाहमहोत्सवे ॥८॥

१ ऽपाग् *M.* ॥

तत्र तत्र धनगिरिर्गत्वा स्वयमचीकथत् । अहं हि प्रव्रजिष्यामि दोषो मे ऽस्ति न जल्पतः ।९। (युग्मम्)
इतश्च धनपालस्य महेभ्यस्य तु नन्दना । सुनन्दोचे धनगिरेर्देयाऽहं सो ऽस्तु मे पतिः ॥१०॥
महेभ्यो धनपालो ऽपि स्वयं वरपरायणाम् । प्रददौ धनगिरये दीक्षामपि जिघृक्षवे ॥११॥
भ्राताऽऽर्यशमितो नाम सुनन्दायाः पुराऽग्रहीत् । परिव्रज्यां सिंहगिरेराचार्यस्यांह्रिसन्निधौ ॥१२॥
अन्यदा तु ऋतुस्नातां सुनन्दां ब्रह्मधीरपि । भेजे धनगिरिर्भोगफलं कर्म हि नान्यथा ॥१३॥
इतश्चाष्टापदगिरौ गौतमस्वामिना किल । प्ररूपितं पुण्डरीकाध्ययनं ह्यवधारितम् ॥१४॥
पुरा येन वैश्रमणसामानिकदिवौकसा । स प्रच्युत्यावततार सुनन्दायास्तदोदरे ॥१५॥ (युग्मम्)
अन्तर्वत्नीं धनगिरिस्तां ज्ञात्वोचे विशुद्धधीः । एष गर्भो द्वितीयस्ते भविता प्रव्रजाम्यहम् ॥१६॥
अमनीषित एवाभूत्सम्बन्धो ऽपि त्वया सह । प्रव्रज्यैव प्रेयसी मे ऽतः परं स्वस्ति ते पुनः ॥१७॥
इत्युक्त्वा तां धनगिरिरवक्रयकुटीमिव । हित्वा सिंहगिरिगुरोः पार्श्वे गत्वाऽभवद्यतिः ॥१८॥
सो ऽथ द्वाविंशतिमपि सहमानः परीषहान् । सुदुस्तपं तपस्तेपे स्वशरीरे ऽपि निःस्पृहः ॥१९॥
स स्थैर्यार्जवविनयादिभिः शिष्यगुणैर्वृतः । श्रुतसारं गुरोः पार्श्वात्पयः कूपादिवाददे ॥२०॥
नवमास्यां व्यतीतायां सुनन्दाऽपि हि नन्दनम् । अजीजनज्जनानन्दं सरसीव सरोरुहम् ॥२१॥
सुनन्दायाः प्रीतिपात्राण्यङ्गनाः सूतिकागृहे । प्रतिजागरणायातास्तं बालमिदमूचिरे ॥२२॥

यदि जात ! न ते तातः प्राव्रजिष्यत्तदोत्सुकः । जातकर्मोत्सवः श्रेयानभविष्यत्ततः खलु ॥२३॥
स्त्रीजने सत्यपि गृहं भाति न स्वामिनं विना । बह्वीभिरपि ताराभिर्यथा चन्द्रं विना नभः ॥२४॥
स तु बालो ऽपि सञ्ज्ञावाञ्ज्ञानावरणलाघवात् । तासामाकर्णयामास तं संलापं समाहितः ॥२५॥
अचिन्तयच्च मत्तातः परिव्रज्यामुपाददे । एवं च चिन्तयन्नेव जातिस्मरणमाप सः ॥२६॥
स जातजातिस्मरणः संसारासारतां विदन् । इयेष क्षीरकण्ठो ऽपि पित्र्ये ऽध्वन्यध्वनीनताम् ॥२७॥
कथमुद्विज्य मां माता त्यक्ष्यतीति विचिन्त्य सः । मातुरङ्कस्थितो ऽप्युच्चै रोदिति स्म दिवानिशम् ॥२८॥
न रागमधुरर्गानैर्न क्रीडनकदर्शनैः । न वस्त्रदोलाप्रेङ्खाभिर्न चाटुवचनैरपि ॥२९॥
नोत्सङ्गनृत्यलीलाभि[१]र्न मुखातोद्यवादनैः । न शिरश्चुम्बनेनापि विशश्राम स रोदनात् ॥३०॥ (युग्मम्)
एवं च रुदतस्तस्य शिशोर्मासाः षडत्यगुः । आससाद सुनन्दाऽपि निर्वेदं तेन सूनुना ॥३१॥
अन्यदा तु सिंहगिरिस्तत्रागात्सन्निवेशने । विनेयैर्धनगिर्यार्यशमितादिभिरावृतः ॥३२॥
वसत्यां तस्थिवांसं च नत्वा सिंहगिरिं गुरुम् । धनगिर्यार्यशमितावन्वजिज्ञपतामिति ॥३३॥
स्वजनाः सन्ति नावस्मिन्भगवन् ! सन्निवेशने । यौष्माकेण नियोगेन तान्विवन्दयिषावहे ॥३४॥
तयोश्च पृच्छतोरेवं शकुनं शुभसूचकम् । दृष्ट्वा सिंहगिरिगुरुरूचे ऽनूचानपुङ्गवः ॥३५॥

१ °तितीभि° C ।

महान् लाभोऽद्य वां भावी लभेथे यत्तुवां मुनी। सचित्तं वाऽप्यचित्तं वा तदादेयं मदाज्ञया ॥३६॥
सदनेऽथ सुनन्दाया जग्मतुस्तौ महामुनी। तस्यास्तावन्यनारीभिर्द्वार्यायातौ निवेदितौ ॥३७॥
महिलाश्चोचिरे सर्वाः सुनन्दे ! नन्दनस्त्वया। अर्पणीयो धनगिरेः क्व नेष्यत्येष दृश्यताम् ॥३८॥
निरानन्दा सुनन्दाऽपि तमादाय स्तनन्धयम्। तेन निर्वेदितोदस्थादूचे धनगिरिं च सा ॥३९॥
इयन्तं कालमात्मेव बालकः पालितो मया। नटिताऽहं त्वनेनोच्चै रोदित्येष दिवानिशम् ॥४०॥
यद्यप्यसि प्रव्रजितस्तथाऽप्येनं स्वमात्मजम्। गृहाण मामिव त्याक्षीर्मा स्मैनमपि सम्प्रति ॥४१॥
स्मित्वा धनगिरिरपि प्रोवाच वदतां वरः। एवं करिष्ये कल्याणि ! पश्चात्तापं तु यास्यसि ॥४२॥
मा कृथाः सर्वथेदृक्षं कुरुषे वा कुरुष्व तत्। समक्षं साक्षिणां भद्रे ! पुनर्ह्येनं न लप्स्यसे ॥४३॥
ततश्च साक्षिणः कृत्वा सनिर्वेदं सुनन्दया। नन्दनो धनगिरये ऽर्पितस्तेनाऽऽददे च सः ॥४४॥
सोऽर्भको धनगिरिणा पात्रबन्धे न्यधायि च। गृहीतसङ्केत इव विरराम च रोदनात् ॥४५॥
ततः सुनन्दासदनाद्दृषी तावात्तबालकौ। गुर्वाज्ञापालकौ भूयोऽप्येयतुर्गुरुसन्निधौ ॥४६॥
महासारस्य भारेण पुत्ररत्नस्य तस्य तु। नमद्बाहुं धनगिरिं दृष्ट्वा गुरुरभाषत ॥४७॥
आयासित इवासि त्वं भिक्षाभारेण तं मम। समर्पय महाभाग ! विश्राम्यतु भुजस्तव ॥४८॥
इत्युपादाय यत्नेन साधुः श्रीपात्रमर्भकम्। कान्त्या सुरकुमाराभमर्पयामास तं गुरोः ॥४९॥

देदीप्यमानं तेजोभिरधिपं तेजसामिव । आचार्यवर्यस्तं बालं पाणिभ्यां स्वयमाददे ॥५०॥
शिशोस्तस्यातिभारेण सद्यः सिंहगिरेर्गुरोः । नमति स्म महीपीठं वार्यादित्सोरिवाञ्जलिः ॥५१॥
तद्भारभङ्गुरकरो गुरुरूचे सविस्मयः । अहो पुंरूपभृद्वज्रमिदं धर्तु न शक्यते ॥५२॥
भावी प्रवचनाधारो महापुण्यः पुमानयम् । यत्नेन रक्ष्यो रत्नं हि प्रायेणापायवल्लभम् ॥५३॥
साध्वीनामिति तं बालं पालनायार्पयद् गुरुः । वज्रसारस्य तस्यादाद्वज्र इत्यभिधामपि ॥५४॥
गत्वा शय्यातरकुले भक्ते तं बालमार्यिकाः । स्वमात्मानमिवाख्याय पालनायार्पयन्नथ ॥५५॥
कुमारभृत्याकुशलाः शय्यातर्यो ऽपि तं शिशुम् । स्वस्वपुत्राधिकं प्रीत्या पश्यन्त्यः पर्यपालयन् ॥५६॥
शय्यातरपुरन्ध्रीणां स सौभाग्यनिधानभूः । अङ्कादङ्कं सञ्चचार हंसो ऽम्बुजमिवाम्बुजात् ॥५७॥
उल्लापयन्त्यस्तं बालं मन्मनोल्लापपूर्वकम् । शय्यातरकुटुम्बिन्यो हर्षवातूलतां ययुः ॥५८॥
शय्यातर्यो महाभागाः स्नानपानाशनादिभिः । स्पर्धमाना इवान्योन्यं चक्रुर्वज्रस्य सत्क्रियाम् ॥५९॥
वयोवृद्धपरीणामो वज्रो बालो ऽपि संयमात् । न बालचापलं चक्रे किंचित्तासामसौख्यदम् ॥६०॥
बुभुजे प्रासुकं वज्रः प्राणयात्राकृते सुधीः । जातिस्मरणसञ्जातविवेकः कल्पविद्धि सः ॥६१॥
चिकीर्षति स्म बालो ऽपि नीहारादि यदा च सः । चक्रे तदा सदा सञ्ज्ञां सुव्यक्तां बालधारिषु ॥६२॥
शय्यातरकुमाराणां सर्वेषां युग्मभूरिव । वज्रो ऽभवत्प्रीतिगुणं समानं तेषु दर्शयन् ॥६३॥

ज्ञानोपकरणादानैर्बालक्रीडां प्रपञ्चयन् । वज्रः प्रमोदयामास प्रतिवासरमार्यिकाः ॥६४॥
वज्रं दृष्ट्वा सुनन्दाऽपि सुरूपं शीलशालिनम् । शय्यातरेभ्यो ऽयाचिष्ट मत्सूनुरिति वादिनी ॥६५॥
जननीपुत्रसम्बन्धं तवामुष्यार्भकस्य च । विद्मः किं त्वसौ न्यासो गुरूणामिति ते ऽवदन् ॥६६॥
इत्युक्त्वा नार्पयामासुस्तस्यै शय्यातराः सुतम् । ततश्चैक्षिष्ट सा वज्रं दूरस्थैव परस्ववत् ॥६७॥
महता तूपरोधेन सा तेषामेव वेश्मनि । धात्रीव लालयामास स्तन्यपानादिना सुतम् ॥६८॥

इतो ऽपि चाचलपुरविषयश्रीविभूषणे । कन्या पूर्णा चेति नद्यौ विद्येते प्रथिताभिधे ॥६९॥
अन्तराले तयोर्नद्योरवात्सुः के ऽपि तापसाः । पादलेपविदेको ऽभूत्तेषां मध्ये च तापसः ॥७०॥
विधाय पादलेपं च पादुके परिधाय च । जले ऽपि स्थलवत्पादौ विन्यस्यन् सञ्चचार सः ॥७१॥
एवं च पादुकारूढः स नित्यं जलवर्त्मना । पुरे गतागतं चक्रे जनयन्विस्मयं जने ॥७२॥
न हि वो दर्शने को ऽपि प्रभावो ऽस्ति यथा हि नः । श्रमणोपासकानेवं प्रजहास स तापसः ॥७३॥
तत्राऽऽगादार्यशमिताचार्यो वज्रस्य मातुलः । विहारक्रमयोगेन योगसिद्धो महातपाः ॥७४॥
तस्मै चाचार्यवर्याय कथयामासुरार्हताः । स्वदर्शनोपहासं ते तापसोपज्ञमुच्चकैः ॥७५॥
तदाकर्ण्याऽऽर्यशमितः श्रुतज्ञाने स्फुरत्यपि । ज्ञात्वा मतिबलेनापि जगाद स्वानुपासकान् ॥७६॥
नास्य काऽपि तपःशक्तिस्तापसस्य तपस्विनः । केनाप्येसौ प्रयोगेण प्रतारयति वो ऽखिलान् ॥७७॥

यथा ह्यकालपुष्पादि दर्शितं कौतुकावहम् । तथैतदपि विज्ञानं न तपःशक्तिरीदृशी ॥७८॥
उपदेशमात्रसिद्धे साध्ये युष्मादृशामपि । विज्ञाने विस्मयं कृत्वा मा स्म श्रद्धत्त तापसान् ॥७९॥
यदि वः प्रत्ययो नास्ति तापसस्तन्निमन्त्र्यताम् । गृहागतस्य तस्यांह्री प्रक्षाल्यौ पादुके अपि ॥८०॥
श्रावकैस्तापसः सो ऽथ मायां कृत्वा न्यमन्त्र्यत । एकस्य श्रावकस्यौकस्यागात्परिवृतो जनैः ॥८१॥
श्रावकः सकुटुम्बो ऽपि दर्शयन्भक्तिनाटकम् । तं तापसमभाषिष्ट गृहद्वारमुपागतम् ॥८२॥
भगवन्भवतः पादपद्मे प्रक्षालयाम्यहम् । ये क्षालयन्ति त्वत्पादावात्मानं क्षालयन्ति ते ॥८३॥
तदस्माननुगृह्यैवं निस्तारयितुमर्हसि । स्खलयन्ति महात्मानो भक्तिं भक्तिमतां न हि ॥८४॥
अनिच्छतो ऽपि तस्याथ श्रावकस्तापसस्य सः । क्षालयामास पादौ च पादुके चोष्णवारिणा ॥८५॥
तत्पादपादुकाशौचमकार्षीत्स तथा यथा । तत्र प्रलेपगन्धो ऽपि नास्थान्नीचे ऽनुरागवत् ॥८६॥
महत्या प्रतिपत्त्या तं तापसं श्रावकाग्रणीः । अभोजयत् कार्यवशात्पूज्या मिथ्यादृशो ऽपि हि ॥८७॥
तेन लेपापहारेण तापसो दुर्मनायितः । नावेदीद्भोजनास्वादं विगोपागमशङ्कया॥८८॥
तापसो भोजनं कृत्वा सरित्तीरं पुनर्ययौ । लोकैर्वृतो जलस्तम्भकौतूहलदिदृक्षया ॥८९॥
लेपाश्रयः स्याद्यापि को ऽपीत्यल्पमतिः स तु । अलीकसाहसं कृत्वा प्राग्वत्प्राविशदम्भसि ॥९०॥
ततः कमण्डलुरिव कुर्वन्बुडबुडारवम् । ब्रुडति स्म सरित्तीरे स तापसकुमारकः ॥९१॥

वयं मायाविनाऽनेन मोहिताः स्मः कियच्चिरम् । मलिन्यभूदिति मनस्तदा मिथ्यादृशामपि ॥९२॥
दत्तताले च तत्कालं जने तुमुलकारिणि । आचार्या अपि तत्राऽऽगुः श्रुतस्कन्धधुरन्धराः ॥९३॥
ततश्चिकीर्षवः स्वस्य दर्शनस्य प्रभावनाम् । आचार्याश्चिक्षिपुर्योगविशेषं सरिदन्तरे ॥९४॥
एहि पुत्र ! यथा यामो वयं परतटे तव । इति चावोचदाचार्यवर्यो धुर्यो महात्मनाम् ॥९५॥
तटद्वये ततस्तस्याः सरितो मिलिते सति । आचार्यः सपरीवारः परतीरभुवं ययौ ॥९६॥
आचार्यैर्दर्शितं तं चातिशयं प्रेक्ष्य तापसाः । सर्वे ऽपि *संविविजिरे तद्भक्तश्चाखिलो जनः ॥९७॥
आचार्यस्यार्यशमितस्यान्तिके प्राव्रजन्नथ । सर्वे मथितमिथ्यात्वास्तापसा एकचेतसः ॥९८॥
ते ब्रह्मद्वीपवास्तव्या इति जातास्तदन्वये । ब्रह्मद्वीपिकनामानः श्रमणा आगमोदिताः ॥९९॥

इतश्च वज्रस्तत्रस्थः क्रमेणाभूत्त्रिहायणः । तदा च धनगिर्याद्यास्तत्र साधव आययुः ॥१००॥
आयास्यति धनगिरिर्ग्रहीष्यामि स्वमात्मजम् । सुनन्दैवं चिन्तयन्ती तेष्वायातेष्वमोदत ॥१०१॥
सुनन्दाऽपि महर्षिभ्यः स्वनन्दनमयाचत । ते पुनर्नार्पयामासुः प्रत्यभाषन्त चेदृशम् ॥१०२॥
अयाचितस्त्वया दत्तो मुग्धे ! ऽस्मभ्यमयं शिशुः । वान्तान्नमिव को दत्तं पुनरादातुमिच्छति ॥१०३॥

*सवेगं प्रापुः।

विक्रीतेष्विव दत्तेषु स्वामित्वमपगच्छति । मा याचिष्ठाः सुतं दत्त्वा त्वयैष परसात्कृतः ॥१०४॥
पक्षयोरुभयोरेवमुच्चैर्विवदमानयोः । लोको ऽवादीदमुं वादं राजा निर्धारयिष्यति ॥१०५॥
ततः सुनन्दा लोकेन सहिता नृपपर्षदि । जगाम सङ्घसहिताः श्रमणा अपि ते ययुः ॥१०६॥
राज्ञो न्यषीदद्वामेन सुनन्दा दक्षिणेन तु । श्रीमान्सङ्घः समस्तो ऽपि यथास्थानमथापरे ॥१०७॥
परिभाव्य द्वयोर्भाषामुत्तरं चावदन्नृपः । येनाहूतः समायाति बालस्तस्य भवत्वसौ ॥१०८॥
तं निर्णयममंसातां तौ तु पक्षावुभावपि । इति चोचतुरादौ कः सूनुमाह्वातुमर्हति ॥१०९॥
स्त्रीगृह्याः प्रोचिरे पौरा व्रतिनामेष बालकः । चिरसङ्घटितप्रेमा तद्वचो नातिलङ्घते ॥११०॥
मातैवाह्वयतामादावियं दुष्करकारिणी । नारीति चानुकम्प्याऽपि भवत्येतद्धि नान्यथा ॥१११॥
ततः सुनन्दा वहुशो बालक्रीडनकानि च । विविधानि च भक्ष्याणि दर्शयन्त्येवमभ्यधात् ॥११२॥
हस्तिनो ऽमी अमी अश्वाः पत्तयो ऽमी अमी रथाः । तव क्रीडार्थमानीतास्तद् गृहाणैहि दारक ! ॥११३॥
मोदका मण्डका द्राक्षाः शर्कराश्चान्यदप्यदः । यदिच्छसि तदस्त्येव गृह्यतामेहि दारक ! ॥११४॥
तवायुष्मन्कृषीयाहं सर्वाङ्गमवतारणे । चिरं जीव चिरं नन्द सुनन्दामाशु मोदय ॥११५॥
मम देवो मम पुत्रो ममात्मा मम जीवितम् । त्वमेवासीति मां दीनां परिष्वङ्गेण जीवय ॥११६॥

---

१ °व C 3 ॥ १ °क्षद्वयाव° C 1 ॥

विलक्षां मा कृथा वत्स ! मां लोकस्यास्य पश्यतः । हृदयं मे ऽन्यथा भावि पक्ववालुकवद् द्विधा ॥११७॥
एहि हंसगते ! वत्स ! ममोत्सङ्गं परिष्कुरु । कुक्षिवासावक्रयो मे न लभ्यः किमियानपि ? ॥११८॥
एवं क्रीडनकैर्भक्ष्यप्रकारैश्चाटुकैरपि । सौनन्देयः सुनन्दाया नाभ्यगच्छन्मनागपि ॥११९॥
न मातुरुपकाराणां को ऽपि स्यादनृणः पुमान् । एवं विदन्नपि सुधीर्वज्र एवमचिन्तयत् ॥१२०॥
यदि सङ्घमुपेक्षिष्ये कृत्वा मातुः कृपामहम् । तदा स्यान्मम संसारो दीर्घदीर्घतरः खलु ॥१२१॥
इयं च धन्या माता मे ऽल्पकर्मा प्रव्रजिष्यति । उपेक्ष्यमस्या ह्यापातमात्रजं दुःखमप्यदः ॥१२२॥
दीर्घदर्शी विमृश्यैवं वज्रो वज्रदृढाशयः । प्रतिमास्थ इव स्थानान्न चचाल मनागपि ॥१२३॥
राजाऽवादीत्सुनन्दे ! त्वमपसर्प शिशुर्ह्यसौ । नागादाहूयमानस्त्वामजानन्निव मातरम् ॥१२४॥
ततो राज्ञा धनगिरिः प्राप्तावसरमीरितः । रजोहरणमुत्क्षिप्य जगादैवं मिताक्षरम् ॥१२५॥
व्रते चेद्व्यवसायस्ते तत्वज्ञो ऽसि यदि स्वयम् । तद्रजोहरणं धर्मध्वजमादत्स्व मे ऽनघ ! ॥१२६॥
वज्रस्तदैव कलभ इवोत्क्षिप्तकरो द्रुतम् । दधावाभिधनगिरि प्रक्वणत्पादघर्घरः ॥१२७॥
गत्वा च पितुरुत्सङ्गमधिरुह्य विशुद्धधीः । तद्रजोहरणं लीलासरोजवदुपाददे ॥१२८॥
वज्रेण पाणिपद्माभ्यां रजोहरणमुद्धृतम् । विरराज रोमगुच्छ‡ इव प्रवचनश्रियः ॥१२९॥

‡ चामरः ।

उल्लसत्कुन्दकलिकाकारदन्तद्युतिस्मितः । स रजोहरणाद् दृष्टिं नान्यत्रादान्मनागपि ॥१३०॥
दिनात्यये पद्मिनीव सद्यो म्लानिमुपेयुषी । हस्तविन्यस्तचिबुका सुनन्दैवमचिन्तयत् ॥१३१॥
भ्राता मम प्रव्रजितो भर्ता प्रव्रजितो ऽथ मे । प्रव्रजिष्यति पुत्रो ऽपि प्रव्रजाम्यहमप्यतः ॥१३२॥
न मे भ्राता न मे भर्ता न मे पुत्रो ऽपि सम्प्रति । तन्ममापि परिव्रज्या श्रेयसी गृहवासतः ॥१३३॥
स्वयमेवेति निर्णीय सुनन्दा सदनं ययौ । वज्रमादाय वसतिं प्रययुर्मुनयो ऽपि ते ॥१३४॥
व्रतेच्छुर्न पपौ स्तन्यं वज्रस्तावद्वया अपि । इत्याचार्यैः परिव्राज्य साध्वीनां पुनरार्पि सः ॥१३५॥
उद्यद्भाग्यविशेषेण भववैराग्यभृद् भृशम् । सुनन्दाऽपि प्रवव्राज तद्गच्छाचार्यसन्निधौ ॥१३६॥
पठदार्यामुखाच्छृण्वन्नङ्गान्येकादशापि हि । पदानुसारी भगवान्वज्रो ऽधीयाय धीनिधिः ॥१३७॥
अष्टवर्षो ऽभवद्वज्रो यावदार्याप्रतिश्रये । ततो वसत्यामानिन्ये हर्षभाग्भिर्महर्षिभिः ॥१३८॥

अन्यदा वज्रगुरवः प्रत्यवन्तीं प्रतस्थिरे । धाराधरो ऽखण्डधारमन्तराले ववर्ष च ॥१३९॥
यक्षमण्डपिकाप्राये स्थाने क्वाप्यस्त्रवज्जले । आचार्या वज्रगुरवस्ते तस्थुः सपरिच्छदाः ॥१४०॥
प्राग्जन्मसुहृदो वज्रस्यामरा जृम्भकास्तदा । सत्त्वं परीक्षितुं तत्र वणिग्मूर्तीर्विचक्रिरे ॥१४१॥
उत्पर्याणितबद्धाश्ववृषभं चरदौष्ट्रकम् । मण्डलीकृतशकटं सन्निवेशितकेणिकम्‡ ॥१४२॥

‡ केणिकं वस्त्रगृहम् ।

जवनच्छन्नविक्रेयवस्तुगोणीपरम्परम् । राद्धान्नोत्तीर्णपात्रीकं भुञ्जानजनसङ्कुलम् ॥१४३॥
तृणप्रावरणच्छन्नसश्वरत्कर्मकृज्जनम् । आवासं ते दिविषदो वणिग्रूपा विचक्रिरे ॥१४४॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

वारिदे विरतप्राये तानाचार्यान्दिवौकसः । न्यमन्त्रयन्त भिक्षार्थं ह्रस्ववन्दनपूर्वकम् ॥१४५॥
निवृत्तामिव विज्ञाय वृष्टिमाचार्यपुङ्गवाः । वज्रमादिदिशुर्भिक्षाऽऽनयने विनयोज्ज्वलम् ॥१४६॥
वज्रो ऽथावश्यिकीं कृत्वा द्वितीयमुनिना सह । विहर्तु निरगादीर्याशुद्धिमध्वनि चिन्तयन् ॥१४७॥
तुषारान्पततो दृष्ट्वा त्रसरेणुनिभानपि । वज्रो निववृते च द्रागभीतो ऽप्कायविराधनात् ॥१४८॥
तुषारमात्रामप्यम्बुवृष्टिं देवा निरुध्य ताम् । आह्वासत पुनर्वज्रं वृष्टिर्नास्तीति भाषिणः ॥१४९॥
वज्रस्तदुपरोधेन वृष्ट्यभावेन चाचलत् । जगाम च तदावासं भक्तपानादिसुन्दरम् ॥१५०॥
ससम्भ्रमेषु देवेषु तेषु भक्तादिदित्सया । द्रव्यक्षेत्रकालभावैरुपयोगमदत्त सः ॥१५१॥
कूष्माण्डकादिकं द्रव्यं कुतो राद्धमसम्भवि । इदमुज्जयनीक्षेत्रं स्वभावादपि कर्कशम् ॥१५२॥
प्रावृषि प्रथमायां च द्रव्यस्यास्य कथाऽपि का । दातारो ऽप्यनिमेषाक्षा अभूस्पृक्चरणा इति ॥१५३॥
नियतं देवपिण्डो ऽयं साधूनां न हि कल्पते । तस्मादनात्तपिण्डो ऽपि व्रजामि गुरुसन्निधौ ॥१५४॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

इत्यनादाय तद्भिक्षां वज्रस्वामी न्यवर्तत । प्रत्यक्षीभूय तैश्चाथो जगदे विस्मितैः सुरैः ॥१५५॥
वयं हि जृम्भका देवाः प्राग्जन्मसुहृदस्तव । त्वां द्रष्टुमागमामेह त्वमद्यापि हि नः सुहृत् ॥१५६॥
अथ वैक्रियलब्ध्याख्यां विद्यां तोषभृतो ऽमराः । निष्क्रयं क्लृप्तमायाया इव वज्राय ते ददुः ॥१५७॥
ज्येष्ठे मास्यन्यदा वज्रो विहरंश्च बहिर्भुवि । नैगमीभूय तैर्देवैर्घृतपूरैर्न्यमन्त्र्यत ॥१५८॥
वज्रो गत्वा तदावासे देवपिण्डं च पूर्ववत् । ज्ञात्वा न खलु जग्राहोपयोगविदुरो हि सः ॥१५९॥
वज्राय पूर्वसुहृदे विद्यामाकाशगामिनीम् । प्रददुस्तोषभाजस्ते स्वं स्वं स्थानमथो ययुः ॥१६०॥

ततो विहरतो गच्छमध्ये वज्रस्य चाभवत् । पदानुसारिलब्ध्यात्ता सुस्थिरैकादशाङ्ग्यपि ॥१६१॥
अधीयमानमश्रौषीद्यद्यत्पूर्वगताद्यपि । तत्तज्जग्राह भगवान्वज्रो मेधाविनां वरः ॥१६२॥
यदा पठेति स्थविरा वज्रं स्माहुस्तदा हि सः । किंचिद् गुणगुणारावं निद्रालुरिव निर्ममे ॥१६३॥
स्थविराज्ञाभङ्गभीरुः स्वशक्तिं चाप्रकाशयन् । अव्यक्तमुद्गृणन्किंचित्सो ऽश्रौषीत्पठतो ऽपरान् ॥१६४॥
अन्यस्मिन्नह्नि मध्याह्ने भिक्षार्थं साधवो ययुः । आचार्यमिश्रा अपि ते बहिर्भूमौ विनिर्ययुः ॥१६५॥
तस्थौ तु वज्र एकाकी पश्चाद्वसतिरक्षकः । स साधूनां मण्डलेन वेष्टिकाः* सन्न्यवीविशत् ॥१६६॥
आचार्य इव शिष्याणां तासां मध्ये निषद्य सः । वाचनां दातुमारेभे प्रावृडम्भोधरध्वनि ॥१६७॥

[1] उपधीन् ।

एकादशानामङ्गानामपि पूर्वगतस्य च । वाचनां पुनरागच्छन् गुरुः शुश्राव दूरतः ॥१६८॥
वसतिद्वारमायातः श्रुत्वा गद्गदारवम् । आचार्यो ऽचिन्तयत्किं नु साधवः शीघ्रमागताः ? ॥१६९॥
अस्मदागमनममी पालयन्तो महर्षयः । स्वाध्यायं कुर्वते भिक्षामुपादाय समागताः ॥१७०॥
आचार्याश्च विदाञ्चक्रुः क्षणं स्थित्वा विमृश्य च । यथैष वज्रबालर्षेर्वाचनां ददतो ध्वनिः ॥१७१॥
असौ पूर्वगतस्यैकादशाङ्ग्या अपि वाचनाम् । यद्दत्ते तत्किमध्यैष्ट गर्भस्थो विस्मयामहे ॥१७२॥
स्थविरैः पाठ्यमानो ऽयमत एवालसायते । बाल्यात्पाठालस इति ज्ञात्वाऽशिष्म सदा वयम् ॥१७३॥
अस्मदाकर्णनाशङ्की लज्जितो मा स्म भूदसौ । रोमाञ्चिताः शिष्यगुणैराचार्या इत्यपासरन् ॥१७४॥
शब्देन महताऽचार्याश्चक्रुर्नैषेधिकीमथ । गुरूणां शब्दमाकर्ण्योदस्थाद्वज्रो ऽपि विष्टरात् ॥१७५॥
उपेत्य‡ जिह्मितगतिर्न यावत्प्राविशद् गुरुः । तावत्ता वेष्टिका स्वस्वस्थाने वज्रो मुमोच च ॥१७६॥
अभ्येत्य च गुरोर्दण्डमादद े ऽङ्घ्रि ममार्ज च । तद्रजोवन्दनेनोच्चैः स्वभालमवगुण्ठयन् ॥१७७॥
आसनस्थस्य च गुरोः पादौ प्रासुकवारिणा । क्षालयामास शिरसा ववन्दे पादवारि च ॥१७८॥
आचार्याश्चिन्तयामासुर्महात्मा बालको ऽप्यसौ । श्रुतसागरपारीणो रक्ष्यो ऽवज्ञास्पदीभवन् ॥१७९॥
अजानन्तो ऽस्य माहात्म्यं बालस्याप्यन्यसाधवः । कुर्वन्ति न यथा ऽवज्ञां प्रयतिष्यामहे तथा ॥१८०॥

‡ स्खलितगतिः ।



इत्याचार्या विभावर्या शिष्येभ्योऽकथयन्निति । यास्यामो ग्राममभुकं द्वित्राहं तत्र नः स्थितिः ॥१८१॥
व्यजिज्ञपन्गुरुं योगप्रतिपन्नाश्च साधवः । भगवन्वाचनाचार्यस्ततको ऽस्माकं भविष्यति ? ॥१८२॥
वज्रो वो वाचनाचार्यो भवितेत्यादिशद् गुरुः । भक्तत्वादविचार्यैव प्रत्यपद्यन्त ते तथा ॥१८३॥
प्रातःकृत्यं कायोत्सर्गवाचनाग्रहणादिकम् । कर्तुं ते साधवो वज्रं निषद्यायां न्यषादयन् ॥१८४॥
गुर्वाज्ञाऽस्तीति वज्रो ऽपि निषद्यायामुपाविशत् । आचार्यस्येव विनयं तस्याकार्षुश्च साधवः ॥१८५॥
सर्वेषामपि साधूनामानुपूर्व्या परिस्फुटान् । संक्रान्त्या वज्रलेपाभान्वज्रो ऽप्यालापकान्ददौ ॥१८६॥
ये ऽत्यल्पमेधसस्ते ऽपि साधवो ऽध्येतुमागमन् । उपचक्रमिरे वज्रादादायादाय वाचनाम् ॥१८७॥
अमोघवाचनो वज्रो बभूवातिजडेष्वपि । तन्नव्यमद्भुतं दृष्ट्वा गच्छः सर्वो विसिष्मिये ॥१८८॥
आलापान्साधवः पूर्वमधीतानस्फुरानपि[1] । संवादार्थमपृच्छंश्च वज्रो ऽप्याख्यत्तथैव तान् ॥१८९॥
तावदेकवाचनया वज्रात्पेठुर्महर्षयः । अप्यनेकवाचनाभिर्यावन्न गुरुसन्निधौ ॥१९०॥
ते ऽभ्यधुः साधवो ऽन्योन्यं गुरुर्यदि विलम्बते । वज्रपार्श्वे तदा शीघ्रं श्रुतस्कन्धः समाप्यते ॥१९१॥
गुरुभ्यो ऽभ्यधिकं वज्रं मेनिरे मुनयो गुणैः । एकगुरुदीक्षिते हि सगुणे मोदते गणः ॥१९२॥
आचार्याश्चिन्तयामासुरेतावद्भिश्च वासरैः । वज्रो ऽस्मत्परिवारस्य भावी ज्ञातगुणः खलु ॥१९३॥

---

१ °तान्सुस्फु° *C* 1 । °तान्सस्फु° *C* 3 ॥

वज्रमध्यापयामो ऽथानधीतं यद्यदस्य हि । उपेत्य पाठयतां याति गुरोः शिष्यो ऽमलैर्गुणैः ॥१९४॥
चिन्तयित्वैवमाचार्याः कथिते ऽह्नि समाययुः । मुनयो वज्रसहितास्तत्पादांश्च ववन्दिरे ॥१९५॥
किं वः स्वाध्यायनिर्वाहो भवतीति गुरूदिते । बभाषिरे देवगुरुप्रसादादिति साधवः ॥१९६॥
वन्दित्वा पुनराचार्याञ्शिष्याः सर्वे व्यजिज्ञपन् । अस्माकं वाचनाचार्यो वज्रो ऽभूद्युष्मदाज्ञया ॥१९७॥
वज्रश्चिरमवज्ञातो ऽस्माभिरज्ञाततद्गुणैः । इदानीं भगवत्पादा इव बालो ऽप्ययं हि नः ॥१९८॥
बालो ऽप्यस्त्वेष गच्छस्य गुरुर्गुरुगुणान्वितः । प्रदीपः कुन्दकलिकामात्रो ऽप्युद्योतयेद् गृहम् ॥१९९॥
आचार्यवर्या जगदुर्भवत्वेवं तपोधनाः । किं त्वसौ नावमन्तव्यो विद्यावृद्धो ऽर्भको ऽपि हि ॥२००॥
अगमाम वयं ग्राममाचार्यो ऽयं च वो ऽर्पितः । अत एव यथा वित्थ यूयमस्येदृशान्गुणान् ॥२०१॥
अन्यथा वाचनाचार्यपदवीं नायमर्हति । गुर्वदत्तं यतो ऽनेन कर्णश्रुत्याऽऽददे श्रुतम् ॥२०२॥
सङ्क्षेपानुष्ठानरूपोत्सारकल्पो ऽस्य संयताः । कार्य आचार्यपदवीयोग्यो ह्येष ततो भवेत् ॥२०३॥
ततश्च प्रागपठितं श्रुतमर्थसमन्वितम् । शीघ्रमध्यापयामास वज्रं गुरुरुदारधीः ॥२०४॥
साक्षिमात्रीकृतगुरुर्वज्रो गुर्वर्पितं श्रुतम् । प्रतिबिम्बमिवादर्शः सर्वं जग्राह लीलया ॥२०५॥
श्रुतज्ञो ऽभूत्तथा वज्रो यथा तस्य गुरोरपि । दुर्भेदचिरसन्देहलोष्टमुद्गरतां ययौ ॥२०६॥
दृष्टिवादो ऽपि हृदये यावन्मात्रो ऽभवद् गुरोः । तावानुपाददे वज्रेणारम्भश्चुलुकलीलया ॥२०७॥

अन्यदा विहरन्तस्ते ग्रामाद् ग्रामं पुरात्पुरम् । पुरं दशपुरं जग्मुराचार्याः सपरिच्छदाः ॥२०८॥
तदा चोज्जयनीपुर्या सम्पूर्णदशपूर्वभृत् । आचार्यो ऽस्ति तदेतस्मादादेया दशपूर्व्यपि ॥२०९॥
एकादशाङ्गीपाठो ऽपि येषां कष्टायते भृशम् । ते ऽस्मच्छिष्या दशपूर्वग्रहणे कथमीशताम् ॥२१०॥
अथवाऽस्त्येव हुं वज्रः कृतमीदृशचिन्तया । पदानुसारिलब्ध्या हि दृष्टप्रत्यय एष नः ॥२११॥
इत्यादिशद् गुरुर्वज्रं त्वं वत्सोज्जयिनीं व्रज । तत्राधीष्व दशपूर्वीं भद्रगुप्तगुरोर्मुखात् ॥२१२॥
अत्यल्पमेधसः सर्वे तव सब्रह्मचारिणः । न ह्यलम्भूष्णवो ऽमुत्र यत्राहमपि कुण्ठधीः ॥२१३॥
अधीत्य दश पूर्वाणि शीघ्रमेहि मदाज्ञया । तव सन्निहिताः सन्तु सौम्य ! शासनदेवताः ॥२१४॥
त्वन्मुखाच्च प्रसरतु दशपूर्वी महर्षिषु । हे वत्स ! कूपादुदकमिवोपवनशाखिषु ॥२१५॥
एवं सिंहगिरिर्वज्रमवन्तीं गन्तुमादिशत् । वर्तते स्थविरः कल्प इत्यृषी द्वौ च तत्समम् ॥२१६॥
शेषामिवाज्ञामादाय मूर्ध्ना सिंहगिरेर्गुरोः । वज्रो ऽगाद्भद्रगुप्ताङ्घ्रिपूतामुज्जयनीं पुरीम् ॥२१७॥
प्राप्ते चोज्जयिनीपुर्या सुनन्दानन्दने मुनौ । निरैक्षिष्ट भद्रगुप्ताचार्यः स्वप्नं शुभे क्षणे ॥२१८॥
यदादाय मम करात् क्षीरपूर्णं पतद्ग्रहम् । आगन्तुको ऽपिबत्कश्चित्तृप्तिं च परमामगात् २१९॥
शिष्येभ्यः कथयामास गुरुः स्वप्नं च तं प्रगे । तस्यार्थं विविधं ते ऽपि यथाप्रज्ञं व्यचारयन् ॥२२०॥
गुरुरूचे न जानीथातिथिः को ऽप्यागमिष्यति । स सार्थं सूत्रमस्मत्तः सर्वमादास्यते सुधीः ॥२२१॥

वज्रो ऽपि नगरीद्वारे शर्वरीमतिवाह्य च । प्रभाते ऽगाद्भद्रगुप्ताचार्यवर्यप्रतिश्रयम् ॥२२२॥
दूरतो वज्रमालोक्य गुरुरिन्दुमिवार्णवः । उल्लासं कलयामास परं परमया मुदा ॥२२३॥
आचार्यो ऽध्यायदहो मे सौभाग्येनास्य धीरिति । किमालिङ्गाम्यहममुमङ्कमारोपयामि च ॥२२४॥
प्रसिद्धिसदृशीं वज्रस्याकृतिं परिभाव्य च । वज्रो ऽयमिति निश्चिक्ये भद्रगुप्तो महामुनिः ॥२२५॥
वन्दनाभिमुखं वज्रं भद्रगुप्तो ऽथ सस्वजे । बलीयसी खलूत्कण्ठा विनयं न प्रतीक्षते ॥२२६॥
आरोप्याङ्के भद्रगुप्ताचार्यो वज्रमभाषत । अधितद्वदनाम्भोजं स्वनेत्रे भृङ्गतां नयन् ॥२२७॥
कच्चित्सुखविहारस्ते कच्चित्ते ऽङ्गमनामयम् । कच्चित्तपस्ते निर्विघ्नं कच्चित्ते कुशली गुरुः ॥२२८॥
किं किंचित्कार्यमुद्दिश्य विहारक्रमतो ऽथवा । इहागतो ऽसि वज्रर्षे ! कथयास्मान्प्रमोदय ॥२२९॥
वन्दित्वा भद्रगुप्तर्षिं वज्रो विरचिताञ्जलिः । उवाच वदनद्वारविन्यस्तमुखवस्त्रिकः ॥२३०॥
यद्यत्सुखविहारादि पूज्यपादैरपृच्छयत । तत्तत्तथैव देवानां गुरूणां च प्रसादतः ॥२३१॥
अध्येतुं दश पूर्वाणि त्वामागां गुर्वनुज्ञया । तद्वाचनाप्रदानेन प्रसीद भगवन्मयि ॥२३२॥
ततश्च दशपूर्वीं तं भद्रगुप्तो ऽध्यजीगपत् । गुरोरजनितक्लेशो वज्रो ऽथ दशपूर्व्यभूत् ॥२३३॥
यत्र चाध्येतुमारब्धं ग्राह्या ऽनुज्ञापि तत्र हि । इति सिंहगिरेः पार्श्वे वज्रो गन्तुमचिन्तयत् ॥२३४॥
इत्यापृच्छ्य भद्रगुप्तं वज्रो दशपुरं पुनः । अधीतदशपूर्वो ऽगाद् गृहीताम्बुरिवाम्बुदः ॥२३५॥

दशपूर्वार्णवागस्तेर्वज्रस्याभ्यागतस्य तु । पूर्वानुज्ञा कृता सिंहगिरिणा गुरुणा तदा ॥२३६॥
वज्रस्य पूर्वानुज्ञायां विदधे जृम्भकामरैः । महिमा दिव्यकुसुमप्रकारादिभिरद्भुतः ॥२३७॥
अर्पयित्वा सिंहगिर्याचार्यो वज्रमुनेर्गणम् । प्रत्याख्यायान्नपानादि कालं कृत्वा सुरो ऽभवत् ॥२३८॥
वज्रस्वाम्यपि भगवान्मुनिपञ्चशतीवृतः । विजहार महीं भव्यजनकैरवचन्द्रमाः ॥२३९॥
पुनानः क्ष्मां विहारेण वज्रस्वामी महामुनिः । यत्र यत्र ययौ तत्र तत्र ख्यातिरभूदियम् ॥२४०॥
अहो ! अस्योज्ज्वलं शीलमहो ! लोकोत्तरं श्रुतम् । अहो ! सौभाग्यमनघमहो ! लवणिमाऽद्भुतः ॥२४१॥
इतश्च पाटलीपुत्रे धनो नाम महाधनः । श्रेष्ठी गुणगणश्रेष्ठो बभूव भुवि विश्रुतः ॥२४२॥
कन्या सुरूपा तस्याभूदभिधानेन रुक्मिणी । रुक्मिणीव पुनरपि रूपान्तरमुपेयुषी ॥२४३॥
तस्य च श्रेष्ठिनो यानशालायाममलाशयाः । व्रतिन्यो निवसन्ति स्म श्रीवज्रस्य महामुनेः ॥२४४॥
व्रतिन्यस्तास्तु वज्रस्य चक्रिरे गुणसंस्तवम् । स्वाध्यायावश्यकसमो गुरूणां हि गुणस्तवः ॥२४५॥
तां तां वज्रस्य सौभाग्यकथामाकर्ण्य रुक्मिणी । वज्रमेव पतीयन्ती प्रत्यज्ञासीदिदं च सा ॥२४६॥
वज्रः स्याद्यदि मे भर्ता भोक्ष्ये भोगानहं तदा । अन्यथा तु कृतं भोगैः किं भोगैर्दयितं विना ॥२४७॥
तस्या वरयितारश्च ये केचिदुपतस्थिरे । सा प्रत्यषेधत्तान् सर्वान्मुखमोटनलीलया ॥२४८॥

१ 'करा' *C* 1. *M.* ॥

प्रव्रजिताश्च तां प्रोचुरयि ! मुग्धाऽसि रुक्मिणि ! । वीतरागं प्रव्रजितं यद्वज्रं तं वुवूर्षसि ॥२४९॥
रुक्मिण्यभिदधे वज्रो यदि प्रव्रजितस्तदा । प्रव्रजिष्याम्यहमपि या गतिस्तस्य सैव मे ॥२५०॥
इतश्च भगवान्वज्रः पाटलीपुत्रपत्तने । विहारेण ययौ धर्मदेशनावारिवारिदः ॥२५१॥
श्रुत्वा च वज्रमायान्तं पाटलीपुत्रपार्थिवः । तत्कालं सपरीवारो ऽभ्यगाहद्धया गरिष्ठया ॥२५२॥
इतश्चेतश्च वज्रर्षेर्वृन्दीभूतान्महामुनीन् । ददर्शाऽऽगच्छतो राजा राजमानांस्तपःश्रिया ॥२५३॥
दृष्ट्वा तांस्तु निदध्यौ च सर्वे ऽमी द्युतिशालिनः । सर्वे ऽपि मधुराकाराः सर्वे ऽपि विकसन्मुखाः ॥२५४॥
सर्वे प्रियंवदा सर्वे करुणारससागराः । सर्वे ऽपि समताभाजः सर्वे ऽपि ममतोज्झिताः ॥२५५॥
को नाम वज्रस्वामीति न जानामि करोमि किम् । स एव भगवानादौ वन्द्यो गच्छस्य नायकः ॥२५६॥
(त्रिभिर्विशेषकम्)
पप्रच्छ च क्षणं स्थित्वा भगवन्तो महर्षयः ! । आख्यान्तु वज्रः किमयं किमेष किमसाविति ॥२५७॥
मुनयः प्रोचिरे राजन्वज्रस्यान्तिषदो वयम् । मा चिन्तय तमस्मासु क्वार्कः क्व ज्योतिरिङ्गणाः* ॥२५८॥
एवं तु मुनिवृन्देषु पृच्छन्सर्वेषु भूपतिः । वज्रं ददर्श मोहाद्रिवज्रं पश्चाद् गणे स्थितम् ॥२५९॥
वज्रभट्टारकमथ ववन्दे वसुधाधवः । किरीटरत्नांशुजलैस्तत्पादौ स्नपयन्निव ॥२६०॥

* खद्योताः ।

सुनन्दासूनुराचार्यो ऽप्युद्याने समवासरत् । आश्रित्य सपरीवारस्तरुच्छायाप्रतिश्रयम् ॥२६१॥
महीनाथो ऽपि वज्रर्षेर्निषद्यायां निषेदुषः । पादावचर्चयद्यक्षकर्दमेन सुगन्धिना ॥२६२॥
ततश्च भगवान्वज्रः सुधामधुरया गिरा । चकार देशनां मोहध्वान्तध्वंसैकदीपिकाम् ॥२६३॥
क्षीरास्रवलब्धिमनः श्रीवज्रस्वामिनस्तया । धर्मदेशनया राजा हृतचित्तोऽभवत्तराम् ॥२६४॥
देशनान्ते मुनिं नत्वा राजा स्वसदनं ययौ । गत्वा च मध्येशुद्धान्तं राज्ञीनामित्यचीकथत् ॥२६५॥
बाह्योद्याने कृतावासो वज्रस्वाम्ययि ! सुभ्रुवः । मयाऽद्य वन्दितो धर्मदेशनाक्षीरसागरः ॥२६६॥
तं वन्दित्वा च दृष्ट्वा च तद्धर्मं तु निशम्य च । मम गात्रं च नेत्रे च श्रोत्रे चागुः कृतार्थताम् ॥२६७॥
इदमेव दिनं मन्ये दिनत्वेन सुलोचनाः ! । अभवद्यत्र वज्रर्षेर्ज्ञानादित्यस्य दर्शनम् ॥२६८॥
एतावताऽपि धन्यो ऽस्मि दृष्टो वज्रमुनिर्मया । किं पुनस्तन्मुखाद्धर्ममश्रौषमहमार्हतम् ॥२६९॥
हे देव्यस्तद्यूयमपि वज्रर्षिं द्रष्टुमर्हथ । त्वरितं यात ऋषयो नैकत्रस्थाः समीरवत् ॥२७०॥
राज्यः प्रोचुः स्वयमपि तं विवन्दिषवो वयम् । त्वदाऽऽज्ञाऽप्यत्र यदभूत्तत्प्राप्ता तृषितैः सरित् ॥२७१॥
ततश्चानुज्ञया राज्ञो राज्यो वज्रविभूषितम् । याप्ययानाधिरूढास्तास्तदुद्यानवरं ययुः ॥२७२॥
वज्रमागतमाकर्ण्य रुक्मिण्यपि जनोक्तिभिः । तमेव चिन्तयन्त्यस्थादात्मानमिव योगिनी ॥२७३॥

१ °हतिमिरध्वंसदी° C. 3 ॥ २ तृष्टचि° C. 3 ॥

द्वितीये वासरे रुक्मिण्युवाच पितरं निजम् । वज्रस्वाम्यागतो ऽस्तीह यं वुवूर्षाम्यहं सदा ॥२७४॥
तन्मां वज्रकुमाराय सम्प्रदत्तान्यथा तु मे । मरणं शरणं तात ! ग्राविण रेखेव गीरियम् ॥२७५॥
आभिजात्यसखीं लज्जां विहायैवं ब्रवीमि यत् । तत्रेदं कारणं वज्रो मत्पुण्यैरयमागतः ॥२७६॥
एष प्रायेण न स्थास्नुर्यद्यद्यैवेह गच्छति । किं ज्ञायते कदाऽप्येति भूयो ऽप्युड्डीनपक्षिवत् ॥२७७॥
तस्मादलं विलम्बेन देहि वज्राय तात ! माम् । चिरकौमारदीनां मां पश्यन्किं न हि दूयसे ॥२७८॥
एवं धनो ऽतिनिर्बन्धादुपवज्रं निनाय ताम् । सद्यः कृत्वा विवाहार्हसर्वालङ्कारभूषिताम् ॥२७९॥
पुत्र्या सममनैषीच्च धनकोटीरनेकशः । प्रलोभनं वरयितुर्यथा स्यादिति जातधीः ॥२८०॥
तदहाद् ह्यस्तने चाह्नि वज्रे कुर्वति देशनाम् । भक्तिमान्नागरो लोकः परस्परमदो ऽवदत् ॥२८१॥
अहो वज्रस्य सौस्वर्यं यदीयां धर्मदेशनाम् । आकर्ण्याऽऽनन्दमग्नानां मुक्त्यवस्थेव जायते ॥२८२॥
श्रीवज्रस्वामिनः सर्वगुणरत्नमहोदधेः । गुणानुरूपं चेद्रूपं भवेदुच्येत तर्हि किम् ? ॥२८३॥
वज्रर्षिणा च नगरप्रवेशे रूपमात्मनः । शक्त्या संक्षिप्तमेवासीत्पुरक्षोभाभिशङ्कया ॥२८४॥
तदा च भगवान्वज्रस्तेषां भावं मनोगतम् । संलापं च ज्ञानबलेनाज्ञासीदतिशायिना ॥२८५॥
द्वितीये ऽह्नि च वज्रेण विचक्रे ऽनेकलब्धिना । सहस्रपत्रं कमलं कमलाविष्टरोपमम् ॥२८६॥
कृत्वा स्वाभाविकं रूपमद्भुतं तस्य चोपरि । निषीदति स्म भगवान्वज्रो राजमरालवत् ॥२८७॥

वज्ररूपं जनो दृष्ट्वा जितामरकुमारकम् । शिरांसि दुधुवे गीताभ्यासं विरचयन्निव ॥२८८॥
ऊचे च लोको वज्रस्य रूपं नैसर्गिकं ह्यदः । गुणानामाकृतेश्चाद्य सदृशो ऽभूत्समागमः ॥२८९॥
मा भूवं प्रार्थनीयो ऽहं लोकस्येति हि शङ्कया । सामान्यं ह्यस्तनं रूपं नूनं शक्त्यैष[1] निर्ममे ॥२९०॥
राजाऽपि व्याजहारैवं विस्मयस्मेरमानसः । यथेष्टरूपनिर्माणलब्धिर्वज्रमुनिः खलु ॥२९१॥
धनश्रेष्ठ्यपि तद्वज्रस्वामिरूपं निरूपयन् । स्वां पुत्रीं वर्णयामास साग्रहां तत्स्वयंवरे ॥२९२॥
धनस्य हृदये स्वार्थप्रार्थनां कर्तुमिच्छतः । न वज्रदेशनार्थो ऽस्थादत्युत्तान इवोदकम् ॥२९३॥
देशनान्ते ऽवदद्वज्रं धनश्रेष्ठी कृताञ्जलिः । कृत्वा प्रसादं मत्पुत्रीमिमामुद्वह मानद ! ॥२९४॥
क्व भवानमराकारः क्वेयं मानुषकीटिका । ऊरीकुरु तथाप्येनां महत्सु न वृथाऽर्थना ॥२९५॥
विवाहानन्तरं वज्र ! हस्तमोचनपर्वणि । द्रव्यकोटीरसङ्ख्यातास्तुभ्यं दास्ये भवत्वदः ॥२९६॥
वज्रस्तमज्ञं विज्ञाय स्मित्वोचे करुणापरः । पर्याप्तं द्रव्यकोटीभिः पर्याप्तं कन्यया च ते ॥२९७॥
नितम्बिन्यो हि विषयास्ते पुनः स्युर्विषोपमाः । आपातमात्रमधुराः परिणामे ऽतिदारुणाः ॥२९८॥
विविच्यमाना विषया विशिष्यन्ते विषादपि । जन्मान्तरेऽप्यनर्थाय ये भवन्ति शरीरिणाम् ॥२९९॥
ज्ञात्वा दुरन्तान्विषयान्कथमङ्गीकरोम्यमूम् । ज्ञातैश्चौरैरसारो ऽपि ग्रहीतुं न हि शक्यते ॥३००॥

---

१ 'त्त्यैव C. 3 ॥

महानुभाव ! कन्या ते यदि मय्यनुरागिणी । प्रव्रज्यां तन्मयोपात्तामुपादत्तामसावपि ॥३०१॥
इयेष मामेव यदि कुलीना मनसाऽप्यसौ । तदेवं युज्यते कर्तुं परलोकहितेच्छया ॥३०२॥
विवेकपूर्वमथवाऽनुज्ञयाऽपि मदीयया । गृह्णात्वेषा परिव्रज्यां निर्वाणार्पणलग्निकाम् ॥३०३॥
विभीतकतरुच्छायामिवानर्थप्रदायिनीम् । मा कार्षीद्विषयासक्तिं त्वत्पुत्री वच्मि तद्धितम् ॥३०४॥
एवं भगवतो वज्रस्वामिनः पेशलोक्तिभिः । प्रतिबुद्धा प्रवव्राजाल्पकर्मा रुक्मिणी तदा ॥३०५॥
धर्मो ऽयमेव हि श्रेयान्यत्र निर्लोभतेदृशी । एवं विमृश्य बहवः प्रतिबोधं जना ययुः ॥३०६॥

अन्यदा जन्मसंसिद्धपदानुसृतिलब्धिना । ततो भगवता वज्रस्वामिनाऽऽकाशगामिनी ॥३०७॥
महापरिज्ञाध्ययनादाचाराङ्गान्तरस्थिता । विद्योद्दध्रे भगवतः सङ्घस्योपचिकीर्षुणा ॥३०८॥ (युग्मम्)
बभाण वज्रो भगवाननया विद्यया मम । जम्बूद्वीपाद् भ्रमणे ऽस्ति शक्तिरामानुषोत्तरम् ॥३०९॥
मयेयं धरणीयैव विद्या देया न कस्यचित् । अल्पर्द्धयो ऽल्पसत्त्वाश्च भाविनो ऽन्ये ह्यतः परम् ॥३१०॥
अन्यदा पूर्वदिग्भागाच्छ्रीवज्रो ऽगान्महामुनिः । सूर्यो मकरसङ्क्रान्ताविवापाच्या उदग्दिशम् ॥३११॥
तदा तत्र प्रववृते दुर्भिक्षमतिभीषणम् । बभूव भोजनश्रद्धानुबन्धविधुरो जनः ॥३१२॥
गृहिणामन्नदारिद्र्यादल्पभोजनकारिणाम् । बभूव नित्यमप्यूनोदरता यतिनामिव ॥३१३॥

संवव्रिरे सत्रशाला गृहस्थैरीश्वरैरपि । सर्वत्राभूदविरलंरुलत्रोलाकुलैव भूः ॥३१४॥
रङ्का विक्रीयमाणानि दधिभाण्डानि चत्वरे । स्फोटं स्फोटं तदधीनि लिलिहुः कुक्कुरा इव ॥३१५॥
अस्थिचर्मावशेषाङ्गाः सुव्यक्तस्नायुमण्डलाः । रङ्काः सर्वत्र सञ्चेरुः परेता इव दारुणाः ॥३१६॥
अनगारेष्वतिथितामागतेष्वन्नतृष्णया । अदर्शयन्भिक्षादोषानुपेत्य श्रावका अपि ॥३१७॥
ग्रामेषु शून्यीभूतेषु विष्वग्निर्धूमधामसु । अभवत्पादसञ्चाराः पन्थानो ऽप्यभवन्खिलाः[1] ॥३१८॥
ततश्च सकलः संघो दुष्कालेन कदर्थितः । दीनो विज्ञपयामास सुनन्दानन्दनं मुनिम् ॥३१९॥
अस्माद्दुःखार्णवादस्मान्कथंचिदपि[2] तारय । सङ्घप्रयोजने विद्योपयोगो ऽपि न दुष्यति ॥३२०॥
ततश्च वज्रो भगवान्विद्याशक्त्या गरिष्ठया । पटं विचक्रे विपुलं चक्रभृच्चर्मरत्नवत् ॥३२१॥
श्रीवज्रस्वामिना सङ्घो निर्दिष्टः सकलस्तदा । पोते वणिक्सार्थ इवाधिरुरोह महापटे ॥३२२॥
वज्रर्षिणा भगवता विद्याशक्त्या प्रयुक्तया । उत्पुप्लुवे पटो व्योम्नि पवनोत्क्षिप्ततूलवत् ॥३२३॥
तदा शय्यातरो दत्तनामा वज्रमहामुनेः । समाययौ सहचारि[3]ग्रहणार्थं गतो ऽभवत् ॥३२४॥
सङ्घेन सहितं वज्रस्वामिनं व्योमयायिनम् । निरीक्ष्य मूर्धजाञ्शीघ्रमुत्खायैवमुवाच सः ॥३२५॥

१ °लरंकरो° C. 1 । °लरलरो° C. 2-M. ॥ २ °दव° C. 3-M. ॥ ३ स हि वारि° C. 2-3 ॥
" समस्ता° ।

शय्यातरो ऽहं युष्माकमभवं भगवन्पुरा । अद्य साधर्मिको ऽप्यस्मि निस्तारयसि किं न माम् ॥३२६॥
शय्यातरस्य तां वाचं श्रुत्वोपालम्भगर्भिताम् । दृष्ट्वा च लूनकेशं तं वज्रः सूत्रार्थमस्मरत् ॥३२७॥
ये साधर्मिकवात्सल्ये स्वाध्याये चरणे ऽपि वा । तीर्थप्रभावनायां चोद्युक्तास्तांस्तारयेन्मुनिः ॥३२८॥
आगमार्थमिमं स्मृत्वा वज्रस्वामिमहर्षिणा । पटे तस्मिन्नध्यरोपि सो ऽपि शय्यातरोत्तमः ॥३२९॥
विद्यापटोपविष्टास्ते यान्तः साद्रिसरित्पुराम् । सर्वं विलोकयामासुः करामलकवन्महीम् ॥३३०॥
भक्तिप्रह्वैः पूज्यमानो मार्गस्थव्यन्तरामरैः । व्योम्नि प्रदीयमानार्घो भक्तैर्ज्योतिषिकामरैः ॥३३१॥
विद्याधरैर्वर्ण्यमानः शक्तिसम्पच्चमत्कृतैः । आलिङ्ग्यमानः सुहृदेवानुकूलेन वायुना ॥३३२॥
पटच्छायादर्शिताभ्रच्छायासौख्यो महीस्पृशाम् । वन्दमानो नभःस्थो ऽपि मार्गचैत्यान्यनेकशः ॥३३३॥
पटस्थो ऽपि पटस्थेभ्यस्तन्वानो धर्मदेशनाम् । वज्रर्षिराससादाथ पुरीं नाम महापुरीम् ॥३३४॥

(चतुर्भिः कलापकम्)

तस्यां धनकणाढ्यायां सुभिक्षमभवत्सदा । प्रायेण श्रावको लोको बुद्धभक्तस्तु पार्थिवः ॥३३५॥
तस्यां जैनाश्च बौद्धाश्च स्पर्धमानाः परस्परम् । चक्रिरे देवपूजादि जैनैर्बौद्धास्तु जिग्यिरे ॥३३६॥
जैना हि यद्यत्पुष्पादिपूजोपकरणं पुरे । ददृशुस्तत्तदधिकमूल्यदानेन चिक्रियुः ॥३३७॥
नाभूवन्बुद्धभक्तास्तु पुष्पाद्यादातुमीश्वराः । ततश्च बुद्धायतनेष्वभूत्पूजा तनीयसी ॥३३८॥

बुद्धभक्तास्तु ते ह्रीणा बुद्धभक्तं महीपतिम् । विज्ञप्य सर्वं पुष्पादि श्रावकाणां न्यवारयन् ॥३३९॥
पुष्पापणेषु सर्वेषु बहुमूल्यप्रदा अपि । अर्हद्भक्तास्ततः पुष्पवृन्तान्यपि न लेभिरे ॥३४०॥
उपस्थिते पर्युषणापर्वण्यर्हदुपासकाः । ततो रुदन्तो दीनास्या वज्रर्षिमुपतस्थिरे ॥३४१॥
ते श्रावका नेत्रजलैः क्लेदयन्तो महीतलम् । नत्वा व्यजिज्ञपन्वज्रं खेदगद्गदया गिरा ॥३४२॥
अर्हच्चैत्येष्वहरहः पूजादि द्रष्टुमक्षमैः । बौद्धैर्वयं पराभूना भूतैरिव दुरात्मभिः ॥३४३॥
विज्ञप्तो बौद्धलोकेन बौद्धो राजा न्यवारयत् । पुष्पाणि ददतो ऽस्माकं मालिकानखिलानपि ॥३४४॥
लभामहे वयं नाथ ! नागस्तिकुसुमान्यपि । किं कुर्मो द्रव्यवन्तो ऽपि राजाज्ञां को ऽनिलङ्घते ॥३४५॥
तुलसीबर्बरीपूजापात्रतां ग्रामयक्षवत् । प्रयान्ति जिनबिम्बानि हहा किं जीवितेन नः ॥३४६॥
माऽर्हत्स्वारोपयन्त्वेते छद्मनेत्यभिशङ्कितैः । बौद्धैः पुष्पं निषिद्धं नः केशवासकृते ऽपि हि ॥३४७॥
किं चानिशं गणयतां स्वामिन्नस्माकमङ्गुलीः । आगात्पर्युषणापर्वदिनं दिनमतल्लिका‡ ॥३४८॥
पर्वण्यप्यागते ऽमुष्मिन्वयं यतिवदर्हताम् । भावपूजां करिष्यामः पुष्पसम्पत्तिवर्जिताः ॥३४९॥
पराभूय पराभूय बौद्धैर्दुर्बुद्धिभिर्वयम् । जीवन्मृता इव कृताः स्वामिनि त्वयि सत्यपि ॥३५०॥
जिनप्रवचनस्याभिभूतस्यास्य प्रभावनाम् । विधाय भगवन्नस्मान्सञ्जीवयितुमर्हसि ॥३५१॥

‡ सर्वदिवसश्रेष्ठम् ।

समाश्वसत हे श्राद्धा ! यतिष्ये वः सुतेजसे । इत्युक्त्वा भगवान्व्योमन्युत्पपात सुपर्णवत् ॥३५२॥
स्वामी निमेषमात्रेणाथागान्माहेश्वरीं पुरीम् । अवातारीदुपवने चैकस्मिन्विस्मयावहे ॥३५३॥
हुताशनाभिधानस्य देवस्योपवनं च तत् । यो ऽभूदारामिकस्तत्र मित्रं धनगिरेः स तु ॥३५४॥
अकस्मादागतं वज्रं निरीक्ष्यानभ्रवृष्टिवत् । आरामिकः प्रगे सद्यस्तडिताख्यो मुदाऽवदत् ॥३५५॥
तिथिस्तिथिषु धन्येयं यस्यां त्वमतिथिर्मम । आत्मानं चाधुना धन्यं मन्ये ऽहं यत्स्मृतस्त्वया ॥३५६॥
दिष्ट्या सुस्वप्नवदहं चित्तान्नापकृतस्त्वया । ममागास्त्वं यदतिथिः किमातिथ्यं करोमि ते ? ॥३५७॥
वज्रस्वाम्यप्यभिदधे मम ह्युद्यानपालक ! । पुष्पैः प्रयोजनं तानि प्रदातुं च त्वमीशिषे ॥३५८॥
मालाकारो ऽवदत्पुष्पादानेनानुगृहाण माम् । भवन्ति प्रत्यहं पुष्पलक्षा विंशतिरत्र हि ॥३५९॥
भगवानादिशत्तर्हि पुष्पाणि प्रगुणीकुरु । आगच्छाम इतो गत्वा यावदुद्यानरक्षक ! ॥३६०॥
एवमुक्त्वा पृषदश्वा† इवोत्पत्य विहायसा । अक्षुद्रः क्षुद्रहिमवद्गिरिं वज्रमुनिर्ययौ ॥३६१॥
गङ्गासिन्धुजलक्रीडाप्रसक्तसुरवारणम् । दशमामृतकुण्डाभपद्मह्रदमनोरमम् ॥३६२॥
सदावन्दारुदिविषत्सिद्धायतनमण्डितम् । गायत्किम्पुरुषीगीतानुचरैणकदम्बकम् ॥३६३॥
अनेकधातुमद्भूमिधृतसन्ध्याभ्रविभ्रमम् । भ्राम्यदुन्मत्तचमरीभम्भाभाङ्कारिगह्वरम् ॥३६४॥

---

† वायुः ।

नमेरुभूर्जतगरकिम्पाकाकुलमेखलम् । स तं हिमाद्रिमद्राक्षीद्व्योमस्थो ऽन्य इवार्यमा ॥३६५॥
(चतुर्भिः कलापकम्)

स शाश्वतार्हत्प्रतिमाः सिद्धायतनवर्तिनीः । ववन्दे वन्द्यमानाद्रिर्विद्याधरकुमारकैः ॥३६६॥

तरङ्गरङ्गशालास्थलास्यलासकपङ्कजम् । पद्मसौगन्ध्यवहनादिव मन्थरमारुतम् ॥३६७॥

सञ्चरन्नीरजमिव क्रीडदप्सरसां मुखैः । उन्निद्रपङ्कजरजोधिवाससुभगोदकम् ॥३६८॥

श्रीदेवीदेवतागारप्रगायदमरीजनम् । पद्महृदं जगामाथ वज्रर्षिर्व्योमवर्त्मना ॥३६९॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)

तदा च देवपूजार्थमवचित्यैकमम्बुजम् । श्रीदेव्या देवतागारं यान्त्या वज्रर्षिरैक्ष्यत ॥३७०॥

श्रीर्देवता ववन्दे तं दृष्टमात्रं मुनीश्वरम् । रत्नोष्णीषप्रभाम्भोमिः स्नपयन्तीव तत्क्रमौ ॥३७१॥

धर्मलाभाशिषं दत्त्वा तस्थिवांसं तु तं मुनिम् । बद्धाञ्जलिः श्रीरवददाज्ञापय करोमि किम् ॥३७२॥

जगाद वज्रो भगवानादिष्टमिदमेव ते । पाणिपद्मस्थितं पद्ममिदं पद्मे ममार्प्यताम् ॥३७३॥

स्वामिन्किमेतदादिष्टमिन्द्रोपवनजान्यपि । पुष्पाण्यानेतुमीशाऽस्मीत्युक्त्वा सा पद्ममार्पयत् ॥३७४॥

वन्दितश्च श्रिया वज्रः पुनरुत्पत्य सत्वरम् । पथा यथागतेनैव हुताशनवनं ययौ ॥३७५॥

विद्याशक्त्या च भगवान्विमानं व्यकरोदथ । पालकस्यानुजन्मेव बन्धुरं विविधर्द्धिभिः ॥३७६॥

---

१ °लालसप° C 2-3 ॥ २ °मार्पय C. 1 ॥

अस्थापयच्च तन्मध्ये श्रीदेव्यर्पितमम्बुजम् । विंशतिं पुष्पलक्षाणि तस्य पार्श्वेषु तु न्यधात् ॥३७७॥
स्मरति स्म तदा वज्रो भगवाञ्जृम्भकामरान् । ते वज्रं वज्रिणमिव तत्क्षणाच्चोपतस्थिरे ॥३७८॥
छत्रस्येवाम्बुजस्याधो धनगिर्यात्मभूर्मुनिः । निषद्य व्योमयानाय विमानवरमादिशत् ॥३७९॥
तस्मिन्विमाने चलिते जृम्भका अपि नाकिनः । चेलुर्विमानारूढास्ते गीतवाद्यादिपूर्वकम् ॥३८०॥
वैमानिकैर्विमानस्थैर्विमानस्थः समावृतः । पुरीं नाम पुरीं प्राप वज्रस्तां बौद्धदूषिताम् ॥३८१॥
तत्पुरीवासिनो बौद्धा विमानानि निरीक्ष्य खे । अभाषन्तैवमुत्पश्या उत्पुप्लूषोद्यता इव ॥३८२॥
सप्रभावमहो बौद्धदर्शनं प्रेक्ष्य नाकिनः । बुद्धपूजार्थमायान्ति श्रीबुद्धाय नमो नमः ॥३८३॥
तेषां च वदतामेवं वज्रो ऽर्हत्सदनं ययौ । विमानैर्दर्शयन्व्योम्नि गान्धर्वनगरश्रियम् ॥३८४॥
पुनर्बौद्धैरभिदधे मषीधौताननैरिव । अहो ! अर्हद्दर्शने ऽभूदियं दैवी प्रभावना ॥३८५॥
चिन्तितं ह्यन्यथाऽस्माभिरन्यथेदमुपस्थितम् । दृष्टिः प्रसारिताप्यस्थाद्वायुना नीतमञ्जनम् ॥३८६॥
ततः पर्यूषणापर्वण्यर्हदायतने ऽमरैः । महीयान्महिमाऽकारि भूस्पृशां यो न गोचरः ॥३८७॥

जृम्भकामरकृतां प्रभावना-
मर्हतो भगवतो निरीक्ष्य ताम् ।
बौद्धभावमपहाय पार्थिवः ।
सप्रजो ऽपि परमार्हतो ऽभवत् ॥३८८॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते
महाकाव्ये वज्रस्वामिजन्म--व्रत--प्रभाववर्णनो नाम द्वादशः सर्गः ॥



त्रयोदशः सर्गः



इतश्चौद्रायणनृपो जज्ञे दशपुरे पुरे । सोमदेवो ऽभवद्विप्रो रुद्रसोमा तु तत्प्रिया ॥१॥
ब्राह्मणी रुद्रसोमा सा बभूव परमार्हती । दयादिभिर्गुणैर्धर्मद्रुमबीजैरलङ्कृता ॥२॥
तयोरजनिषातां द्वौ तनयौ नयशालिनौ । नाम्नाऽऽर्यरक्षितो ज्यायान्कनीयान्फल्गुरक्षितः ॥३॥
तत्रार्यरक्षितो मौञ्जीबन्धनादप्यनन्तरम् । अधीयाय पितुरेव सकाशे यद्विवेद सः ॥४॥
ततो ऽनुज्ञाप्य पितरावध्येतुमधिकाधिकम् । पाटलीपुत्रनगरे प्रययावार्यरक्षितः ॥५॥
सो ऽङ्गानि वेदांश्चतुरो मीमांसान्यायविस्तरम् । पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्राध्यैष्ट विशिष्टधीः ॥६॥
चतुर्दशापि हि विद्यास्थानानि निजनामवत् । कृत्वा कण्ठगतान्यागात्पुरं दशपुरं पुनः ॥७॥
चतुर्वेदो ऽयमायातः पूज्य इत्यवनीभुजा । अधिरोह्य करिस्कन्धे स प्रावेश्यत पत्तने ॥८॥
विविधोपायनकरा लोका अपि तमभ्ययुः । राजभिः पूज्यते यो हि पूजनीयो न कस्य सः ॥९॥
गृहस्य बाह्यशालायामध्युवासार्यरक्षितः । कुटुम्बे दददानन्दमुपदामिव नूतनाम् ॥१०॥

तं ब्रह्मवर्चसधनं पूज्यमानं महीभुजा । दृष्ट्वा तद्बन्धवो गोत्रं पवित्रं मेनिरे निजम् ॥११॥
स्वजनैस्तद्गृहद्वारे रम्यमाबन्धि तोरणम् । चिरेष्टायाः समेष्यन्त्या लीलादोलोपमं श्रियः ॥१२॥
तद्गृहे तत्सुवासिन्यः स्वस्तिकान्स्वस्तिकारकान् । लिलिखुस्तद्गुणाख्यानप्रशस्त्यक्षरसन्निभान् ॥१३॥
बाह्यावासस्थितो ऽप्यार्यरक्षितो ऽल्पैर्दिनैरपि । श्रीमान्बभूव भूयोभिरागच्छद्भिरुपायनैः ॥१४॥
अन्यदा चिन्तयामास शुद्धधीरार्यरक्षितः । अहो प्रमादो नाद्यापि जननीमभिवादये ॥१५॥
भवन्ति पुत्ररूपेण बाह्याः प्राणा हि योषिताम् । तस्य प्रवासजं दुःखं तासामति हि दुःसहम् ॥१६॥
मत्प्रवासेन मन्माता भविष्यति कथं हि सा । निद्रायामपि या नित्यं मन्नामाक्षरवाग्मिनी ॥१७॥
इदमेव हि धीरत्वमहो मन्मातुरद्भुतम् । अपि देशान्तरे प्रैषीद्या मां मद्धितकाम्यया ॥१८॥
तद्गुणोपार्जनामूलां सम्पदं दर्शयन्निजाम् । आनन्दयामि स्वामम्बामुत्कण्ठाम्भस्तरङ्गिणीम् ॥१९॥
इत्यार्यरक्षितः सद्यो दिव्ये संवीय वाससी । कश्मीरजाङ्गरागेण संवर्मितवपुद्युतिः ॥२०॥
सुगन्धिसुमनोदामगर्भिताबद्धकुन्तलः । ग्रीवापाण्यंह्रिविन्यस्तकार्तस्वरविभूषणः ॥२१॥
कर्पूरफालिकामिश्रताम्बूललटभाननः‡ । विशदच्छत्रसश्रीकमौलिः स्वसदनं ययौ ॥२२॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)
स आदावेव विनयी मातुः पादानवन्दत । कण्ठावलम्बिसौवर्णशृङ्खलाश्लिष्टभूतलः ॥२३॥

‡ लटभं सुंदरम् ।

दीर्घायुरक्षयो भूयाः स्वागतं तव दारक ! । इत्युक्त्वा साऽवदत्प्रातिवेश्मिकीवापरं न हि ॥२४॥
स पुत्रप्रेमसंरम्भोचितसंलापलक्षणम् । प्रसादं पूर्ववन्मातुरपश्यन्निदमब्रवीत् ॥२५॥
अधीताशेषविद्यो ऽहं त्वत्पादान्द्रष्टुमागमम् । किं नालपसि मां भक्तिमर्यादामकराकरम् ? ॥२६॥
मम पूजां करोत्येष राजा राजगुरोरिव । महिमानमिमं सूनोर्दृष्ट्वा किं न हि हृष्यसि ? ॥२७॥
रुद्रसोमाऽवदद्भद्र ! किं विद्योपार्जनेन ते । हिंसोपदेशकं ह्येतदधीतं नरकप्रदम् ॥२८॥
दृष्ट्वा नरकपाताभिमुखं त्वां कुक्षिसम्भवम् । कथं हृष्यामि मग्नाऽस्मि खेदे गौरिव कर्दमे ॥२९॥
यदि त्वं मयि भक्तो ऽसि यदि मां मन्यसे हिताम् । दृष्टिवादं तदधीष्व हेतुं स्वर्गापवर्गयोः ॥३०॥
इत्यार्यरक्षितो दध्यौ किमधीतमिदं मया । न यन्मातुः प्रमोदाय तज्जया सम्पदाऽपि किम् ॥३१॥
विमृश्यैवमुवाचाम्बामार्यधीरार्यरक्षितः । दृष्टिवादं पठिष्यामि मातराख्याहि तद्गुरुम् ॥३२॥
रुद्रसोमाऽवदद्वत्स ! श्रमणोपासको भव । दृष्टिवादस्य गुरवः श्रमणा एव नापरे ॥३३॥
दृष्टिवादो हि दर्शनविचार इति शोभनम् । नामाप्यस्येति मनसि श्रद्दधावार्यरक्षितः ॥३४॥
ऊचे च मातुरादेशः प्रमाणं गुरवस्तु ते । क्व द्रष्टव्या दृष्टिवादं यथाऽधीये तदन्तिके ॥३५॥
रुद्रसोमाऽपि तनयविनयोच्छ्वसिता सती । श्रमयन्त्यश्वलं तस्य निजगाद प्रसादभाक् ॥३६॥
इदानीं हि न जिह्रेमि त्वयाऽहं तनुजन्मना । मदादेशमनुष्ठातुं यदकार्षीर्मनोरथम् ॥३७॥

सन्ति तोसलिपुत्राख्या आचार्या आर्यरक्षित ! । इतो ममैवेक्षुवाटे प्रतिपन्नप्रतिश्रयाः ॥३८॥
तत्पादपङ्कजोपास्तिहंसतामुररीकुरु । ते त्वामध्यापयिष्यन्ति दृष्टिवादं तनूद्भव ! ॥३९॥
एवं प्रातः करिष्यामीत्यभिधायार्यरक्षितः । दृष्टिवादाभिधां ध्यायन्नाशेत रजनावपि ॥४०॥
प्रातश्चचाल पृष्ट्वाम्बामार्यरक्षितकुम्भभूः । दृष्टिवादोदधिं प्राज्ञः पातुं गण्डूषलीलया ॥४१॥
पितृमित्रमितश्चार्यरक्षितस्य महाद्विजः । अभूदुपपुरग्रामे पितेवात्यन्तवत्सलः ॥४२॥
सो ऽचिन्तयन्मया हि ह्यो दृष्टो न ह्यार्यरक्षितः । आयुष्मन्तं तदद्यापि तं पश्यामि सुहृत्सुतम् ॥४३॥
इति द्विजाग्रणीरिक्षुयष्टीः स सकला नव । तत्खण्डं चैकमादायार्यरक्षितगृहं ययौ ॥४४॥
सोमदेवसुतं ज्येष्ठं निर्यान्तं च निकेतनात् । ददर्शोषद्विभातत्वात्तमुपालक्षयन्न च ॥४५॥
को नाम त्वमसीत्युच्चैः सो ऽपृच्छचार्यरक्षितम् । आर्यरक्षित एषो ऽस्मीत्यब्रवीच्चार्यरक्षितः ॥४६॥
द्विजो जगाद हे भ्रातुष्पुत्र! ह्यस्तनवासरे । कुटुम्बकृत्यकरणप्रमादान्नासि वीक्षितः ॥४७॥
एकेनापि गतेनाह्ना मन्ये गतमहःशतम् । यत्र त्वां नाहमद्राक्षं हृत्कैरवनिशाकरम् ॥४८॥
इत्यार्यरक्षितं प्रेम्णा द्विजन्मा परिरभ्य सः । अवोचदिक्षवो ह्येते मयाऽऽनीयन्त त्वत्कृते ॥४९॥
उवाच सोमभूरिक्षूंस्तात मन्मातुरर्पयेः । अहं शरीरचिन्तार्थं गच्छन्नस्मि बहिर्भुवि ॥५०॥

१ °पनरग्रा° C. 1-2. । °पपुरं ग्रा° M. ॥

इदं च मातुराख्याया यद् गच्छन्नार्यरक्षितः । अधुनेक्षुलतापाणिमद्राक्षीदादितो ऽपि माम् ॥५१॥
इत्यार्यरक्षितेनोक्तः स द्विजन्मा तथाऽकरोत् । आर्यरक्षितमाताऽपि सा दक्षैवमचिन्तयत् ॥५२॥
मम सूनोरिदं श्रेयोऽभूच्छकुनमतश्च सः । नव पूर्वाणि खण्डं च नूनमादास्यते सुधीः ॥५३॥
नवाहं दृष्टिवादस्य पूर्वाण्यध्ययनानि वा । दशमं खण्डमध्येष्ये दध्यौ यानिति सोमभूः ॥५४॥
गत्वा चेक्षुगृहद्वारे स्थिरधीरार्यरक्षितः अचिन्तयदविज्ञातः कथमन्तर्विशाम्यहम् ॥५५॥
राज्ञामिव गुरूणां हि सन्निधाने यतस्ततः । विदितो ऽपि नोपसर्पेदहं तु विदितो ऽपि न ॥५६॥
तदत्रैव क्षणं स्थित्वा वसत्यन्तर्विशाम्यहम् । प्रातर्वन्दनकायातश्रमणोपासकैः सह ॥५७॥
इत्यार्यरक्षितस्तस्थौ द्वारे ऽपि द्वारपालवत् । विदुषां रभसारम्भे विवेको ह्यर्गलायते ॥५८॥
मालवकैशिकीमुख्यग्रामरागपरिस्पृशा । स्वाध्यायेनापि साधूनां स ययौ लयमेणवत् ॥५९॥
तत्रागात् ढड्ढरो नाम श्रमणोपासकः प्रगे । वन्दनाय महर्षीणां हर्षेणोत्फुल्ललोचनः ॥६०॥
स त्रिर्नैषेधिकीं कुर्वन्प्रविवेश प्रतिश्रयम् । अथैर्यापथिकीं प्रत्यक्रामदुच्चैस्तरस्वरम् ॥६१॥
तदनन्तरमाचार्यान्साधूनपि यथाविधि । वन्दित्वा निषासादाग्रे विष्टरं प्रतिलिख्य सः ॥६२॥
अथाऽऽर्यरक्षितो धीमांस्तेन सार्धं प्रविश्य सः । वन्दनैर्यापथिक्यादि तस्माच्छ्रुतमधारयत् ॥६३॥
तद्दर्शितविधिं चाभिलयन्पठनपूर्वकम् । अवन्दताऽऽचार्यपादासन्नप्यायवर्रक्षितः ॥६४॥

ढड्ढरश्रावकं त्वार्यरक्षितो न ह्यवन्दत । सुधीरपि निराम्नायं कियद्विज्ञातुमीश्वरः ॥६५॥
निषण्णं सोमतनयं तमवन्दितढड्ढरम् । आचार्या विविदुः को ऽपि श्राद्धो ऽयं नूतनः खलु ॥६६॥
धर्मलाभाशिषं दत्त्वा शरदम्भोऽमलाशयाः । पृच्छन्ति स्म तमाचार्याः कुतो धर्मागमस्तव ॥६७॥
औरसो रुद्रसोमाया स जगाद यथातथम् । श्रमणोपासकादस्मादात्तधर्मो ऽस्मि नान्यतः ॥६८॥
ऊचिरे साधवो ऽप्येवं भगवन्नार्यरक्षितः । तनयो रुद्रसोमाया विद्वान्वेदाब्धिपारगः ॥६९॥
चतुर्दशविद्यास्थानोपाध्यायः पृथिवीभुजा । करिस्कन्धाधिरूढो ऽयं पत्तने ऽस्मिन्प्रवेशितः ॥७०॥
अयमाद्यगुणस्थानस्थितानां धुरि गण्यते । आश्चर्यं श्रावकाचारं परिस्पृशति किं ह्यदः ॥७१॥
अथाऽऽर्यरक्षितः स्माह श्रावको ऽस्मि हि सम्प्रति । किं नवो न भवेद्भावपरिणामः शरीरिणाम् ? ॥७२॥
इति विज्ञपयामास चाचार्यान्रचिताञ्जलिः । दृष्टिवादाध्यापनेन भगवंस्त्वं प्रसीद मे ॥७३॥
मया विवेकहीनेनोन्मत्तेनेव दुरात्मना । हिंसोपदेशकं सर्वमधीतं नरकावहम् ॥७४॥
आचार्या अपि तं शान्तं योग्यं ज्ञात्वैवमूचिरे । यदि त्वं दृष्टिवादाधिजिगांसुस्तत्परिव्रज ॥७५॥
किं चान्यदप्युपात्तायां प्रव्रज्यायां द्विजोत्तम ! । दृष्टिवादं क्रमेण त्वं विद्वन्नध्यापयिष्यसे ॥७६॥
सो ऽप्युवाच परिव्रज्यामिदानीमपि दत्त मे । मया न दुष्करा ह्येषा मन्मनोरथकामधुक् ॥७७॥
किं तु प्रसादं कुर्वाणैर्भगवद्भिर्निजे शिशौ । विहारक्रमजं कष्टमाहत्यान्यत्र गम्यताम् ॥७८॥

मामत्र स्थितवन्तं हि राजा पुरजनो ऽपि च। अत्यन्तमनुरागेण प्रव्रज्यां त्याजयेदपि ॥७९॥
आचार्या अपि तस्योपरोधेन सपरिच्छदाः। ययुरन्यत्र सो ऽप्यग्रे स्थितो याति स्म भृत्यवत् ॥८०॥
तीर्थे श्रीवर्धमानस्य तदानीमनगारिणाम्। शिष्यचौर्यव्यवहारः प्रथमो ऽयमवर्तत ॥८१॥
तदाऽऽर्यरक्षितं भट्टमाचार्या पर्यविव्रजन्। साक्षीकृतगुरुश्चाभूद्गीतार्थः सो ऽचिरादपि ॥८२॥
तप्यमानस्तपस्तीव्रं सहमानः परीषहान्। मातृकावदधीयाय सो ऽङ्गान्येकादशापि हि ॥८३॥
तेषामाचार्यमिश्राणां दृष्टिवादः परिस्फुटः। यावान्बभूव तावन्तमग्रहीदार्यरक्षितः ॥८४॥
तदा वृद्धजनोक्त्यैवमश्रौषीदार्यरक्षितः। यद् भूयान्दृष्टिवादो ऽस्ति वज्रर्षेः साम्प्रतं स्फुटम् ॥८५॥
अभूच्च समवसृतः पुर्यां वज्रमुनिस्तदा। इति प्रतस्थे तत्रैव गन्तुं सोमात्मजो मुनिः ॥८६॥
ययौ चोज्जयनीमध्ये भगवानार्यरक्षितः। भद्रगुप्ताभिधानानामाचार्याणां प्रतिश्रयम् ॥८७॥
गुणवन्तं तपोराशिं पूर्वावस्थाकुतीर्थिकम्। उपलक्ष्य तमाचार्याः परिषस्वजिरे मुदा ॥८८॥
उचुश्च वत्स ! धन्यो ऽसि कृतार्थो ऽसि सुधीरसि। विहाय यो हि ब्राह्मण्यं श्रामण्यं प्रत्यपद्यथाः ॥८९॥
अद्याहं क्षीणशेषायुःकर्मा त्वामर्थये ऽनघ !। कर्तुकामो ऽस्म्यनशनं मम निर्यामको भव ॥९०॥
तथेति प्रतिपेदानं रुद्रसोमात्मजं मुनिम्। विहितानशनो भद्रगुप्ताचार्यो ऽन्वशादिति ॥९१॥
मा वज्रस्वामिना सार्धं वसेरेकप्रतिश्रये। किं तु वत्स ! त्वमन्यस्मिन्नधीयीथाः कृतस्थितिः ॥९२॥

यो हि सोपक्रमायुष्को वज्रेण सह यामिनीम् । एकामपि वसेत्सो ऽनुम्रियते तं न संशयः ॥९३॥
एवं करिष्ये ऽहमिति प्रतिपद्यार्यरक्षितः । तेषां निर्यामणां कृत्वा पुरीं वज्राश्रितां ययौ ॥९४॥
नगर्या बहिरेवास्थात्तां निशामार्यरक्षितः । निशाशेषे स्वप्नममुं वज्रस्वामी ददर्श च ॥९५॥
यदद्य पयसा पूर्णः केनाप्यस्मत्पतद्ग्रहः । अपाय्यागन्तुना भूरि किंचिदस्थाच्च तत्पयः ॥९६॥
वज्रस्वामी महर्षीणां स्वप्नार्थं व्याकरोत्प्रगे । बहुपूर्वश्रुतग्राही को ऽप्येष्यति ममातिथिः ॥९७॥
स उपादास्यते ऽस्मत्तो बहुपूर्वश्रुतं सुधीः । पूर्वश्रुतावशेषं तु मत्पार्श्वे ऽपि रहिष्यति ॥९८॥
उपवज्रमुनि प्रातराययावार्यरक्षितः । ववन्दे द्वादशावर्तवन्दनेन च तं गुरुम् ॥९९॥
तं च पप्रच्छ वज्रर्षिः कुत आगाः स चावदत् । तोसलिपुत्राचार्याणां पादमूलादिहागमम् ॥१००॥
वज्रस्वाम्यब्रवीदार्यरक्षितस्त्वं किमाख्यया ? । सो ऽप्याख्यादेवमिति च पुनर्वन्दनपूर्वकम् ॥१०१॥
वज्रस्वाम्यपि तं ज्ञात्वा सप्रसादमदो ऽवदत् । स्वागतं तव कुत्र त्वं प्रतिश्रयमशिश्रियः ॥१०२॥
बहिरावासितो ऽस्मीति तेनोक्ते स्वाम्यदो ऽवदत् । महात्मन्किं न जानासि बहिःस्थो ऽध्येष्यसे कथम् ? ॥
सोमभूरभिधत्ते स्म स्वामिन्भिन्ने प्रतिश्रये । उदनारिषमाचार्यभद्रगुप्तानुशासनात् ॥१०४॥
उपयोगेन वज्रर्षिर्विदित्वैवमुवाच च । युक्तमेतद्धि पूज्यास्ते स्थविरा नाहुरन्यथा ॥१०५॥

१ ऽत्र न॑ C. 1 । तत्र C. 3 ॥

वज्रो ऽथ पृथगावासस्थितमप्यार्यरक्षितम् । अध्यापयितुमारेभे पूर्वाणि प्रतिवासरम् ॥१०६॥
अचिरेणापि कालेन सोमदेवभवो मुनिः । पूर्वाण्यपूर्वप्रतिभो नवाधीयाय लीलया ॥१०७॥
दशमं पूर्वमध्येतुं प्रवृत्तं चार्यरक्षितम् । दशमपूर्वयमकान्यधीष्वेत्यादिशद् गुरुः ॥१०८॥
ततो दशमपूर्वस्य बहूनि विषमाणि च । अध्येतुं यमकान्यार्यरक्षितर्षिः प्रचक्रमे ॥१०९॥

इतश्च सन्दिदिशतुः पितरावार्यरक्षितम् । नागच्छसि किमद्यापि विस्मृतास्तव किं वयम् ? ॥११०॥
त्वं नः करिष्यस्युद्योतमिति ह्याशामकृष्महि । तवानागमने सर्वं पश्यामस्तु तमोमयम् ॥१११॥
एवमाहूयमानो ऽपि सन्देशवचनैस्तयोः । यावदध्ययनासक्तो ववले नार्यरक्षितः ॥११२॥
तावत्ताभ्यां तमाह्वातुमनोभ्यां फल्गुरक्षितः । प्राणप्रियोऽनुजस्तस्य प्रैषि निर्बन्धशिक्षया ।११३। (युग्मम्)
द्रुतं गत्वा च नत्वा च सो ऽवादीदार्यरक्षितम् । किमेवं कठिनो ऽभूस्त्वमनुत्कण्ठः कुटुम्बके ॥११४॥
वैराग्यपर्शुना च्छिन्नं यद्यपि प्रेमबन्धनम् । तथापि तव कारुण्यमस्ति स्वस्तिनिबन्धनम् ॥११५॥
शोकपङ्कनिमग्नो ऽस्ति बन्धुवर्गश्च साम्प्रतम् । तदागत्य तमुद्धर्तुं भगवंस्तव साम्प्रतम्* ॥११६॥
इति तेनानुजेनोक्तो गन्तुं तत्रार्यरक्षितः । श्रीवज्रस्वामिनं नत्वा प्रपच्छ स्वच्छमानसः ॥११७॥
अधीष्वेति ततस्तेन प्रत्युक्तः स पुनः पठन् । किं ते ऽस्मि विस्मृतः फल्गुरक्षितेनेत्यजल्प्यत ॥११८॥

* युक्तम् ।

बान्धवाश्च परिव्रज्यामनोरथरथस्थिताः । न कुत्रापि प्रवर्तन्ते त्वया सारथिना विना ॥११९॥
तदेहि देहि प्रव्रज्यां जगत्पूज्यां स्वगोत्रिणाम् । श्रेयस्यपि सकर्णो ऽपि किमद्यापि प्रमाद्यसि ? ॥१२०॥
अथार्यरक्षितः स्माह यदि सत्यमिदं वचः । ततस्त्वं तावदादत्स्व वत्स ! सत्त्वहितं व्रतम् ॥१२१॥
एवमुक्तस्ततस्तेन श्रद्धा॰निर्धूतमानसः । सो ऽवददेहि को हि स्यात्पीयूषस्य पराङ्मुखः ॥१२२॥
अथार्यरक्षितः प्रीतस्तस्यामृतकिरा गिरा । स्वयं तमनुजग्राह दीक्षया शिक्षयाऽपि च ॥१२३॥
यातुमुक्तो ऽन्यदा फल्गुरक्षितेनार्यरक्षितः । अधीताशेषयमको गन्तुमूचे पुनर्गुरुम् ॥१२४॥
प्राग्वन्निवारितस्तेन स खेदादित्यचिन्तयत् । स्वजनाह्वानगुर्वाज्ञासङ्कटे पतितो ऽस्मि हा ॥१२५॥
अधीयानः पुनः प्राग्वद्यमकेभ्यः पराजितः । कृताञ्जलिपुटो भूत्वा गुरून्नत्वा च सो ऽब्रवीत् ॥१२६॥
दशमस्यास्य पूर्वस्य मयाधीतं कियत्प्रभो ? । अवशिष्टं कियच्चेति सप्रसादं समादिश ॥१२७॥
जगाद गुरुरप्येवं स्मितविच्छुरिताधरः । बिन्दुमात्रं त्वयाऽधीतमब्धितुल्यं तु शिष्यते ॥१२८॥
इति श्रुत्वा गुरोर्वाचमूचिवानार्यरक्षितः । परिश्रान्तो ऽहमध्येतुं †प्रभुर्नातः परं प्रभो ! ॥१२९॥
शेषमप्यचिरेणापि त्वमागमयसि श्रुतम् । धीमन्नधीष्व धीरो ऽसि किमकाण्डे विषीदसि ? ॥१३०॥

१ °निर्धौत° C 2-M॥

† समर्थः ।

एवमाश्वासितस्तेन गुरुणा करुणावता। पुनः प्रवृत्तः सोऽध्येतुं भग्नोत्साहो ऽपि भक्तिभाक् (युग्मम्)
फल्गुरक्षितमन्येद्युर्मूर्तिमद्बन्धुवाचिकम्। दर्शयन्नुत्सुको गन्तुं श्रीवज्रं स पुनर्जगौ ॥१३२॥
अयमुत्साह्यमानो ऽपि हन्त गन्तुमनाः कथम्?। एवं विचिन्तयन्वज्रस्वाम्यभूदुपयोगभाक् ॥१३३॥
सो ऽथामंस्तेत्यतो यातो नायमायास्यति ध्रुवम्। स्तोकं ममायुर्मय्येव पूर्वं च दशमं स्थितम् ॥१३४॥
अनुज्ञातस्ततस्तेन गमनायार्यरक्षितः। सफल्गुरक्षितः शीघ्रं पुरं दशपुरं ययौ ॥१३५॥
तत्रायातं च तं ज्ञात्वा सपौरः पृथिवीपतिः। सरुद्रसोमः सोमश्च भक्त्या वन्दितुमाययौ ॥१३६॥
प्रमोदाश्रुपयःपूर्णलोचनास्ते च तं मुनिम्। मूर्तं धर्ममिवानम्य यथास्थानमुपाविशन् ॥१३७॥
विदित्वा धर्मशुश्रूषां तेषां कारुण्यवारिधिः। देशनां विदधे सो ऽपि मेघगम्भीरया गिरा ॥१३८॥
श्रोत्रपत्रपुटीपीनदेशनाऽत्यच्छवारिभिः। तत्कालं क्षालयन्ति स्म विस्मितास्ते मनोमलम् ॥१३९॥
अथार्यरक्षितस्यान्ते नृपः सम्यक्त्वमग्रहीत्। ततः सपौरस्तं नत्वा ययौ निजनिकेतनम् ॥१४०॥
ससोमा रुद्रसोमाऽपि बन्धुभिर्बहुभिः समम्। संसारचारकावासविरक्ता व्रतमाददे ॥१४१॥

इतश्च विहरन्वज्रस्वामी क्षोणितले क्रमात्। संयमः क्रमचारीव प्रययौ दक्षिणापथम् ॥१४२॥
तमानन्दमहाकन्दकन्दलोद्भेदवारिदम्। संवीक्ष्य दाक्षिणात्यो ऽभूल्लोकः केकीव हर्षभाक् ॥१४३॥
द्योतयन्वस्तुतत्त्वानि मुनिः किमयमर्यमा। यच्छंश्चक्षुश्चकोराणां प्रीतिं किमुत चन्द्रमाः ॥१४४॥

किमस्मत्कर्ममाहात्म्याद्धर्मो वा दत्तदर्शनः । एवं तद्वीक्षणानन्दनिमग्ना जगदुर्जनाः ॥१४५॥ (युग्मम्)
श्रीवज्रस्वामिनो ऽन्येद्युः श्लेष्मबाधाऽभवद् भृशम् । ततः शुण्ठीं समानेतुं स साधुं कंचनाभ्यधात् ॥१४६॥
साधुनाऽनीय दत्तां च शुण्ठीमशठचेतसा । भुक्त्वैनां भक्षयिष्यामीत्यतः कर्णे न्यधत्त सः ॥१४७॥
भोजनान्ते स कर्णान्तर्वर्तिनीं व्रतिनां पतिः । स्वाध्यायध्यानविवशो विसस्मार तथैव ताम् ॥१४८॥
ततः प्रदोषे सा तस्य प्रतिक्रमणकर्मणि । मुखवस्त्रिकया कायं प्रत्युपेक्षयतो ऽपतत् ॥१४९॥
पतितां तां च खाट्कृत्यास्मरद्वज्रो मुनीशिता । हा हा धिग्धिक् प्रमादोऽयं ममेति स्वं निनिन्द च ॥१५०॥
प्रमादे संयमो न स्यान्निष्कलङ्कः कथंचन । तं विना मानुषं जन्म जीवितं च निरर्थकम् ॥१५१॥
कुर्मस्ततो वपुस्त्यागं वज्रस्वामीत्यचिन्तयत् । अजायत समन्ताच्च दुर्भिक्षं द्वादशाब्दकम् ॥१५२॥
लक्षमूल्यौदनाद्भिक्षां यत्राह्नि त्वमवाप्नुयाः । सुभिक्षमवबुध्येथास्तदुत्तरदिनोषसि ॥१५३॥
एवमादि समादिश्य स्वशिष्यं श्रुतपारगम् । वज्रसेनमुनिं स्माह विहर्तुमथ सो ऽन्यतः ॥१५४॥ (युग्मम्)
ग्रामाकरपुरारण्यवतीं वसुमतीं ततः । विहर्तुं वज्रसेनो ऽपि प्रावृतन्मुनिपुङ्गवः ॥१५५॥
श्रीवज्रस्वामिनः पार्श्ववर्तिनो व्रतिनः पुनः । लभन्ते न क्वचिद्भिक्षां भ्राम्यन्तो ऽपि गृहे गृहे ॥१५६॥
विना भिक्षां क्षुधाक्षामकुक्षयो ऽनन्यवृत्तयः । ते ऽन्वहं गुरुभिर्दत्तं विद्यापिण्डमभुञ्जत ॥१५७॥
द्वादशाब्दानि भोक्तव्यः पिण्डो ऽयं वस्ततो यदि । संयमस्य न बाधाऽस्ति तमाहृत्य ददाम्यहम् ॥१५८॥

नो वा तदा सहान्नेन तनोस्त्यागं विदध्महे । इत्युक्त्वा गुरुभिर्धर्ममतयो यतयो ऽभ्यधुः ॥१५९॥ (युग्मम्)
धिक् पोषणमिमं पिण्डं पिण्डं पोष्यमिमं च धिक् । प्रभो ! प्रसीद येनैतत्त्यजामो द्वितयं वयम् १६०॥
अथादाय मुनीन्सर्वाञ्श्रीवज्रो भुवनार्यमा । गिरिं प्रत्यचलल्लोकान्तरं द्योतयितुं जवी ॥१६१॥
तत्रैकः क्षुल्लको नास्थाद्वार्यमाणो यदा तदा । क्वापि प्रतार्य तं ग्रामे समारोहद् गुरुर्गिरिम् ॥१६२॥
मा भूद् गुरूणामप्रीतिर्मनसीति विचिन्तयन् । त्यक्त्वा भक्तं च देहं च क्षुल्लको ऽस्थाद्गिरेरधः ॥१६३॥
मध्याह्नतपनात्युष्णरोचिस्तप्ते शिलातले । पिण्डवन्नवनीतस्य विलीनश्च क्षणादपि ॥१६४॥ (युग्मम्)
शुभध्यानगतस्त्यक्त्वा तनुं योगीव शक्तिभाक् । अन्तर्देवालयं चक्रे तन्वन्तरपरिग्रहम् ॥१६५॥
तस्मिन्देवाङ्गनासङ्गसुखमग्ने लसन्मुदः । त्रिदशाः पूजयामासुराशु तस्य कलेवरम् ॥१६६॥
श्रीवज्रं यतयो ऽप्यूचुः प्रेक्ष्यावतरतः सुरान् । किमत्रावतरन्त्येते ? देवाः सर्वर्द्धयः प्रभो ! ॥१६७॥
सो ऽप्यूचे क्षुल्लकः कार्यमिदानीं स्वमसाधयत् । महिमानं ततस्तस्य सुपर्वाणः प्रकुर्वते ॥१६८॥
श्रुत्वैवं मुनयो दध्युः शिशुनाऽप्यमुना यदि । स्वकार्यं साधितं वृद्धाः साधयामस्ततो न किम् ॥१६९॥
इति संवेगिनः साधूंश्चारित्रज्ञानयोगिनः । श्रावकीभूय तत्रैवं मिथ्यादृग्देवता ऽवदत् ॥१७०॥
पारणं भवतामद्य भगवन्तः ! प्रसीदत । गृह्णीत शर्कराक्षोदमोदकं पानकं च नः ॥१७१॥
अवग्रहो ऽयं नैतस्याः प्रीतिहेतुस्ततो ऽन्यतः । यामो ध्यात्वेति ते जग्मुस्तदासन्नं नगान्तरम् ॥१७२॥

कृत्वा मनसि तत्रत्यदेवतां साधवो व्यधुः । कायोत्सर्ग समागत्य नत्वा तानित्युवाच सा ॥१७३॥
अनुग्रहो ऽसावस्माकमिह यूयं यदागताः । न जातु जायते कल्पतरुर्मरुषु कर्हिचित् ॥१७४॥
त एवं तद्‌गिरा प्रीताः श्रीवज्रस्वामिना समम् । कृतानशनकर्माणः सत्कर्माणो ययुर्दिवम् ॥१७५॥
मत्वैतद् §गोत्रभिद् गोत्रं* तमागत्य रथस्थितः । प्रमोदात्पूजयामास वज्रादीनां वपूंष्यथ ॥१७६॥
शक्रः प्रदक्षिणीचक्रे तं गिरिं सरथस्तदा । वृक्षादीन्नमयन्नुच्चैः स्वदेहमिव भक्तितः ॥१७७॥
विनम्रा एव ते ऽद्यापि विद्यन्ते तत्र पर्वते । ततस्याभिधा जज्ञे रथावर्त इति क्षितौ ॥१७८॥
दुःकर्मावनिभृद्वज्रे श्रीवज्रे स्वर्गमीयुषि । विच्छिन्नं दशमं पूर्वं तुर्य संहननं तदा ॥१७९॥

इतश्च शिष्यो वज्रर्षेर्वज्रसेनः परिभ्रमन् । पुरं श्रीभिरसम्प्राप्तपारं सोपारमीयिवान् ॥१८०॥
यथार्थनामा तत्रासीज्जितशत्रुर्महीपतिः । प्रिया च धारिणी तस्य समग्रगुणधारिणी ॥१८१॥
आसीच्च श्रावकस्तत्र जिनदत्ताभिधो धनी । तस्येश्वरीति विख्याता दयितोमापतेरिव ॥१८२॥
सुधांशुधामधवलं सा शीलं तदशीलयत् । तस्या विश्वम्भरायाश्च यद्बभूव विभूषणम् ॥१८३॥
दुर्भिक्षदोषान्निःशेषं तदा च क्षितिमण्डलम् । जज्ञे धान्यैर्विनाम्भोभिर्मीनवद् दुःखसंकुलम् ॥१८४॥
धर्मप्रधाना सा बन्धून्निजानेवमथाभ्यधात् । जीविताः स्मः सुखं तावदद्य यावदमी वयम् ॥१८५॥

§ इन्द्रः । * पर्वतम् ।

विना धान्यक्रयाद् दुःखं जीविता स्मः [1]कियच्चिरम् । तद्वरं सविषं भोज्यमुपभुज्य समाहिताः ॥१८६॥
स्मृतपञ्चनमस्काराः कृतानशनवृत्तयः । दुःखगेहस्य देहस्य सद्यस्त्यागं विदध्महे ॥१८७॥ (युग्मम्)
अथेत्थं बन्धवो ऽवोचन्नस्त्वेवं हन्त साम्प्रतम् । गच्छतो ऽस्य शरीरस्य प्राप्तकालं फलं ह्यदः ॥१८८॥
पक्त्वऽथान्नं लक्षमूल्यं सा यावन्नाक्षिपद्विषम् । वज्रसेनमुनिस्तावत्तज्जीवातुरिवागमत् ॥१८९॥
तमालोक्य मुनिं साऽपि हर्षादेवं व्यचिन्तयत् । चित्तं वित्तं च पात्रं च दिष्ट्या पूर्णमिदं त्रयम् ॥१९०॥
दत्त्वा तदद्य पात्राय श्लाघ्यं जन्म करोम्यदः । कदाचिद्दैवयोगेन यदीदृक्पात्रसङ्गमः ॥१९१॥
हृष्टाऽथ तस्मै विस्मेरचक्षुर्भिक्षामदत्त सा । लक्षमूल्यस्य पाकस्य वृत्तान्तं च न्यवेदयत् ॥१९२॥
अथाऽऽख्यद्वज्रसेनो ऽपि मा स्मैवं प्रतिपद्यथाः । भद्रे ! सुभिक्षं यत्प्रातर्भविष्यति न संशयः ॥१९३॥
साऽपृच्छद् भवताऽज्ञायि स्वयमेतदुतान्यतः । अथोचे सो ऽप्यदो ऽम्भोदगर्जितोर्जितया गिरा ॥१९४॥
श्रीवज्रस्वामिनाऽस्म्युक्तो यदा भिक्षां त्वमाप्नुयाः । लक्षपाकौदनां प्रातः सुभिक्षं भविता तदा ॥१९५॥
इति श्रोत्रामृतं श्रुत्वा तद्दिनं क्षणमात्रवत् । श्राविका सा सुदुर्भिक्षं क्षपयामास लीलया ॥१९६॥
प्रभाते च प्रभाजालैश्चण्डांशोरिव मण्डलम् । वहित्रचक्रमापूर्णं धान्यैर्दूरादथागमत् ॥१९७॥
जनः स्वच्छमनाः सा च ततः सद्यो ऽप्यजायत । कालं कंचन तत्रैव वज्रसेनो ऽप्यवस्थितः ॥१९८॥

१ °क्रियादु° C 1 । °त्रयाद्दुः° C. 2 ॥ २ इय° C. 3 ॥

जिनदत्तः सहेश्वर्या सूनुभिर्बन्धुभिस्ततः । अर्चाञ्चक्रे जिनार्चानामर्थिभ्यो ऽर्थमदत्त च ॥१९९॥
महोत्सवेन ते ऽन्येद्युर्जगृहुः शान्तचेतसः । वज्रसेनमुनेः पार्श्वे लोकद्वयहितं व्रतम् ॥२००॥
एवं शिष्यप्रशिष्यादिशाखाभिर्वटवृक्षवत् । श्रीवज्रस्वामिनो वंशः प्रसरन्व्यानशे दिशः ॥२०१॥
साधुपत्रः सुपर्वाढ्यो मुक्तावासनिबन्धनम् । श्रीमद्वज्रमुनेर्वंशः कस्य नासीन्मनीषितः ॥२०२॥
ये केचिन्नयनातिथित्वमगमन्ये वा श्रुतेर्गोचरं वंशास्तेषु तनुत्वमग्रमभजन्मूलं पुनः स्थूलताम् ।
नव्योऽसौ दशपूर्विणो मुनिपतेः श्रीवज्रसूरेर्गुरो--र्वंशो यः प्रथमं दधाति तनुतां स्फातिं पुरस्तात्पुनः ॥२०३॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचिते परिशिष्टपर्वणि स्थविरावलीचरिते महाकाव्ये आर्यरक्षितव्रतग्रहण–पूर्वाधिगम–वज्रस्वामिस्वर्गगमन–तद्वंशविस्तारवर्णनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥

जम्बूमुनिप्रभृतिवज्रगणाधिनाथ–पर्यन्तसाधुजनचित्र[2] विचित्रपुष्पैः
स्रग्दाम गुम्फितमिदं परिशिष्टपर्व शिष्टात्मनां लुठतु कण्ठतटावनीषु ॥[1]

॥ समाप्तो ऽयं ग्रन्थः[3] ॥

१ नास्ति अय C 2-3 प्रतौ । २ °चरित्र° M ॥ ३ ग्रथाग्रं ३४६० श्रीः ॥ C 1 ॥

शुद्धिपत्रकम्

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२	५	प्रश्नव	प्रैश्नव
२	८	मीर्यति	मीथूति
४	१	ममवसरण	समवसरणे
९	१	जिहूमि	जिह्रेमि
१०	६	तमभकम्	तमर्भकम्
११	८	नैंष	नैंप
१२	२	ऽस्पश°	स्पर्शै°
१४	१	°याश्नके	°याञ्चके
२२	७	°माद्यशिष्या°	°माद्यनुशिष्या°
३१	१०	द्विवः	द्विपः
३३	५	पाम्र	पात्रे
३३	७	तुद°	तुदं°
३४	१०	व्रुभुजे	बुभुजे
४३	४	°चूण्यव	°चूर्ण्यैव
४३	१२	क्रमण	क्रमेण
४५	४	°न्तर	°न्तरे
४५	९	सुधम°	सुधर्म°
४५	१०	तावत्त्व	तावत्त्वं
४५	१३	ऽनयव	ऽनयैव
४७	८	पितृणा	पित्रेणा
४७	१४	°ज्जालपन्ति	°ज्जल्पन्ति
,,	,,	,,	,,
४८	१३	सूनो	सूनोश्च
५०	१२	भरेत	भरते

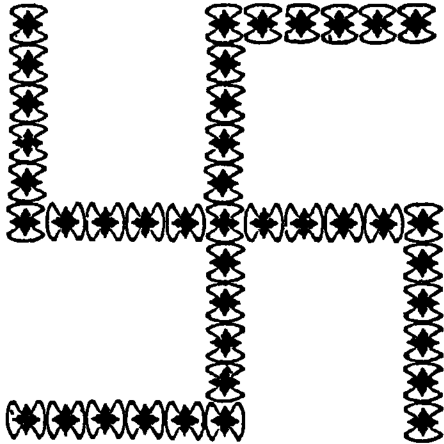
पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५१	२	वंर्स्म	वंर्त्म
५३	११	कप°	कूप°
५४	४	गजन	गजेन
५४	४	डियरे	ड्डिडियरे
५४	८	सुख	सुखं
५६	८	घुठय	घुठ्य
५७	१३	कुवरदत्ता	कुबेरदत्ता
५९	२	उच	उच्चे
६१	१३	न्पितन्	न्पितॄन्
७०	९	°यत°	°संयत°
७१	४	मुंज्झ	मुज्झ
७५	१	पृष्ठ	पृष्ठे
७७	१०	घमा	घर्मौ
८०	६	साय	°सायं
८६	१२	नच्छृत्वा	तच्छुत्वा
८९	१	साध्रत°	साधित°
९१	७	यदय	यदयं
९१	१०	दृष्टवै	दृष्टवै
९२	१०	ऽप्क्षैसी°	ऽक्षैप्सी°
९८	७	कादित्रिः	कादिभिः
१०३	१२	ऽहचै°	ऽहँचै°
१०५	७	यावत्त	यावत्तं
१०६	९	मन्त्यत°	मत्यन्त°
१०७	७	मत्सिं	मत्सि
१०७	८	सुखेछया	सुखेच्छया
११०	७	धीनिधे	धीनिधे
१११	१२	भूशयनाछये	भूशयनाच्छये
१२७	१२	धर्मा	धर्मौ
१२७	१४	वयमेव	वयमेवं
१२८	९	सन्तोषाभाग्	सन्तोषभाग्
१३४	६	सघेन	सङ्घेन
१३७	१३	कर्मैकं	कर्मैकं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१३९	५	वाकपाश	वाक्पाश
१४५	१२	त्वकम्पत	ह्यकम्पत
१५०	३	कर्मैतद्	कर्मैतद्
१५५	६	पिलस्य	कपिलस्य
१५६	१०	वाकच्छ	वाक्च्छ
१७३	२	प्रानश्चित्त	प्रायश्चित्त
१७३	१३	सिहर्पा	सिहसर्पा
१७५	११	दुष्करम्	दुष्करदुष्करम्
१८२	१२	प्वेधी	न्यधी
१८६	१	ग्राम	ग्रामं
१८६	५	चितन्तयद्	चिन्तयद्
१८६	१२	भिक्षाथ	भिक्षार्थं
१८८	२	सर्व	सर्वं
१८८	४	धूत॰	धूर्तं॰
१९६	१०	चाणक्ये	चाणक्य
२१२	२	पप्रण्छ	पप्रच्छ

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२१२	४	दध्यो	दध्यौ
२१२	१०	दारिद्ध्र	दारिद्र्य
२१९	३	चैत्रयात्रा	चैत्ययात्रा,
२१९	४	चैत्रयात्रायां	चैत्ययात्रायां
२२२	१०	ऽयं॰	ऽऽयं॰
२२४	१२	बाढ	बाढं
२२६	११	नैऋत्यां	नैर्ऋत्यां
२२७	४	॰समद्॰	॰समुद्॰
२२९	३	॰म्यो	॰भ्यो
२३३	३	विघ्नः	न विघ्नः
२३३	१४	॰प्येसौ	॰प्यसौ
२४०	८	॰पूर्व॰	॰त्पूर्व॰
२४१	५	यद्दते	यद्दत्ते
२४१	१०	ह्रि	ह्री
२४२	५	॰कापुर्श्च	॰कार्षुश्च
२६३	११	जैषे॰	नैषे॰

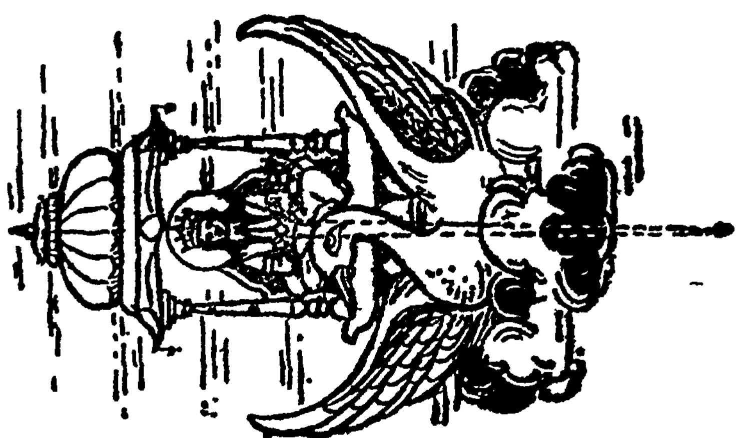
पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६३	१२	°षासा°	°षसा°	२७२	६	ततस्या°	ततस्तस्या°
२६३	१४	°सग्रेन°	नूसाधून°	२७३	४	पकत्व°	पकत्वा°
२६३	१४	°प्यायर्व°	°ष्यार्य°				

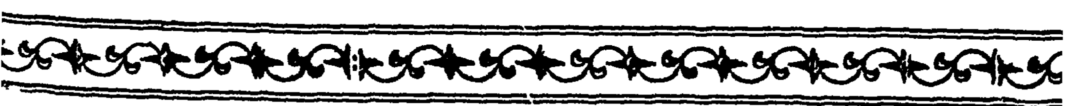












समाप्तमिदं श्री परिशिष्टपर्व महाकाव्यम्